आध्यात्मिक जीवन पद्यावली की कतिपय आवश्यक संज्ञाओं का विशद विवरण

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वीतराग
स्वामी श्री दयानन्द गिरि जी महाराज
द्वारा प्रणीत

श्री अनन्त प्रेम मन्दिर
श्री जीवन मुक्त ट्रस्ट, अम्बाला शहर
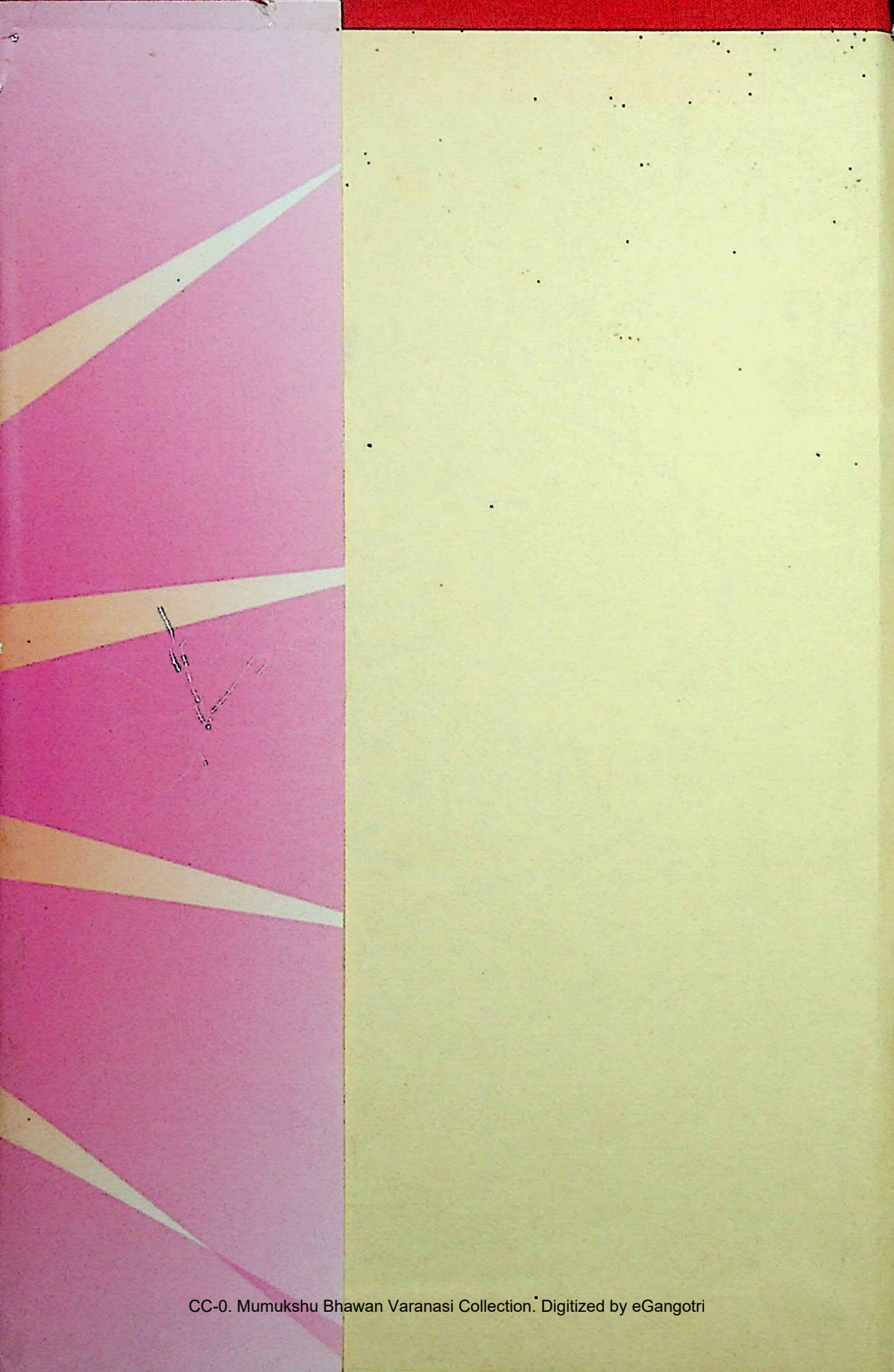
द्वारा प्रकाशित

आध्यात्मिक जीवन पद्यावली की कतिपय आवश्यक संज्ञाओं का विशद विवरण

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वीतराग
स्वामी श्री दयानन्द गिरि जी महाराज
द्वारा प्रणीत

प्रकाशक :
श्री अनन्त प्रेम मन्दिर
श्री जीवन मुक्त ट्रस्ट, अम्बाला शहर।

मूल्य श्रद्धा-भावपूर्वक अध्ययन एवं मनन

निःशुल्क वितराणार्थ

(Distribution without any price)

प्रवर्धित तथा संशोधित चतुर्थ संस्करण : 2003, 2200 प्रतियां

卐ॐ卐

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःख भाग्भवेत्।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

1. श्री अनन्त प्रेम मन्दिर
श्री जीवन मुक्त ट्रस्ट
नदी मुहल्ला, अम्बाला शहर–134 003 (हरियाणा)
दूरभाष : 0171-2510545, 2510009

2. ज्ञान चन्द गर्ग
99, प्रीत नगर, अम्बाला शहर–134 003 (हरियाणा)
दूरभाष : 0171-2552761

3. सन्त निवास
उजड़ गांव, विरक्त कुटी, रामा विहार के सामने,
कराला गाँव, दिल्ली–110081

मुद्रणालय :
लक्ष्मी प्रिंटिंग प्रैस
दिल्ली–6

卐卐

विषय–सूची

卐卐

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

卐卐

परमहंस वीतराग स्वामी श्री दयानन्द गिरि जी महाराज

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

卐 भूमिका 卐

धन्य है ! धन्य है! यह भारत भूमि जिसमें समय समय पर वीतराग जीवन मुक्त महापुरुषों का जन्म होता आया है, जो ज्योति स्तम्भ बन कर जिज्ञासुओं का तथा साधकों का पथ प्रदर्शन करते रहे, उन दिव्य विभूतियों में हमारे **पूज्यपाद प्रातः स्मरणीय श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वीतराग अनन्त श्री स्वामी दयानन्द गिरि जी महाराज** हैं। जो भी भगवान् संसार में समय समय पर प्रकट हुए, उनके जीवन को पूज्य श्री महाराज जी ने ध्यान में समझकर स्वयं उस पर चलकर वही भगवान् में बसने वाली शान्ति और सुख को पाया है; जो उनकी वाणी है वही उनका जीवन भी है।

काफी लम्बे समय से श्रद्धालु भक्तजन परम पूज्य श्री स्वामी जी के मुखारविन्द से आध्यात्मिक प्रश्नों का हल तथा आध्यात्मिक प्रवचन सुनते आ रहे थे परन्तु उसका कोई भी पक्का रिकार्ड नहीं था। अतः १९८३ में इस दिशा में शुभारम्भ हुआ जबकि परम पूज्य श्री स्वामी जी ने साधकों एवं भक्तों पर अत्यंत कृपा करके ''आध्यात्मिक जीवन पद्यावली'' नामक ग्रंथ छपवाने की अनुमति प्रदान की। उसके बाद इसी ग्रंथ का प्रवर्धित तथा संशोधित द्वितीय संस्करण १९९१ में छपवाया गया। परम प्रभु की ऐसी ही कृपा दृष्टि के परिणाम स्वरूप आज यही ग्रंथ **''आध्यात्मिक जीवन पद्यावली (व्याख्या सहित)''** मोटे अक्षरों में दो भागों में साधकों के सम्मुख उपलब्ध

है। यह ग्रंथ परम पूज्य श्री स्वामी जी की मौलिक संरचना है तथा उन्होंने स्वयं अपने श्री कर कमलों से लिखा है। इस ग्रंथ में प्राकृतिक जीवन के विपरीत आध्यात्मिक जीवन को पूर्ण विकल्प रूप में ३२५ छन्दों में दर्शाया गया है तथा पुरातन ऋषियों के ढंग के अनुसार आध्यात्मिक जीवन की व्याख्या बड़ी सरल एवं सुचारु रीति से व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध रूप में की गई है। यह ग्रंथ आध्यात्मिक जीवन में पदार्पण करने वाले साधकों के लिए पूर्ण रूप से मार्ग दर्शक सिद्ध होगा।

आध्यात्मिक जीवन पद्यावली ग्रंथ के अतिरिक्त परम पूज्य श्री स्वामी जी के प्रवचनों को भी पुस्तक रूप में प्रकाशित किया जा चुका है। **''आध्यात्मिक प्रवचन संग्रह''** नामक ग्रंथ दो भागों में प्रकाशित किया गया है। ये प्रवचन बड़े व्यवस्थित रूप से उपयुक्त उदाहरणों सहित दर्शन शास्त्र की गम्भीर से गम्भीर उक्तियों को साधारण से साधारण जन को सरल एवं क्रियात्मक ढंग से समझने में काफी सहायता करते हैं। इन प्रवचनों में यद्यपि आध्यात्मिक जीवन पद्यावली ग्रंथ में आने वाली विभिन्न संज्ञाओं को काफी विस्तृत रूप में विवेचित किया गया है। परन्तु फिर भी श्रद्धालु भक्त जनों के बार बार आग्रह करने पर **''आध्यात्मिक जीवन पद्यावली की कतिपय आवश्यक संज्ञाओं का विशद विवरण''** नामक ग्रंथ को चतुर्थ संस्करण के रूप में पुनः प्रकाशित किया जा रहा है। यह ग्रंथ सर्वप्रथम १९८६ में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रंथ के निर्माण का मुख्य उद्देश्य यह था कि साधक

आध्यात्मिक जीवन को विकसित करने के लिए साधन में काम आने वाली संज्ञाओं (नामों) के अर्थ अच्छी तरह समझ ले तथा उनके अर्थों की भावना भी अपने अंतःकरण में बैठा ले ताकि अवसर पड़ने पर, पुनः प्रकृति के भड़कावों व जोशों की अवस्थाओं में उन्हीं के प्रवाह में बहता हुआ जो अपना मन है उसको पहचान सके और सम्भाल सके। इन संज्ञाओं के नामों को देखने से तो ऐसा मालूम होता है कि ये बड़े परिचित (जाने पहचाने) शब्द हैं परन्तु क्रियात्मक ढंग से इनको समझने के लिए इनके अर्थों का पूर्ण ज्ञान एवं क्रियात्मक ढंग से अपनाने के लिए उनकी भावना की भी अति आवश्यकता है। अपने महा प्रयोजन रूप विमुक्ति को सिद्ध करने के लिए काम आने लायक ढंग से अर्थात् जिस तरीके से अपने मन को ढालना चाहिए और समझकर चलने का यत्न करना चाहिए, इस उद्देश्य के निमित्त यह ग्रंथ साधक के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है।

वेदों और शास्त्रों में निर्वाण, जीव, ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, भगवान्, ईश्वर, माया, प्रकृति, तृष्णा, राग, द्वेष, विद्या, अविद्या, पुण्य, पाप, मुक्ति, भाग्य, पुरुषार्थ, संस्कार, वासना, विवेक, वैराग्य, तप, तितिक्षा, द्वैत, अद्वैत इत्यादि विभिन्न शब्द चर्चा में आते हैं और इनका वर्णन विशेषकर संस्कृत भाषा में ही है; परन्तु संस्कृत आम बोलचाल की भाषा न होने के कारण से सर्वसाधारण के लिए ऐसे ग्रंथ की आवश्यकता है जिसमें कि इन संज्ञाओं (नामों) का वर्णन इस रूप में किया हो कि कोई

भी व्यक्ति इन संज्ञाओं (नामों) का अर्थ व भाव समझकर इनको अपने धर्म मार्ग साधन में भी ला सके तथा धार्मिक व आध्यात्मिक जीवन को वास्तविक रूप में उन्नत कर सके। जैसे कि परमात्मा, ईश्वर, भगवान् शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची ही मालूम होते हैं, परन्तु यदि गहराई में देखा जाए, तो ये नाम अपने अपने स्थान पर भिन्न भिन्न भावों के अनुसार हैं। यद्यपि इनका सार एक ही है परन्तु मन को जगाने के लिए तथा चिन्तन को और अधिक बारीकी तक पहुँचाने के लिए इन शब्दों के अर्थों की भावना करनी आवश्यक है, अतः इस ग्रंथ में आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, माया, जीव, ब्रह्म, भगवान्, निर्वाण इत्यादि संज्ञाओं (शब्दों, नामों) का अर्थ बड़े ही सुन्दर ढंग से विस्तारपूर्वक किया गया है।

इसी प्रकार दृष्टि, संशय, राग, द्वेष, मान, मोह इत्यादि अविद्या पर्यन्त दसों बन्धनों की चर्चा काफी विस्तार से की गई है। अब जैसे कि ''अविद्या'' नाम का बंधन है जोकि सब बंधनों का जन्म दाता है और जल्दी से पहचान में नहीं आता। यही जन्म मरण का मूल कारण है। इस ग्रंथ में इसको खोलकर बताने की चेष्टा की गई है!

साधक की साधना बाहर दूसरों में रहते हुए भी शान्तिमय ढंग से निर्विघ्न रूप से सम्पन्न हो सके तथा संसार में रहते हुए भी सांसारिक बन्धनों से मुक्त जीवन जीने के लिए भगवान् के मैत्री आदि दस बलों की भी भक्ति करनी आवश्यक है। जैसे कि मैत्री, करुणा,

मुदिता, उपेक्षा, क्षमा, शील, दान, वीर्य, प्रज्ञा आदि इन संज्ञाओं का अर्थ समझ कर इन को .पने आप में धारण करने की व्यवस्था यदि की गई, तो यह सब अपने में आने पर आध्यात्मिक जीवन को उन्नति के पथ पर ले जाएगा। इस उद्देश्य हेतु इन दसों बलों को धर्म साधना अनुकूल व्यावहारिक जीवन में उतारने के लिए इनकी व्याख्या सरल रूप में (खोल कर) की गई है। इसके साथ साथ उपाय-प्रत्यय (Active way of deliverance) रूप में मोक्ष के हेतु श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा पाँचों बलों का वर्णन भी इसी ग्रंथ का ही भाग है।

संसार में तो पहले जन्म पाने पर प्राकृतिक जीवन ही मिलता है। प्राकृतिक जीवन का अन्त सदा बने रहने वाले आनन्द तक नहीं पहुँचता; सदा बने रहने वाला सुख या सदा बने रहने वाली तृप्ति तो इस प्राकृतिक जीवन को जीत कर आध्यात्मिक जीवन को समुन्नत करने पर ही होती है। प्राकृतिक जीवन के स्थान पर आध्यात्मिक जीवन का श्रीगणेश करने के लिए साधक को सर्वप्रथम खोटे रास्ते से टलना होगा। सही रास्ते को समझना व उस पर चलने के लिए यत्न करना होगा। तभी उसकी जीवनचर्या शुद्ध होगी तथा ध्यान विकसित होगा। परिणामस्वरूप उसका जीवन पूर्णता की ओर अग्रसर होगा। इस सब के निमित्त साधक के लिए आठ खोटों व उनके स्थान पर आठ सही जीवन के अंगों का जानना अनिवार्य है। मिथ्या दृष्टि आदि आठ खोटे अंगों के साथ साथ उनके विकल्प रूप में सही दृष्टि आदि आठों ही

जीवन के अंगों का वर्णन भी इस ग्रंथ में सम्मिलित किया गया है। इस प्रकार धर्म मार्ग में प्रयुक्त होने वाली लगभग सभी संज्ञाओं का वर्णन इस ग्रंथ में किया जा चुका है। कोई भी साधक जिज्ञासु इस ग्रंथ का जितना अध्ययन एवं मनन करेगा, उतना ही उसको इन संज्ञाओं (नामों) के अर्थों को समझने व समझ कर साधनानुकूल जीवन में उतारने की क्षमता व प्रेरणा मिलेगी; और इस संज्ञा सम्बन्धी विवरणों को पढ़ने से जो कुछ अर्थ इन संज्ञाओं का या नामों का मनुष्य (साधक) की समझ में पड़ेगा, वह आत्म चिन्तन के लिए अत्यन्त उपयुक्त होगा। यदि एकान्त में समय पर स्थिर आसन पर बैठकर इन संज्ञाओं का अर्थ यदि चिन्तन करके समझ में बैठा लिया और पुनः अपने मन में इन सब अर्थों को चिन्तन द्वारा समझ कर अपने जीवन में अपना लिया, तो यह आत्मा का मनन स्वरूप हो जाएगा। इससे आत्मा का (अपने आपका) ज्ञान और उसके द्वारा व्यापक जीवन रूप परमात्मा का ज्ञान भी अत्यन्त सरलता से समझ में आने लगेगा। इसी से अन्ततः निर्वाण पद की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त (चमकेगा) होगा।

अब जैसे कि दुःख किसी भी जीव को अच्छा नहीं लगता। परन्तु संसार में जन्म से पाये जाने वाले जीवन के साथ अन्त में केवल दुःख ही मनुष्य के पल्ले पड़ता है। इसी सत्य को पूर्व के वेद शास्त्रादि के ऋषियों ने और आचार्यों ने साक्षात् अपनी बुद्धि द्वारा समझकर संसार में सबके स्थायी (टिकाऊ) भले के लिए कई एक

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

प्रकार से मनुष्य को समझाने की चेष्टा की तथा इसी मार्ग पर ही चलाने के लिए प्रेरित किया। उन्हीं के शब्द आज तक हमारे सम्मुख उपस्थित हैं और हमें भी उन शब्दों द्वारा प्रेरणा लेकर उनके मार्ग पर चलने का यत्न अपनी तथा साथ साथ दूसरों की भी भलाई के लिए करना होगा। यत्न तो स्वयं भलाई चाहने वाला ही करेगा, परन्तु प्रेरणा उन महापुरुषों के वचनों या शब्दों से ही प्राप्त करनी होगी।

अन्त में इस सारी वार्ता का उपसंहार आध्यात्मिक जीवन पद्यावली ग्रंथ के निम्न छंद से किया जाता है किः-

हर्षित दीपित प्रेरित करना यही शब्दों का काम;
पूर्वजों की धर्म की संज्ञाएँ यही सब सत के नाम।
सन्मार्ग पै चलने के हेतु करना इन्हीं का ध्यान;
जगे विवेक विचार से इनके शम सुख मुक्ति निधान।

शील
अध्यक्षा
श्री अनन्त प्रेम मंदिर
श्री जीवन मुक्त ट्रस्ट
अम्बाला शहर।

卐卐

卐 दो शब्द 卐

परम श्रद्धेय श्रोत्रिय वीतराग परम हंस परम पूज्य गुरुदेव स्वामी श्री दयानन्द 'गिरि' जी महाराज, जो स्वयं ज्ञान की मूर्ति हैं, की अपार कृपा से, **"आध्यात्मिक जीवन पद्यावली की कतिपय आवश्यक संज्ञाओं का विशद विवरण"** नामक ग्रन्थ का चतुर्थ प्रवर्धित तथा संशोधित संस्करण श्री १०८ श्री शील जी महाराज, अध्यक्षा, श्री अनन्त प्रेम मन्दिर, श्री जीवन मुक्त ट्रस्ट, अम्बाला शहर के द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित किया जा रहा है।

आध्यात्मिक जीवन पद्यावली में आने वाली धर्म सम्बन्धी संज्ञाओं (नामों) का वर्णन इस पुस्तक में स्पष्ट रूप से किया गया है। जैसे कि पृथक-पृथक तन्तुओं को जोड़ कर वस्त्र का रूप दे दिया जाए, इसी प्रकार यहाँ सब नामों (संज्ञाओं) को एक दूसरे के साथ उनका जीवन में उपयोग लाने के उद्देश्य को सम्मुख रख कर एक काया रूप में उपस्थित किया गया है। इस पुस्तक में जो भी विषय चर्चा में लाया गया है, वह सब धर्म के उद्देश्य स्वरूप परम पद स्वरूप निर्वाणको दृष्टि में रख कर, उसी ही ढंग से खोल कर बताया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि यह सब विवरण केवल पृथक-पृथक शब्दों के केवल अर्थ को बताने के लिए ही नहीं है, किन्तु जैसे कि इन सब नामों के अर्थों को जानकर मोक्ष के

लिए जीवन में उतारा जा सकता है, और उनका उपयुक्त लाभ उठाया जा सकता है। उसी प्रकार से ये सब संज्ञायें ध्यान और चिन्तन में ला कर अपने मन को एकान्त में दीर्घ समय तक साधना में लगाये रखने के लिए अति उपयुक्त हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ ''आध्यात्मिक जीवन पद्यावली ग्रन्थ'' का एक व्याख्यान स्वरूप ही समझा जा सकता है। इस ग्रन्थ का भली प्रकार से अध्ययन करने पर ''आध्यात्मिक जीवन पद्यावली'' के पद्यों का अर्थ समझने में पूर्ण सहायता मिलेगी।

इस पुस्तक में जो भी संज्ञा सम्बन्धी विवरण आए हैं वह संज्ञाएँ तो शास्त्रों में मिलती हैं परन्तु उनके विवरण समझने लायक ढंग से हर पुस्तक में नहीं मिलते, उनको यहाँ विस्तार रूप से बताने का यत्न किया गया है।

यह ग्रन्थ अमृत का अथाह सागर है, इसे जिज्ञासु जन जितना अध्ययन करेगा और मनन करेगा वह उतना ही लाभ उठाकर अपने जीवन का उद्धार कर सकेगा।

इस चतुर्थ संस्करण को छपवाने से पहले जिन-जिन धर्म प्रेमियों ने पुस्तक के तृतीय संस्करण में जो भी त्रुटियाँ थी उनके बारे में सूचना दी, उन त्रुटियों को सामान्य रूप से संशोधन करने का प्रयास किया गया है तथा पूज्यपाद प्रातः स्मरणीय यतिराज श्री स्वामी जी के आशीर्वाद से लगभग संशोधन कर ही दिया गया है। परन्तु फिर भी इस ग्रन्थ के छपवाने में यदि कहीं मात्रा,

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

वाक्य, शब्द, भाव-अभिव्यक्ति की त्रुटियाँ रह गई हों, तो आशा है कि भक्तजन वह ईश्वरार्पण करने की कृपा करेंगे तथा श्री स्वामी जी द्वारा जो मार्ग बताया गया है उस पर मनन एवं अनुकरण करने का प्रयास करेंगे।

हम सब उन धर्म प्रेमियों के अत्यन्त आभारी हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थ को छपवाने के लिए अपना सहयोग दिया है। प्रूफों को पढ़ने में श्री ज्ञान चन्द गर्ग एवं श्री अश्वनी कुमार कक्कड़ ने कड़ी मेहनत से, जो योगदान दिया है तथा श्री श्रीराम शर्मा, नांगलोई (दिल्ली) वालों ने इस पुस्तक की पंकचुऐशन (विराम चिन्ह) करने में भी जो योगदान दिया है, धर्म प्रेमी सज्जन उनके भी बहुत आभारी हैं।

हम विशेषकर परम पूज्य श्री १०८ श्री शील जी महाराज, अध्यक्षा, श्री अनन्त प्रेम मन्दिर, श्री जीवन मुक्त ट्रस्ट, अम्बाला शहर के भी अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने परम पूज्य स्वामी जी की अमूल्य वाणी को ग्रन्थ के रूप में अपने विशाल हृदय से मुद्रित एवं प्रकाशित करवा कर समस्त धर्म प्रेमी सज्जनों पर अति कृपा की है। इसके अतिरिक्त हम उन सेवा परायण भक्तों के बहुत आभारी हैं, जिन्होंने इस पावन ग्रन्थ को छपवाने के लिए अपना आर्थिक योगदान दिया है।

हम श्री ज्ञान चन्द गर्ग जी के अति धन्यवादी हैं जिन्होंने इस ग्रन्थ को छपवाने के कार्य में अपना पूर्ण सहयोग दिया है।

हम महाजन एन्टरप्राइजिज, अम्बाला कैंट के भी

धन्यवादी हैं जिन्होंने इस पावन ग्रन्थ के लेजर टाईप सैटिंग में अपना सहयोग दिया है।

पुनः हम सब परम पूजनीय श्री सद्‌गुरु देव परमहंस स्वामी श्री दयानन्द ''गिरि'' जी महाराज के श्री चरणों में नतमस्तक होकर दण्डवत् प्रणाम करते हैं, जिन्होंने धर्म प्रेमी सज्जनों के समुदाय पर बड़ी कृपा दृष्टि एवं दया कर के इस धर्म ग्रन्थ **''आध्यात्मिक जीवन पद्यावली की कतिपय आवश्यक संज्ञाओं का विशद विवरण''** को प्रकाशन करने की अनुमति प्रदान की और जहाँ कहीं भी अशुद्धियाँ व त्रुटियाँ थी, उन को ठीक करवाने में अपना बहुमूल्य समय देने की विशेष कृपा की है। हमारे पास श्री स्वामी जी कीं कृपा व दया का आभार प्रकट करने के लिए कोई शब्द नहीं हैं, केवल हम श्री महाराज जी के श्री चरणों में पुनः पुनः दण्डवत प्रणाम् ही करते हैं तथा विनम्र प्रार्थना करते हैं कि पूज्य श्री स्वामी जी हमारे ऊपर इसी प्रकार अपनी कृपा दृष्टि बनाए रखें तथा शुद्ध बुद्धि प्रदान करें ताकि हमारी उनके श्री चरणों में अटूट श्रद्धा एवं प्रेम बढ़ता रहे।

सभी धर्म प्रिय भक्तों को सहर्ष सूचित किया जाता है कि इस पुस्तक के अतिरिक्त श्री स्वामी जी द्वारा रचित निम्नलिखित धर्म ग्रन्थों को भी धर्म प्रेमी समुदाय द्वारा प्रकाशित किया गया है :-

१. आध्यात्मिक प्रवचन संग्रह भाग-१

२. आध्यात्मिक प्रवचन संग्रेह भाग-२

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

३. आध्यात्मिक जीवन पद्यावली
(व्याख्या सहित) भाग-१

४. आध्यात्मिक जीवन पद्यावली
(व्याख्या सहित) भाग-२

५. Verses of The Divine Spiritual Life.

आशा है कि यथार्थ ज्ञान के अभिलाषी और आध्यात्मिक पथ के जिज्ञासु सज्जन इस धार्मिक ग्रन्थ (आध्यात्मिक जीवन पद्यावली की कतिपय आवश्यक संज्ञायों का विशद विवरण) के अतिरिक्त उपरोक्त धर्म ग्रन्थों को भी प्रभु में विश्वास रख कर श्रद्धापूर्वक पढ़ेगें, तो उन के हृदय में प्रभु कृपा से दिव्य ज्योति का प्रकाश होगा और अपने मनुष्य जीवन को सफल बना सकेंगे।

अन्त में मैं मंगलमय भगवान् से श्री स्वामी जी की दीर्घायु के लिए हार्दिक मनोकामना करता हूँ एवं आशा रखता हूँ कि भविष्य में भी परम पूज्य श्री स्वामी जी हमारे ऊपर इसी प्रकार अपनी कृपा दृष्टि बनाए रखेंगे ताकि हम आनन्दमय व स्वस्थ जीवन व्यतीत कर सकें। उक्त धर्म ग्रन्थों के प्रति हम धर्म प्रेमी पाठकों के सद्‌विचार जानने के लिए सदैव इच्छुक रहेंगे।

आशा है कि यथार्थ ज्ञान के अभिलाषी और आध्यात्मिक पद के जिज्ञासु सज्जन, इस धार्मिक ग्रन्थ से पूर्ण लाभ प्राप्त करके अपने मनुष्य जीवन को सफल बनाएँगे।

श्री चरणों का तुच्छ सेवक
सुरजीत कुमार नागपाल

अम्बाला शहर।

पूज्य स्वामी जी द्वारा प्रणीत धर्म ग्रन्थों के बारे में धर्म प्रेमियों के विचार

स्वामी सच्चिदानन्द हरि और आपके सौजन्य से मुझे परम पूज्य स्वामी दयानन्द गिरि जी द्वारा रचित अनमोल आध्यात्मिक ग्रन्थों के स्वाध्याय का सुअवसर मिला।

ये पुस्तकें स्वयं प्रकाश साहित्य हैं अपने आप में अपना Comment हैं। सूरज को कोई मिट्टी का दिया जलाकर नहीं देखता, परखता। हाँ, दिये से सूरज की पूजा अवश्य की जाती है। इसी प्रकार मैं भी अपनी भावनायें अवश्य व्यक्त करूँगा।

इन ग्रन्थों में सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित होने के लिये, अनावश्यक वाद–विवादों के जंगल से बचाते हुए, साधक की क्षमतानुसारी थोड़ी–थोड़ी दूरियों वाले अनेक पड़ावों से युक्त, एक विलक्षण, सीधे ध्यानमार्ग का सूक्ष्म, विशद् और स्पष्ट वर्णन किया गया है। ऐसा सटीक मार्ग दर्शन भारतीय आध्यात्मिक साधना पद्धतियों में पारंगत और योगविद्या में निष्णात केवल ऐसे योगी की प्रज्ञा द्वारा ही सम्भव है जो इस मार्ग तथा आसपास के प्रान्तर में चिरकाल तक विहार कर चुका हो।

मुझे इन पुस्तकों से अपनी सामर्थ्य के अनुसार बहुत लाभ हुआ है और मैं जानता हूँ कि आगे भी साधना में एक हितैषी मार्गदर्शक के रूप में काम आती रहेंगी। यह पुस्तकें स्वामी जी का आशीर्वाद, वरदान् और उनका स्वयं का शब्दमय रूप ही हैं।

डा० वी.के. त्रिवेदी
वैज्ञानिक
ए–4/3, एम.एस. फ्लैटस,
पेशवा रोड, नई दिल्ली–110001

इन पुस्तकों में काम, क्रोध, लोभ तथा मोह इत्यादि अनेक विषयों पर स्वामी जी ने बड़े ही सुन्दर ढंग से व सरल हिन्दी में व्याख्या की है। अतः यह पुस्तकें धर्म मार्ग के जिज्ञासुओं के लिए बहुत ही उपयोगी हैं। धर्म प्रेमियों पर परम पिता परमात्मा की असीम कृपा सदैव बनी रहे। तुलसी दास महाराज रामायण में लिखें हैं कि :

सबसे सेवक धर्म कठोरा

सेवा का कार्य सबसे महान् है। सेवा करते हुए शबरी जैसी स्त्री साक्षात् राम को प्राप्त की। अतः मेरी यही कामना है कि आप सभी धर्म प्रेमी अपने साधन पथ पर सर्वदा उन्नति करें।

मुमुक्षु
निरंजन चैतन्य
अखण्ड अतिथि आश्रम, हरिद्वार

****

वाकई स्वामी महाराज जी ने ऐसे ग्रन्थ पुष्प निर्माण कर पाठकों के लिए महान् उपकार किया है। संसार में विद्वान् रत्न अनेकों बिखरे पड़े हैं, कोई कोई ही चकमता है। अपनी विद्वत्ता जनसामान्य की सेवा में समर्पित करना कोई विरला सन्त ही कर सकता है। स्वामी जी के श्री चरणों में साष्टांग प्रणाम करते हुए मैं भी इन ग्रन्थसार से पवित्र होना चाहता हूँ।

स्वामी जगदीश्वरानन्द पुरी,
25, ओम् राम धाम,
चन्द्रभागा, स्वीस् कॉटेज के पास, ऋषिकेश

****

प्रातःस्मरणीय स्वामी दयानन्द गिरि जी महाराज द्वारा लिखित "आध्यात्मिक जीवन पद्यावली" तथा उनके आध्यात्मिक प्रवचनों का संग्रह अध्यात्मपथ पथिकों के लिये रुचिकर पाथेय है। विशेषकर उन नवीन साधकों के लिये, जो आध्यात्मिक जीवन तो जीना चाहते हैं; पर उन्हें न तो मार्ग मिल पा रहा है और न कोई प्रकाश। उक्त ग्रन्थ दोनों प्रदान करता है।

अन्तर्जगत् बड़ा ही सूक्ष्म है, अबूझ है, उसके कार्य, विस्तार और स्वरूप को समझे बिना मोक्ष असम्भव है। बाह्य जगत् का बन्धन कोई बन्धन नहीं है, अन्तर्जगत् का बन्धन ही बन्धन है और उससे छूट जाना ही मुक्ति है। इस विषय में स्वामी जी के ग्रन्थों से साधकजन भरपूर और छककर लाभ उठा सकते हैं तथा आध्यात्मिक जीवन के पथ को प्रशस्त बना सकते हैं। ये ग्रन्थ प्रत्येक साधक को अपने पास रखना चाहिये तथा प्रतिदिन मनोयोग से समझ कर पढ़ना चाहिये। चूंकि यह एक महान् सन्त के आध्यात्मिक जीवन का अनुभव है, सार है।

यह परम प्रसन्नता की बात है कि उक्त ग्रन्थों का चतुर्थ संस्करण छपने जा रहा है। ये पुस्तकें जन–जन तक पहुँचे ऐसी हमारी कामना है। अन्त में आध्यात्म जगत् को उपकृत करने वाले परमवन्द्य स्वामी जी की वन्दना करते हैं।

सन्तचरण चञ्चरीक
स्वामी रघुनाथानन्द अवधूत
कैवल्य योग आश्रम,
ग्राम : डोमरी पो० कुष्ट सेवा आश्रम पड़ाव,
वाराणसी–221102 (उ० प्र०)

****

आज ऐसे युगपुरुष एवं उनके बोध का ग्रन्थ मिलना मुश्किल है, मिले तो समझना और जीवन में उतारना मुश्किल है, यदि हिम्मत रखकर जीवन में ढाला तो बेड़ा पार है।

आध्यत्मिक प्रवचन एवं आध्यात्मिक जीवन पद्यावली अभी भाग–1 को पढ़कर आध्यात्मिक साधना में एक प्रैक्टिकल प्रभाव, उसमें रुचि एवं कुछ उन्नति के साथ–साथ पूज्य स्वामी श्री के प्रति श्रद्धा–प्रेम की भी वृद्धि होती रही है। आचरण एवं अनुभूति में से प्रकट हुआ बोध ही मानव–जीवन में आमूल परिवर्तन लाता है।

सब के अन्तर की गहराई तक यह सच्चाई का ज्ञान इसीलिये विशेष असर कर जाता है कि पूज्य स्वामी जी महाराज ने अपनी प्राचीन ऋषि–मुनियों की संस्कृति को–धर्म को पूरी तरह अपने जीवन में ढाला है और योग, भक्ति, ज्ञान सभी में पूर्णता तक पहुँचे हुये हैं। सुना है कि पूज्य स्वामी जी ने 80 वर्ष की आयु तक पूरे हिन्दुस्तान का बिना किसी वाहन के पैदल भ्रमण किया है। सदा से एक समय सात्त्विक भिक्षा करते हैं। कभी भी स्त्री, पैसा, धातु का स्पर्श नहीं किया, सदा एकान्त प्रिय, निद्राजीत, यति श्रेष्ठ, परमहंस, ब्रह्मनिष्ठ योगीराज विरक्ति में पूर्ण होने के साथ विद्वत्ता में भी उनकी तुलना नहीं हो सकती। संस्कृत, अंग्रेजी आदि भाषाओं के पूर्ण ज्ञाता होते हुये उन्होंने सबके कल्याण हेतु ग्रन्थ को बहुत ही सरल और सुस्पष्ट बनाया है।

बाहर उत्तम बर्ताव–पवित्र जीवन, अन्दर ध्यान और भक्ति तथा ध्यान द्वारा सही ज्ञान को उत्पन्न करने की मुक्ति की युक्ति बहुत सुन्दरता से निरूपण की गई है। सदा स्मृति रखकर कार्य करने का उनका अद्‌भुत सूत्र "एक काम एक ध्यान" यह सारे जीवन को ध्यानमय बनाकर सफलता प्रदान करता है।

कोई मत–पंथ–सम्प्रदाय के खण्डन–मण्डन में न पड़कर साक्षी–भाव से अन्तर का अवलोकन तथा आत्मौन्नति में आने वाले प्रतिबन्ध एवं साधन को बड़े ही स्पष्टता से वर्णन करके सभी के लिये खुला मार्ग कर दिखाया है यही अहेतुक कृपासिंधु की अपार करूणा है।

इन में वेद एवं दर्शन शास्त्रों का सार है। इन पद्यों को मात्र मुखपाठ ही नहीं किन्तु प्रैक्टिकल जीवन में उतारने के लिये जो भी इस ग्रन्थ का रुचि से ध्यानपूर्वक समझते हुए अध्ययन–मनन करेगा उसके जीवन में अवश्य ही आध्यात्मिक क्रान्ति आएगी और वह परम शान्ति एवं परम आनन्द की प्राप्ति कर कृत्–कृत्य हो जायेगा।

–'साधु'

****

आपने स्वामी दयानन्द गिरिजी महाराज का अध्यात्मपरक साहित्य हमारे पुस्तकालय हेतु प्रेषित किया है। अध्यात्मजगत् की गहराईयों में सरलता से प्रवेश पाने हेतु उक्त साहित्य जिज्ञासु साधकों को निश्चित रूप से दिशा प्रदान करने वाला है ऐसी हमारी धारणा बनी है क्योंकि स्वामी दयानन्द गिरि जी महाराज जी ने अपनी आध्यात्मपरक अनुभूतियों को अपने प्रवचनों के माध्यम द्वारा ऐसे सरल एवं सुबोध बनाया है कि कोई भी सामान्य व्यक्ति इंन्हें हृदयंगम कर सकता है।

धर्मप्रेमियों का उक्त प्रयास आधुनिक जीवन की अन्धी दौड़ में शामिल लोगों को निश्चत रूप से विराम लेने पर बाध्य करेगा तथा उन्हें अध्यात्मपथ पर आगे बढ़ने में दिशा प्रदान करेगा।

Dr. B.R. Sharma
Asstt. Director of Research
Philosophy-Literary Research Department
Kaivalyadhama S.M.Y.M. Samiti
Lonavla - 410403 (Pune)

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वीतराग अनन्त श्री स्वामी दयानन्द गिरि जी महाराज के आध्यात्मिक प्रवचन संग्रह भाग–1 व भाग–2 तथा आध्यात्मिक जीवन पद्यावली भाग–1 व भाग–2 ये चार अनमोल ग्रंथ आपके द्वारा दिनांक 17.7.2001 को मुझे प्राप्त हुए। इन ग्रन्थों को पढ़ने से दस बन्धनों का तथा दस बलों का अत्यंत सरलता से मुझे ज्ञान हुआ। इन दस बन्धनों से मुक्ति मिलने पर ही जीवन का कल्याण तथा आत्म कल्याण संभव है, अन्यथा नहीं, यह बार बार जोर देकर उदाहरणों के द्वारा दर्शाया गया है। ये बन्धन तथा दुर्विकार और दुर्भावनाएँ दुर्गति के कारण होते हैं। इनसे छुटकारा पाने के लिये दस बलों की उपासना करना आवश्यक करार दिया है। आत्मा, परमात्मा, मुक्ति, संसार की अनित्यता निर्वाण आदि के बारे में इन ग्रन्थों में विस्तार से विवेचन किया गया है। कर्मयोग, ज्ञान योग तथा भक्ति योग की सहायता से प्रकृति के बल को क्षीण व नष्ट करके चिर आनन्द की प्राप्ति की जा सकती है। यह उपदेश इन ग्रन्थों से मिलता है। बहिर्मुखता को त्याग कर अंतर्मुखता की और मुड़ना, ध्यानावस्था में आनन्द विभोर होना इस जीवन–लक्ष्य पर सर्वाधिक बल दिया गया है। व्यवहारिक उदाहरणों से सरल ढंग से मौलिक आध्यात्मिक बातें तथा तत्त्व समझाए गए हैं। ये ग्रन्थ मेरे जैसे सामान्य श्रद्धालु के लिए अमृतमय हैं यह मेरी विनीत भावना है। प्रभु कृपा तथा स्वामी जी के शुभाशिष के लिये मैं हार्दिक प्रार्थना करता हूँ।

एस.एम. पाटिल
यशवन्त शिवसदन, प्रसाद कालोनी
उस्मानाबाद–413501 (महाराष्ट्र)

****

Parvachans and Verses from Adhiatmik Jeevan Padyawali with Vyakhya Vol. I & II from His Holiness Swami Dayanand Giri Ji Maharaj are a great source of Spiritual Upliftment. The simple language of everyday use percolates deep down the memory lane. They have a direct bearing on our minds. May the Blessings of Swamiji Maharaj always shower on all the followers of His Holiness.

Sir, all of us have unanimously resolved to praise the yeoman service that you have undertaken in association with your colleagues. May the Lord Bless you all for this Nishkam Seva."

Thanking you once again, we are, in the name of the Lord.

R.C. Malhotra

A-1/12, Krishan Nagar, Delhi

****

I have gone through the book and find it very illuminating. Undoubtedly the book is a valuable addition to the spiritual literature, which contains many small-small gems for inspiring to live spiritual way of life. Indeed it is highly recommended to all readers for its insightful universal presentation and its sublime subject matter. The author presents a philosophy in a very lucid manner to successful living. This will certainly inspire the readers to strive for the best and find fullfilment through selfless service of fellowmen. Very facinating book. I congratulate you for propagating this noble cause. May God Bless you

Shri M. Prangwani

73/9, Ulhasnagar-421001 (M.S.)

****

卐卐卐
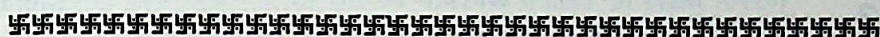
卐 निर्वाण 卐

(Perfect freedom from worldly bondage complex or ultimate peace)

निर्वाण का अर्थ है 'बुझना'। जिस प्रकार दीपक का तेल समाप्त हो जाने पर दीपक क्रमशः अपने आप ही मन्द पड़ते-पड़ते बुझ जाता है या शान्त हो जाता है, इसी प्रकार संसार की तृष्णा अर्थात् संसार में कुछ न कुछ अपने आप होते रहना; यही संसार की तृष्णा इस शरीर रूपी दीपक में तेल के समान है। जब तक संसार में ही कुछ भी होने का भाव बना रहेगा तब तक इस संसार में ज्ञान का दीपक दुःख रूप से जलता ही रहेगा। यदि सत्य ज्ञान से इस संसार को दुःख रूप से साक्षात्कार करने पर इसमें कुछ न कुछ होने की तृष्णा समाप्त हो जाए तो पुनः संसार में जन्मने व होने का भाव हमेशा के लिए बुझ जाएगा। जो मन संसार में ही कुछ न कुछ जानने के लिये बंधा हुआ था; वह अपने आप में चेतन या ज्ञान स्वरूप को प्रकट करता हुआ अपने आप में ही शान्त रहेगा। इसी का नाम 'निर्वाण' है। इस के लिए संसार में मनुष्य को बंधा रखने वाले जो बन्धन हैं, उन को जानना, निकट से पहचानना, और उनसे छूटने के लिए या मुक्ति पाने के लिए बुद्धि का बल प्राप्त करना परम आवश्यक है। जब तक बुद्धि में यह बोध नहीं होगा कि इन बन्धनों से बंधा हुआ व्यक्ति दुर्गति को ही पाता है और मुक्त हुआ-हुआ सब अनर्थों से छूट कर परमानन्द पाता है, तब

卐卐

तक मनुष्य को निर्वाण प्राप्त करने के लिए सच्ची इच्छा नहीं हो सकती। इसलिए पहले बन्धनों का जानना ही परम आवश्यक है। बाँधने वाली वस्तु, या मन को बाँधने वाली कोई भी अवस्था का नाम बन्धन है। ये कई बन्धन शास्त्रों में प्रतिपादित (कथन किये गये) हैं जैसे कि:-

(१) दृष्टि बन्धन
(२) संशय
(३) शील व्रत परामर्श (कर्त्तव्य सम्बन्धी बहु प्रकार के विचार का परामर्श)
(४) राग (काम-राग)
(५) द्वेष (द्रोह-चिन्तन)
(६) रूप राग
(७) अरूप राग
(८) मोह
(९) मान
(१०) अविद्या।

ये दस बन्धन हैं। जिनका सारांश (खुलासा) इस प्रकार है :-

जैसे कि निर्वाण का अर्थ है बुझना या बुझ जाना, जैसे जलते हुए दीपक का बुझ जाना; यही दीपक के बुझ जाने का नाम ही दीपक का निर्वाण है। अब यह दुनिया में रहने वाला जो मन है, यह कभी नहीं बुझता। यह अपना मन बाहर संसार में ही अपना अस्तित्व या सत्ता को पाता है; तभी इस को पता लगता है कि "मैं कुछ बना हुआ हूँ, मैं उजड़ा नहीं, मेरा सत्यानाश नहीं हुआ।"

卐卐

कोई भी व्यक्ति या जीव अपने अस्तित्व का बिल्कुल विनाश नहीं चाहता। सदा बना रहना चाहता है; परन्तु संसार में जो कुछ भी बना है वह सदा रहता नहीं। कभी किसी का बेटा बन गया, कभी किसी का दुश्मन (शत्रु) बन गया, कहीं विद्वान् बन गया, कहीं पुण्य कर्म करने वाला बन गया, कहीं पाप करने वाला बन गया इत्यादि-इत्यादि; जो यह सत्ता (अस्तित्व) जो अपने आप की संसार में पाता है वह संसार के अन्दर ही है। संसार में होने पर मिलेगी। परन्तु यह संसार तो सदा रहेगा नहीं। एक दिन मृत्यु इस को छुड़ाएगी। परन्तु अन्दर का आत्मा और जीव वह तो मरेगा नहीं, परन्तु मरने पर दुनिया से बिछुड़ गया और बिछड़ा हुआ अकेला पड़ गया, वहाँ अर्थात् मृत्यु के पश्चात् दूसरे का संग न रहने से दूसरे के संग में मिलने वाली जो अपनी सत्ता (अस्तित्व) वह तो मिलेगी नहीं और यदि अपनी 'मैं' न मिली, तो वह समझेगा कि "मैं रहा ही कुछ नहीं"। परन्तु यह भाव जो जीव का है यह अत्यन्त दुःखदाई है; क्योंकि हर कोई, सदा बना रहना चाहता है। अपना विनाश कभी भी नहीं चाहता। परन्तु उस ने अर्थात् साधारण जीव ने अपने आप का बना रहना संसार में दूसरे के संग से ही देखा है, अकेले में तो कभी अनुभव में आया नहीं। अपना आपा पता लगे बिना जीव सुखी भी नहीं रह सकता। कभी भी कोई नहीं चाहता कि "मैं उजड़ जाऊँ"; सदा बना रहना चाहता है। परन्तु जब मृत्यु के पश्चात् उस को संसार से बिछुड़े जाने पर अपने आप का अनुभव न हुआ

तो अत्यन्त दुःख की अवस्था में निद्रा जैसी अवस्था में रहता है। परन्तु अन्दर का आत्मा तो मरता नहीं, उजड़ता नहीं, अपने ज्ञान स्वरूप में सदा है। परन्तु साधारण जीव की उस आत्मा में दृष्टि नहीं खुलती। अब उस दृष्टि के बिना अपने आप को नष्ट होता हुआ सा समझता है, क्योंकि इस ने जो अपने आप का होना है अर्थात् अपने आपको बने रहने का जो अनुभव किया है वह संसार में ही दूसरे के संग से किया है। परन्तु मरने पर जब दूसरों का संग बिछुड़ा तो पुनः सत्ता (हस्ती) पाने के लिये संसार में ही आने की इच्छा करेगा क्योंकि संसार में आए बिना उस को अपने आप के होने का या बने रहने का ज्ञान ही नहीं होगा। परन्तु जिस व्यक्ति ने संसार के बीच में होने को या दूसरों के संग से जो सत्ता मिलती है, उस को अपने ध्यान में विचार करके समझ लिया कि यह जो संसार की सत्ता है या संसार में बने रहना है, यह तो सदा रहेगा नहीं। परन्तु कोई भी जीव, कभी न रहना, नहीं चाहता; सदा बना रहना चाहता है। इसलिये उसे पुनः सत्ता पाने के लिये या सत्ता का अनुभव करने के लिये संसार में ही जन्मना पड़ता है; जन्मेगा तो मरेगा भी; तो इस के साथ-साथ संसार के अत्यन्त दुःखों को भी देखेगा या अनुभव करेगा। यह सब अनर्थ और अत्यन्त दुःख रूप है।

अब यदि किसी ने इस संसार में अपने आप का होना या जन्मना अत्यन्त दुःख रूप समझ कर के इस से मुक्त होना या छुटकारा पाना अनुभव करना है तो उस को

अपने ही अन्दर नित्य ज्ञान स्वरूप केवल शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार करना पड़ेगा। परन्तु संसार में होने वाले या जन्मने वाले जीव का वह शुद्ध केवल ज्ञान स्वरूप, सदा बने रहने वाला आत्मा या अपना आपा अविद्या आदि के बन्धनों से ढका रहता है। ऐसी अवस्था में जिस ने अविद्या आदि बन्धनों को पहचान कर एक-एक को विदा कर दिया या त्याग दिया और शुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा झलक गया या अपने आप में आनन्दरूप से प्रकट हो गया, तो सदा अपनी आत्मा के होने की अनुभूति हो जाएगी; फिर उस को कभी यह भाव नहीं होगा कि ''मैं कभी नहीं रहा या मरने के पश्चात् दूसरे से बिछुड़ने पर मैं नहीं रहूँगा''। यह कभी भी भाव नहीं बन सकता, क्योंकि उसकी आत्मा (अपना आपा) आनन्दरूप से सदा खिली रहती है। कभी भी न रहने का भाव ही नहीं बनता और वह हमेशा के लिये संसार से मुक्त हो गया अर्थात् छूट गया।

संसार में तभी आना था या जन्म लेना था, यदि आत्मा पर अविद्या आदि बन्धनों का पर्दा पड़ा रहता और अपने आप का न होना भासता। जब उस को अपनी आत्मा नित्य आनन्दरूप में सदा प्रकट भास गई तो दुःख रूप संसार का स्मरण भी नहीं होगा और संसार में कुछ भी होना या आना तो बिल्कुल ही असम्भव होगा और संसार में होने या आने के भाव की आवश्यकता नहीं रहेगी। संसार के बारे में चिन्तन या स्मरण करना भी असम्भव हो जाएगा। इस का तात्पर्य यह हुआ कि संसार

卐卐

का मन या संसार में कुछ भी होने का मन सदा के लिये ही बुझ जाएगा। यही सदा संसार में होने का मन या संसार को याद करने का मन यदि न रहा, तो यह संसार में कुछ भी होने का भाव नहीं रहेगा और वह मन सदा के लिये बुझ जाएगा। इसी का नाम निर्वाण है कि संसार में होने का मन सदा के लिये बुझ जाए। यही निर्वाण का अर्थ है। परन्तु यह तभी होगा जबकि आत्मा का नित्य ज्ञान और आनन्द स्वरूप सदा के लिये अपने आप में प्रकट भास जाए। भास तो यह सदा ही रहा है। परन्तु दुनिया के बन्धनों में बंधा हुआ मन इस का अनुभव नहीं कर सकता। इन्हीं अविद्या के बन्धनों से मुक्त हो जाए और आत्मा का स्वरूप आनन्दरूप से प्रकट हो जाए जो पूर्ण मुक्त स्वरूप है और यह अन्तिम गति है। इसके पश्चात् कुछ भी शेष पाने का या प्राप्त करने का भाव तक भी नहीं रहता। यह पद निर्वाण है कि संसार में होने का मन या बना रहने का मन हमेशा (सदा) के लिये बुझ जाना। यही मोक्ष पद से कहा जाता है। इसी का नाम मुक्ति है और यही परम पद है। इसी परम पद को जीवन काल में अनुभव के लिये किसी भी व्यक्ति को अपने जीवन को कुछ इसी के अनुसार साधना पड़ता है।

प्रथम तो साधक व्यक्ति को अपने मन को पापों से टालना पड़ता है, खोटे कर्मों से बचाना पड़ता है। जब खोटे कर्मों से मन टल जाएगा तो आसन पर बैठ कर ध्यान के योग्य भी हो जाएगा। ध्यान करता हुआ व्यक्ति इसी अपने ध्यान को अपनी अन्तरात्मा की ओर मोड़ेगा

अर्थात् जिस प्रकार अपने सुख दुःख का मनुष्य को पता पड़ता है और अपने काम, क्रोध आदि विकारों का भी पता पड़ता है, इसी प्रकार उस साधक व्यक्ति को अपने मन के द्वारा अन्तर्मुख होकर उन सब्र संसार के बन्धनों को प्रकट अपने मन में देखने का बल प्राप्त करना पड़ता है। जब यह बन्धन (अविद्या, राग व द्वेष आदि बन्धन) प्रकट अपने आसन पर ध्यान में दीखने लगें तो उन का टालने का भी प्रयास बनने लगेगा; क्योंकि मनुष्य के अन्दर विचार द्वारा यह प्रकट सिद्ध हो जाएगा कि यही सारे बन्धन संसार में ही जीव को अस्तित्व पाने के लिये धक्का देते हैं; तभी उन को संसार में अपना अस्तित्व या होना भासता है। तब उन को अपनी सत्ता दीखती है, क्योंकि ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जो सदा के लिये उजड़ना चाहे, परन्तु यह अपने आप का बना रहना संसार में दूसरों के संग से जानता और समझता है। जहाँ संसार का व्यापक जीवन या एक दूसरे का मेल या मिलाप नहीं है, वहाँ उस को अपने आप में अकेले अपना आपा नहीं भासता, तो ऐसी अवस्था में अपनी उजड़ती हुई 'मैं' या अपना आपा पुनः पाने के लिये संसार में ही जन्मता है, क्योंकि अपना आपा संसार के बिना उसको मिलता कहीं नहीं। यदि यह मनुष्य या साधक थोड़ा सब बन्धनों को मन में देखता हुआ उनके अनुसार संसार में कोई भी अपना अस्तित्व या सत्ता नहीं लेता और उन सबको जो संसार में ही उत्पन्न करते हैं, तुच्छ समझता हुआ एक-एक करके टालता जाए और उसके अनुसार चलायमान

न होकर संसार में कोई सत्ता या अस्तित्व न ले और उनका साक्षी रह के उनको क्षण-क्षण देखता हुआ टालता जाए तो अन्त में यह एक-एक करके दृष्टि इत्यादि अविद्या तक सब बन्धन टलते जाएँगे। जैसे पानी की धार बहती जाती है और नया-नया पानी उसमें दीखता है; कोई जल भी ऐसा नहीं जो उस धार में टिका बैठा रहे; ऐसे ही जैसे दीपक की बत्ती जलती जाती है उसका कोई भी टिका रहने वाला प्रकाश नहीं है; क्षण-क्षण में बहता और बदलता ही जाता है परन्तु दीखता एक जैसा ही उसका प्रकाश है या उसकी ज्वाला है। इसी प्रकार ही मन में कोई भी बन्धन या उनसे होने वाले काम, क्रोध, शंका, भय आदि विकार कोई भी टिके या बने रहने वाले नहीं हैं। मन में बहते-बहते उजड़ जाते हैं। जब ये सारे अन्दर अपने आप में उजड़ते हुए दीखने लगें और इनके रास्ते जीव को बहने का कोई प्रयोजन दीखता ही नहीं तो केवल शुद्ध साक्षी रह कर इन को देखते-देखते सब बन्धन उजड़ जाएंगे; तो शुद्ध हुए-हुए मन में निर्मल सब बन्धनों से परे आत्मा या केवल ज्ञान स्वरूप अपना आपा या आत्मा सुख रूप से प्रकट भासने या झलकने लग जाएगा और उसके आनन्द के अनुभव से तृप्त हुआ-हुआ जो अन्तर्मुख साधक है वह कभी भी संसार की किसी सत्ता का चिन्तन भी नहीं करेगा; क्योंकि आत्मा नित्य स्वाभाविक ज्ञान रूप से, बिना किसी दूसरे के संग से आनन्दरूप से चमक रहा है, फिर इस आत्मा की सत्ता या हस्ती अनुभव करने के लिये संसार का चिन्तन क्यों

करना पड़ेगा ? अर्थात् संसार का चिन्तन अब कभी हो ही नहीं सकता। संसार में तो वही मन भटकता है जिसको अपनी ज्ञान स्वरूप आत्मा का आनन्द रूप से प्रकाश का अनुभव हुआ नहीं, अब वह अपने ज्ञान स्वरूप आत्मा को पाने के लिये दूसरे के संग के लिये संसार में ही भागता है अर्थात् संसार में ही जन्मता है; जो जन्मेगा वह मरेगा भी; फिर मरा हुआ सदा अज्ञान के अंधकार में भी वह नहीं रह सकता; जैसे निद्रा से जब मनुष्य (आदमी) उठता है या जागता है तो फिर संसार में ही कुछ अपना आपा अनुभव में करता है तो उसे कुछ चैन मिलती है कि "मैं कुछ भी बना हुआ हूँ या बसा हुआ हूँ, उजड़ा नहीं, नष्ट नहीं हुआ, मेरा उच्छेद (अत्यन्त विनाश) नहीं हुआ"। परन्तु यह जो उसका संसार में होना, सदा आनन्द रूप से तो रहता नहीं। आनन्द रूप अपनी आत्मा को पाने के लिये फिर वह सोचता हुआ जन्म पाएगा, वह भी सदा नहीं रहना; तो इस प्रकार वह जन्मता मरता रहेगा। जब कहीं सुख वाला अपना आपा दीखे वहीं किसी जीव (मनुष्य) का मन टिकता है। अब अपने इस सुख के लिये न जाने जीव उचित अनुचित क्या-क्या कर्म कर जाता है। ये कर्म अपने बल रखते हैं। ये कर्म तो निद्रा में पड़े हुए व्यक्ति को भी क्या-क्या दृश्य दिखा जाते हैं; क्योंकि जीव अपने सुख के लिये जो कोई इस लम्बे चौड़े संसार में कर्म करता है वह कई कर्म दूसरे व्यक्तियों से छुपा कर के भी रखे जाते हैं। वह छुपे हुए कर्म अपने ढंग की ही सृष्टि पैदा करेंगे, हो सकता है

कि यह कर्म इतने उग्र या भयंकर हों कि जीव को पुनः मनुष्य जन्म भी न पाने दें; जैसा भाव होगा वैसा ही जन्म मिलेगा। कुत्ते जैसा भाव होगा तो कुत्ता ही बनेगा, सर्प जैसा कुटिल भाव होगा तो सर्प ही बनेगा। केवल बुद्धि ही यदि रखेगा अर्थात् चिन्तन करके किसी वस्तु का निर्णय करके उस के अनुसार अपने को भले मार्ग पर चलाएगा जिसको कि किसी से छुपाना नहीं पड़ता, तो इस बुद्धि को रखने वाला तो सही रूप से कम से कम मनुष्य तो अवश्य बनेगा। आगे कल्याण का रास्ता यदि इस बुद्धि द्वारा सब बन्धनों को पहचान कर टालता हुआ अपने निर्मल ज्ञान स्वरूप आत्मा को पा गया, तो वह सदा बने रहने वाले टिकाव को भी पाएगा अर्थात् संसार में जन्म मरण से रहित हो जाएगा। इसलिये इस ऊपर कहे हुए का तात्पर्य यह है कि जो संसार में ही सत्ता पाने का जीव का स्वभाव है, उसमें तो न जाने जीव कहाँ-कहाँ जन्म ले सकता है। मनुष्य से नीच से नीच योनियों में भी जन्म हो सकता है। इसलिये अपने ध्यान द्वारा संसार के सुखों को तुच्छ समझ कर और संसार की सत्ता या संसार में जन्मने और होने को दुःख रूप समझ कर इससे सदा मुक्त होने के लिये अपनी आत्मा में नित्य टिकाव पाने का ही मन उपजाए और वैसे ही ऊपर कहे हुए के अनुसार सब यत्न करे। इसी प्रकार सब प्रकार के संसार से मन बुझ जाने पर अपनी आत्मा में यदि टिकाव पा गया तो यही निर्वाण परम पद स्वरूप है और अनन्त है अर्थात् जिसका कभी भी नाश (खात्मा) नहीं होता अर्थात् मोक्ष

卐卐

में भी या मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा में ऐसे साधक को अज्ञान नहीं भासता। अपना आपा रूप आत्मा सदा प्रकट रहता है। आत्मा कभी छुपता नहीं तो इस छुपे हुए आत्मा को पाने के लिये फिर संसार में क्यों आना पड़ेगा ? यह सब परम पद है जोकि अपनी आत्मा में नित्य टिकाव हो जाना। और जीवन काल में यदि ऐसे टिकाव का अनुभव हो गया, तो ऐसे व्यक्ति के सब कर्तव्य पूरे हो गये और उसका कुछ भी करने का मन भी नहीं उपजेगा। दुःख और भय का निशान भी नहीं रहेगा। मृत्यु और जन्म करके कुछ भी नहीं रहेगा।

अब उपर्युक्त कहे गये बन्धनों का संक्षिप्त परिचय आगे वर्णन किया गया है।

卐 बन्धन 卐

(Spiritual Fetters)

यह संसार जिस में प्राणी उत्पन्न हुआ है, यह किसी एक प्राणी से या उसकी शक्ति से उत्पन्न नहीं हुआ। और न इसे कोई एक प्राणी या उसकी शक्ति ही चला रही है। यह अनादि शक्तियों के प्रभाव से ही चल रहा है। यह केवल मनुष्य में ही नहीं अपितु सब जीवों में कीट, पतंग, पशु, पक्षी सब में समान रूप से बहता हुआ देखा जाता है। इस संसार को उत्पन्न करके चलाने वाली शक्तियों की प्रेरणा सबमें समान रूप से काम, क्रोध, लोभ इत्यादि विकारों द्वारा जीवों को सुख और दुःख दिखा कर राग, द्वेष, मान, मोह इत्यादि बन्धनों में बाँधे रखती है। यह सब जगत् का बन्धन है। यदि इन शक्तियों की प्रेरणा का कोई उल्लंघन करना चाहे, तो ये उसे दुःख दिखा कर इतना परेशानी में डाल देती हैं कि हर एक व्यक्ति की बुद्धि व मन उस दुःख में काम करने के योग्य (लायक) भी नहीं रहता। इन बन्धनों से वह सदा इन शक्तियों का, जो कि संसार को चलाती हैं, उन्हीं का आज्ञाकारी बना रहता है। इससे निकलने की या छूटने की या मुक्त होने की इच्छा रूप मुमुक्षा (मोक्ष की इच्छा) तक भी नहीं होती। यदि वह इच्छा करे, तो वह उसके विपरीत बड़ा भयंकर दुःख रूप प्रतीत होता है। इन शक्तियों के द्वारा रचे हुए संसार प्रवाह में बहते रहना ही अच्छा लगता है। यही जगत का बन्धन है। जो

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

इससे छूट कर केवल अपने आप में आनन्द रूप है, वह छुपा हुआ ही रहता है। यह अविद्या का पर्दा है, जो कि दुःख रूप और उलझन रूप संसार को अच्छा करके दिखा रहा है और इसके अन्दर जरा अवस्था, रोग, परस्पर विरोध, और परिवर्तन इत्यादि के दुःख पर दृष्टि पड़ने नहीं देता। जो इनको दुःख रूप से पहचान कर सत्य को समझे, वह इनसे मुक्त होना चाहेगा। इस बन्धन से मुक्त होने के लिए थोड़ा प्रकृति का या प्रकृति के ऊपर संसार चलाने वाली शक्तियों का विरोध करना पड़ता है। सुख दिखा कर यह प्रकृति शक्ति प्रेरणा करतीं है और सुख वाली वस्तु में राग उपजाती है और सुख दिखा कर उस वस्तु के साथ मन को सदा बाँधे रखती है। सुख वाली वस्तु मन से नहीं उतरती। उसी का चिन्तन मन में बना रहता है। यही राग रूप बन्धन है। जब इसे भूलने की चेष्टा की जाए और इसके दुःख का अनुभव किया जाए, तो मन इतना परेशान हो जाता है कि उसे कुछ सूझता ही नहीं, यही अविद्या या अज्ञान रूपी बन्धन का पर्दा है। इससे वह इस अन्धकार से छूटने के लिए और ज्ञान रूप जीवन पाने के लिए पुनः उस वस्तु की ओर भागता है जिसमें उसका राग है। यही वस्तु की ओर आकृष्ट होना रूप काम व इच्छा ही इसको लुभा कर मोक्ष के मार्ग पर चलने नहीं देती। इसी प्रकार दुःख की वस्तु में इसको दुःख दिखा कर यही प्रकृति शक्ति उस वस्तु से दूर हटने के लिए द्वेष रूप विष को दिखाती है। यह द्वेष की वस्तु भी मन से नहीं उतरती।

इसका भी चिन्तन बना रहता है। क्योंकि इससे बचना है, तो बचने के लिए न जाने कितना कुछ सोचना पड़ेगा। इस सब सोच में भी बंधा हुआ जीव अपनी आत्मा के सहज स्वाभाविक सुख से वंचित रहता है। बस यही राग और द्वेष स्वरूप तृष्णा का दुःख इस संसार की वस्तुओं से ही मन को और बुद्धि को भी बाँधे रखता है, मुक्त नहीं होने देता। मुक्ति के लिए सोचने भी नहीं देता। वही प्राणी इस तृष्णा के बन्धन से निकल सकता है, जो इस प्रकृति शक्ति का और राग, द्वेष आदि तत्त्व व बन्धनों का विरोध करने पर, जो दुःख मालूम होता है और जो सुख वियुक्त (बिछड़ता) होता है, इन दोनों को सहन कर सके अर्थात् उस प्रकृति विरोध के दुःख में धैर्यवान रहे और प्रकृति द्वारा होने वाले सुख को भी त्याग कर अपनी बुद्धि विवेक को बनाए रखे, जिससे कि साधक को आगे होने वाला मोक्ष का जो सुख है, इसकी स्मृति मन से न उतरे। इसके लिए ही कई गुणों को मनुष्य को अपने अन्दर धारण करना पड़ता है; जो कि प्रकृति के विकारों में या बलों के विपरीत है। जैसे कि त्याग, तप, वैराग्य, क्षमा, सन्तोष, धैर्य इत्यादि। इन गुणों द्वारा प्रकृति के विकारों से थोड़ी मुक्ति मिलने पर सत्य का ज्ञान विज्ञान रूप विद्या का बल प्राप्त होगा। उसी से ही प्रकृति से छुटकारा या मुक्ति मिलेगी। इनमें से पहला गुण जैसे ऊपर कहा गया है, वह है ''त्याग''। इसी प्रकार और दूसरे भी जो इसके साथ-साथ कहे गए हैं, इन सबको अपने आप में

धारण करने के लिये विचार और विवेक को उपजाता जाएगा। इन गुणों को उत्पन्न करने में कुछ कष्ट भी प्रतीत हो, तो मुक्ति रूप महान् फल पाने के लिये उत्पन्न करता ही रहे और अपने आप में यह स्वभाव से बसने वाले बन जाएँ। यहाँ तक अपने विचार बल को प्रकट करता जाए।

१. दृष्टि बन्धन (Viewing/Feeling) :

बालक ने संसार में उत्पन्न हो कर जैसे-जैसे वस्तुओं को या प्राणियों को जाना पहचाना एवं समझा यह उसकी दृष्टि का बन्धन है। जब वह उत्पन्न हुआ था तब इन्द्रियों द्वारा शब्द आदि विषयों का ज्ञान तो होता था, श्रोत्र से सुनने का, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन चारों का ज्ञान क्रम से त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण इन चारों से होता था। इन्हीं की ही समझ पड़ती थी शेष और क्या है ? कौन वस्तु क्या है ? यह उसको कुछ पता नहीं था। गाढ़ अविद्या उसके मन में छाई हुई थी, विचार करने वाला मन सुख दुःख का तो संवेदन (महसूस) करता था परन्तु अभी बुद्धि नहीं जागी थी। शनैः-शनैः उस बालक की विविध-रूप से दृष्टियां बनने लगीं, जैसे कि किसी देह में पिता पहचाना, किसी में माता, भाई, बहिन, मित्र, शत्रु इत्यादि यह सब उसकी बुद्धि में ही केवल दृष्टि रूप से ही बैठे अर्थात् ज्ञान रूप से ही प्रकट हुए। अब उसकी दृष्टि से बालक ने उनको सत्य बना दिया जैसे इन का

卐卐

अस्तित्त्व (हस्ती) होता है। वैसे यह अस्तित्त्व केवल बालक की बुद्धि में ही है और दूसरे व्यक्तियों को तो वे सारे व्यक्ति पिता, माता, मित्र इत्यादि रूप से नहीं दीखते। इसलिये यह केवल बालक की दृष्टि की ही सृष्टि है। उसी दृष्टि रूप बन्धन से बंधा हुआ सुख दुःख हेतु कई प्रकार के कर्मों में और कई प्रकार के मन के भावों में बंधा रहता है, जिससे कि इच्छा व अनिच्छा से भी कई प्रकार के कर्म करने पड़ते हैं। इसी दृष्टि द्वारा देह में न जाने और भी क्या-क्या वस्तुएं मनुष्य समझता है जैसे कि कोई मेरा अपमान करने वाला, कोई मान, हानि, लाभ करने वाला, कोई सुख दाता, कोई दुःख दाता, कोई चोर इत्यादि-इत्यादि। यह सब संसार दृष्टि रूप ही है। यह बुद्धि में ही उपजता है। बाहर इसकी कोई सत्यता नहीं, केवल व्यवहार के लिये ही है। यही दृष्टि बन्धन इसी देह में जो क्षण-क्षण परिवर्तित होती (बदलती) रहती है उसमें क्या-क्या, किन-किन आत्माओं को बैठाता है और सदा बना रहने वाला समझता है। इससे मनुष्य शंका, भय, राग, द्वेष, मान, मोह आदि से पीड़ित होता रहता है। कोई एक क्षण के इसी के व्यवहार या बर्ताव को देखकर उसी व्यवहार द्वारा उस व्यक्ति को कुछ का कुछ बना देता है और काम, क्रोध की आग में जलता हुआ संसार में बहुत प्रकार से बहता रहता है, तो यह सब दृष्टि बन्धन की लीला है। धन शुभ है, परिवार शुभ है और न जाने अनेक शुभ दृष्टियां करके नाना प्रकार से

बंधता जाता है और वह शुभ दृष्टि रूप मिथ्या दृष्टि का शिकार बना हुआ सत्य को नहीं पहचानता और यदि यह दृष्टि बन्धन टूटे तो इसके सहारे टिका हुआ जगत् बन्धन भी छूटे।

जिस प्रकार बालक ने जन्म से ये दृष्टियां एकत्रित की हुई हैं और इन्हीं के सहारे संसार में कई प्रकार से उलझा हुआ स्वयं अपने आप में भी, अपनी देह में भी कई प्रकार की दृष्टि करता जाता है। कहीं धनी, कहीं बुद्धिमान्, कहीं वीर या और कई प्रकार जैसे कि भीरु इत्यादि होता है जैसी दृष्टि, वैसी उसे, उसकी अपने आप बनने की सृष्टि। ये दृष्टियां मरते समय तक भी वृद्ध व्यक्ति में भी नहीं छूटतीं और मृत्यु में भी नहीं छूटतीं। इन्हीं के सहारे से संसार सारा ही उस जीव को सत्य या सदा बने रहने वाला प्रतीत होता है। यह सब दृष्टि की ही सृष्टि है। जिस प्रकार से कोई व्यक्ति किसी को दृष्टि में बसाता है और दृष्टि में बसा कर जैसे व्यवहार (बर्ताव) करता है, दूसरा भी उसके व्यवहार को दृष्टि मे लाकर उसे वैसे ही समझ कर अपने ढंग का ही व्यवहार करता है। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे में दृष्टियां बनती रहती हैं और उन्हीं से सृष्टि रूप नाना प्रकार के व्यवहार होते रहते हैं। ''है है'' करके सब कुछ समझते हैं, परन्तु 'है' करके यह कोई सच्ची नहीं एवं कुछ भी नहीं। यही सब केवल अपने मन की दृष्टि है। बाहर शत्रु, मित्र करके कोई जन्मा हुआ नहीं है केवल दृष्टि या मनुष्य की अपनी

卐卐

नज़र में ही है। यही दृष्टि का बन्धन है। इसी तरह देह में सदा बसे रहने वाला अपने आप को या इसी देह को मनुष्य, ''मैं'' करके समझता है जैसे कि यह देह ही मैं हूँ या देह ही आत्मा है जो कि सदा बने रहने वाला है अर्थात् सत्य है। इसी को शास्त्रों में देहात्म दृष्टि कहा है और किसी शास्त्र ने इसे सत्य काय दृष्टि भी कहा है। इसका अर्थ यह है कि देह में आत्मा की बुद्धि या देह में कोई सांसारिक सदा बना रहने वाले की बुद्धि। केवल यह सब दृष्टि मात्र का ही बन्धन है जैसे कि किसी की दृष्टि हुई कि यह चोर है या यह दुष्ट है इत्यादि। यह 'है' करके ही समझ लिया तो इसका तात्पर्य यह है कि वह देह सदा के लिए ही दुष्ट या चोर है। यही सदा के लिए किसी एक बने रहने वाली आत्मा या कोई तत्त्व उसमें पहचानना यही काया में सत्य की दृष्टि या देहात्म दृष्टि है। यद्यपि वह चोरी व दुष्टता का एक क्षण का ही व्यवहार था; पर दृष्टि बन गई कि जैसे यह देह सदा के लिए चोर या दुष्ट हो। यह किसी विशेष की ही हो गई। सबके लिये तो यही चोर, शत्रु आदि की दृष्टि नहीं है; क्योंकि वह व्यक्ति सबके लिये चोर या शत्रु नहीं भासता। किसी की उसी में मित्र की दृष्टि भी बन सकती है और उसे कोई भला मानस भी समझ सकता है। अब चोर व दुष्ट उसमें सदा बने रहने वाला आत्मा या सत्य रूप से दीख रहा है। अब थोड़ी दृष्टि शुद्ध कर ले और उस दुष्ट कर्म की अवहेलना कर दे तो न कोई चोर, न कोई दुष्ट। यह

卐卐

दृष्टि टूट जाए और दृष्टि से मुक्त हो जाए और इस प्रकार दृष्टि बुझते ही दृष्टि से मुक्त हो गया। इस दृष्टि की अवहेलना का तात्पर्य यह है कि वह मिथ्या दृष्टि जिससे कि आपके मन में शंका, वैर, भय, प्रीति, मान, अपमान आदि की सृष्टि होती है उस मिथ्या दृष्टि के स्थान पर आप अच्छी (भली) दृष्टि करने का प्रयत्न करें। जैसे कि सबके देह में बसा हुआ वासुदेव जोकि सबके देह रूपी मशीन को चला रहा है उसी की दृष्टि करें अर्थात् उसी को देखें और उसी को दृष्टि में रखते हुए अपना अच्छा (भला) व्यवहार करें। इस प्रकार मन में मिथ्या दृष्टि से उत्पन्न होने वाले काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, मत्सर आदि विकार सब शान्त हो जाएंगे। यह सब विकार प्राकृतिक हैं अर्थात् स्वभाव से या प्रकृति से ही सब जीवों में सुख दुःख के कारण एक दूसरे के आमने सामने पड़ने पर बिना यत्न के उत्पन्न होते रहते हैं और उत्पन्न हो करके विद्युत के समान शरीर इन्द्रियों आदि को अपने ही ढंग से चलाते या प्रेरित करते हैं। मनुष्य केवल यन्त्र (मशीन) के समान इन्हीं से प्रेरित होता हुआ कई प्रकार के दुष्कर्मों को भी करता है और पुनः उनके परिणाम स्वरूप भयंकर दुःख भी पाता है। यह सब वह जानता हुआ नहीं करता, किन्तु जैसे दृष्टि बनती है वैसे ही जीवों के अन्दर यही सब मन के भाव और विकार उसे चलाते हैं और यदि यह दृष्टि न बने या बनने पर भी शुद्ध भली दृष्टि सब स्थान पर व्यापक चेतन रूप वासुदेव की ही

बन जाए या इस प्रकार से दृष्टि शुद्ध हो जाए कि जीवों के आमने सामने पड़ने पर जैसे भी मन में विकारों की तरंगें उठती हैं और उन्हीं के अनुसार ही कर्म होते हैं और जीवों को उनके अनुसार दुःख सुख हो जाता है। इसमें कर्ता और कोई नहीं है, केवल समय पर दृष्टि के प्रादुर्भाव से जो-जो विकार बनते हैं वही सब को चलाते हैं, चाहे यह मेरा देह है, चाहे वह किसी और का देह है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि खोटा करने वाले के स्थान पर यदि मैं भी हूँ तो मैं भी वैसे ही चलूंगा, क्योंकि चलाने वाली जो शक्ति है वह मिथ्या दृष्टि की ही है। परन्तु यदि यह मिथ्या दृष्टि दूर हो जाए तो चाहे मैं हूँ या कोई और है तो वह अच्छी दृष्टि या अच्छी (भली) दृष्टि रखता हुआ अच्छा ही कर्म करेगा। वह कम से कम बुरा तो नहीं होने देगा। जैसे कि वैरी आदि की खोटी दृष्टि होने पर किसी दूसरे का बुरा करने के लिए प्रेरित होना, और अन्त में अपने आप भी बुरा फल दुःख रूप से अनुभव करना। इसलिए मनुष्य का परम कर्त्तव्य यह है कि संसार में सबके साथ रहता हुआ भी अपने मन की उपस्थिति और स्मृति (याद) के साथ रहे जिससे कि उसको सूचित होता रहे या पता लगता (पड़ता) रहे कि मेरे अन्दर सांसारिक घटनाओं से क्या-क्या हो रहा है और कैसी-कैसी दृष्टियां बनती हैं। जहाँ कहीं खोटी दृष्टि बनने लगे, उसका तुरन्त सुधार करे और उसके स्थान पर अच्छी दृष्टि बनाए। खोटी दृष्टि वह है जिसका फल खोटा, दुःख या अशान्ति हो। चाहे ऐसी दृष्टि सांसारिक

प्राणियों के कहने सुनने में ठीक भी मानी जाए या उचित भी समझी जाए परन्तु दुःख और अशान्ति का कारण होने से यह खोटी ही समझ कर त्यागने योग्य है। अच्छी व भली दृष्टि वह है जो कि सुख की ओर या दुःख निवृत्ति की ओर अग्रसर करे।

चाहे वह दृष्टि उचित व सत्य रूप से न भी निश्चय करने में आए, परन्तु भलाई की ओर ले जाने के कारण से वह अच्छी ही दृष्टि कही जाएगी। जैसे कि अभी सब के अन्दर विराजमान एक ही आत्मा या परमात्मा सर्व साधारण जन को समझ में नहीं आता, परन्तु इसकी दृष्टि सबमें की जाए तो वैर विरोध आदि से मनुष्य मुक्त हो जाएगा और यदि इसकी दृष्टि न करके चाहे कोई वैरी के समान ही कर्म करे परन्तु उसको वैरी रूप में मन में बसाने में अर्थात् उसमें वैरी की दृष्टि (नजर) करने पर तो मन में क्रोध, अहंकार, वैर और उसका बुरा करने की भावना ही होगी। इनके सिवाए और क्या कुछ हो सकेगा तथा जिससे सब मिथ्या कर्म या दुष्ट कर्म होंगे और अन्त में दुःख और अशान्ति होगी। ऐसी अवस्था में थोड़ा अपने सुख को भी त्याग कर और दुःख को भी सहन करके यदि कोई मनुष्य वैरी की दृष्टि न करके उसमें कुछ तो देखना ही पड़ेगा, तो उसमें ज्ञान रूप से सर्वव्यापक को ही देखे, जोकि देह की मशीन को अपनी माया शक्ति द्वारा चला रहा है। उसी की ही ज्ञान के साथ माया रूपी विद्युतशक्ति जोकि सब देहों में सर्वथा प्रवाहित होती रहती है, उस माया पति को ही ज्ञान रूप

में होता हुआ क्यों न पहचाने, जोकि कीट, पतंग, पशु, पक्षी, मनुष्य और देवताओं में भी समान रूप से बस रहा है। यही सच्ची या भली दृष्टि है। इस दृष्टि से जगत् का बन्धन टलेगा और दुःख आदि से निवृत्ति और अन्त में परमानन्द रूप में इसी परम तत्त्व की प्राप्ति होगी।

यह दृष्टि ही सब वस्तुओं को सत्ता देने वाली है जैसे कि जब बच्चा पैदा (उत्पन्न) या संसार में आया, तो वह किसी वस्तु को भी नहीं समझता था कि यह वस्तु क्या है? किन्तु जैसे-जैसे वह दूसरों की दृष्टियों को समझता गया वैसे ही वह वस्तुओं को सत् बनाता गया, किसी में पिता की दृष्टि, किसी में माता की दृष्टि, किसी में बहिन-भाई की दृष्टि। इस प्रकार दृष्टियों से ही उसने माता-पिता, भाई-बहिन और सारे संसार को सत्ता दे दी तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसी वस्तु को अपने ज्ञान में जिस प्रकार बसा लिया उसको वैसे ही सत्ता (हस्ती) या अस्तित्व दे दिया गया, अब यदि कोई मनुष्य इस दृष्टि को शुद्ध कर ले और इस दृष्टि को व्यवहार की या बर्ताव के संसार तक ही सीमित रखे और परमार्थ में या सत्य में इसको न लाए, तो वह इस दृष्टि के बन्धन से मुक्त होकर और दृष्टि से ही बनाए हुए सारे संसार से मुक्त होकर परमधाम रूप सर्वआत्मा स्वरूप केवल चेतन तत्त्व को ही पाएगा।

यह दृष्टि ही प्रथम एक ऐसा बन्धन है कि कहीं यह संशय पैदा कर देती है और कोई एक दृष्टि इसी संसार के दृश्य को इस प्रकार सामने उपस्थित कर देती है कि

卐卐

मनुष्य कर्तव्य के बारे में सोचने में ही व्यर्थ लम्बा समय व्यतीत करता रहता है अर्थात् मिथ्या कर्तव्य सम्बन्धी सोचों या विचारों में ही खोया रहता है। यह सोच और विंचार उसके समाप्त ही नहीं होते। चाहे वह उसका सोचना व लम्बा विचार करना किसी काम में भी नहीं आए, परन्तु सुख के राग और दुःख का द्वेष या मान आदि के कारण से करने कराने की सोचें समाप्त ही नहीं होतीं। क्योंकि दृष्टि में कोई ऐसा ही संसार का दृश्य बस जाता है जिसमें कि इस दृश्य के बारे में सोचने का प्रलोभन इतना प्रतीत होता है कि वह सोचे विचारे बिना रह ही नहीं सकता। जैसे कि कोई आकर्षक वस्तु उसकी दृष्टि में आ जाए उसको पाने के लिये ही कई प्रकार के व्यर्थ सोचों में ही पड़ा रहता है, चाहे वह जानता भी है कि यह उसे मिलने की नहीं है। इसी प्रकार कोई दुःख देने वाली वस्तु उसकी भी दृष्टि बंनने पर, उस दुःख से बचने के लिए भी कई प्रकार की सोचों में पड़ा रहता है, चाहे उस दुःख से बचने की शक्ति भी न हो और भी जैसे कि कोई मिथ्या कर्म किया, तो उसका फल तो होना ही है, उसकी दृष्टि बार-बार बनने से अब किए हुए कर्म की सोचों में पड़ा रहता है तो यही सब दृष्टि के बन्धन हैं जोकि मनुष्य को कई प्रकार के दुःख रूपी संसार में उलझाए रखते हैं। यदि सब दृष्टियां समाप्त करके मनुष्य अपने आप में स्थित हो जाए, तो जानना चाहिए कि वह सब प्रकार से संसार की सत्ता से मुक्त होकर परम पद निर्वाण को प्राप्त हो गया।

卐卐卐

२. संशय (Doubts/Suspicions/Fears):

संशय नाम सन्देह का है अर्थात् कि कोई वस्तु किस प्रकार की है, किस प्रकार से होती है, जितना अधिक कोई मनुष्य बाह्य या सांसारिक सुखों का अनुसरण करता है या उनके पीछे लगा रहता है उतना ही अधिक उसको संशय का शिकार बनना पड़ता है कि कहीं यह मेरा सुख खो तो नहीं जाएगा ? कहीं विपरीत तो नहीं आ पड़ेगा ? इस प्रकार के सुख के होने या न होने का संशय मनुष्य को बहुत प्रकार से बना रहता है। उतना ही दुःख के आ पड़ने का संशय भी बना रहता है कि अमुक-अमुक (फलाना) दुःख कहीं मुझे आ तो नहीं पड़ेगा ? इसी प्रकार व्यक्तियों के बारे में भी कई प्रकार के संशय उनके हितकारी और अहितकारी के स्वरूप में मन में प्रकट होते रहते हैं और वस्तुओं के बारे में भी कि अमुक-अमुक वस्तुएं मेरे लिए भली होंगी या बुरी होंगी। अब इसी प्रकार अपने आप को धारण करने के बारे में भी कई प्रकार की दुविधा (संशय) बनी रहती है अर्थात् धर्म के बारे में भी संशय रहता है कि कौन धर्म ठीक है कि कैसे मुझे अपने आप को रखना चाहिए। एक तरफ सुख रोते हैं और दूसरी ओर दुःख डराता है या भय दिखाता है। इस प्रकार यही सब संशय रूप बन्धन मनुष्य को अपने कल्याण के लिए अग्रसर नहीं होने देते और निर्वाण के रास्ते का प्रतिबन्ध होता है।

इसका सारांश यह है कि संशय दुविधा के भाव को उत्पन्न करके मनुष्य को उलझाए रखता है और अपनी

卐卐卐

आत्मा में शान्त होने का सुख नहीं होने देता। अतः इस दुविधा भाव को छोड़ कर मनुष्य को कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होना चाहिए। खाने, पीने, सोने, जागने और दूसरों से कई प्रकार के व्यवहारों में जो-जो संशय भाव उत्पन्न होता है उसको विचार से भजन द्वारा और त्याग द्वारा दुःख सहन करके भी समाप्त करना चाहिए। संशय के हटे बिना मनुष्य निश्चय के साथ मोक्ष के मार्ग पर नहीं चल सकता। संशय अधिकतर सुखों के जाने का और दुःखों के आ पड़ने का ही होता है। बुद्धि विवेक को जगा कर संशय को नष्ट कर दे अर्थात् संशय वाला मन बना न रहने दे। श्रुत, धर्म ग्रन्थों को सुनना और सुनकर के उनके अर्थ का सही निर्णय करके चलने चलाने के लिए अर्थात् धर्म का मार्ग सही पाने के लिये मन में धर्म के रास्ते पर रहने वाले संशय को मन में से कतई निकाल देना। तब धर्म का आचार ठीक होगा; नहीं तो शंका में पड़ा हुआ मन कुछ अपने कल्याण का रास्ता नहीं चल सकेगा। धर्म के सही स्वरूप का निश्चय करने पर धर्म के मार्ग में आने वाले सब संशय को विदा कर दे। निश्चय के करने पर पुनः भी यदि संशय मन में बना हुआ या बहता हुआ दृष्टिगोचर हो (नज़र में आए) तो उसे देखते-देखते ही टालता जाए या टालने का अभ्यास करे। जैसे कि दुःख को विवेक द्वारा सहन करते हैं, ऐसे ही सहन करते-करते व्यतीत कर दे। जैसे कि खुजली, न करने पर भी सहन करने से थोड़े समय में अपने में ही मिट जाती है, इसी प्रकार संशय को भी बहुत अधिक

सोचे बिना अपने आप ही टलने दे। जितना कुछ निश्चय करने के लिए उचित हो उतना ही विचार द्वारा विवेक जगा कर संशय को टाल देना (निवृत्त कर देना), जब फिर भी मन में संशय बहता हुआ या पुराने अभ्यास से उपजता हुआ दृष्टि में पड़े तो विवेक जगाना। जब यह दृष्टि में पड़े कि अब युक्ति के बिना भी संशय केवल आदत से ही बना बैठा है, तो इसे बिना विचार के भी केवल साक्षी भाव से देखते-देखते ही व्यतीत करने का यत्न करे, समय आने पर स्वयं टल ही जाएगा। मन में कुछ भी सदा बना रहता नहीं। क्षण-क्षण मन परिवर्तित (बदलता) होता रहता है। इस नियम के अधीन संशय भी चिरकाल तक स्थायी नहीं रह सकता, केवल धैर्य की आवश्यकता है। थोड़ा निद्रादि को रोकता हुआ आसन पर यदि स्थिर रहे तो संशय के टल जाने का अनुभव मनुष्य को स्वयं ही प्राप्त हो जाएगा। इस प्रकार संशय के टालने की शक्ति प्राप्त हो जाएगी। पुनः जब कभी संशय मन में उत्पन्न (पैदा) होगा तो वह इसे अब बिना कुछ सोचे समझे या विचार जगाए केवल धैर्य द्वारा ही साक्षी रहता हुआ देखते-देखते ही टाल देगा। विचार से तो केवल पहले-पहले एक आध बार ही टाला जा सकता है। विचार जगा कर ज्ञान द्वारा संशय की तुच्छता और व्यर्थ भाव समझ कर इसके बारे में बहुत कुछ सोचना व्यर्थ ही समझा जाता है केवल धैर्य से सहन करते-करते इस का परिहार या निवर्तन (टालना) साधा जाता है।

संशय बंधन का क्षेत्र भी इतना विस्तीर्ण (विस्तार वाला) है कि यह भी ध्यान द्वारा ही समझा व मापा जाता है। अपने हित के लिये यदि अल्प (थोड़ा) सुख भी त्यागना पड़े या पुनः अल्प (थोड़ा) दुःख सहना भी स्वीकार किया जाए, और वह स्वीकार भी संकल्प पूर्वक, अर्थात् इरादा रख के भले के लिए ही किया जाये तो पापी संशय विदा होने लग जाएगा। संशय मन में बार-बार अपना चक्र लगाता रहता है तथा वह भले कार्य या हित साधन में विघ्न (अड़चन) डालता है। यदि राग, द्वेष, काम, क्रोधादि को त्यागेंगे तो उस में संशय खड़ा होता रहता है। राग त्यागने से मनुष्य का मन यूँ संशय या शंका करता है कि तब तो राग का सुख ही छूट जायेगा; और सुख बिना समय कैसे व्यतीत होगा ? इत्यादि-इत्यादि। इसी प्रकार द्वेष, क्रोधादि छोड़ने पर यूँ संशय उछल कूद मचाता है कि यदि मैं द्वेष, क्रोध छोड़ दूँगा, तो दूसरे सिर पर चढ़ते जायेंगे। गृहस्थ के संसार का काम कैसे चलेगा ? इत्यादि-इत्यादि बहुत प्रकार से संशय का बन्धन मनुष्य को बांधे रहता है। राग द्वेष आदि अन्य सब बन्धनों को छोड़ने में भी यही अड़चन डालता है; और भी मान, मोह, अविद्या आदि जिस-जिस बन्धन को छोड़ना चाहेंगे यह (संशय) बीच में पड़ कर अपनी आपत्ति (हुज्जतें) खड़ी करता रहेगा। ध्यान द्वारा एकान्त स्थिर आसन पर बैठ कर निद्रा से भी निपट कर अपने प्रज्ञा बल द्वारा (सत्य के ज्ञान द्वारा) ही इसे पटका जा

सकता है। यह आत्मा को चीरने वाला बन्धन है। इससे बड़े उद्योग से पीछा छूटता है। थोड़ी-थोड़ी बातों में उछलता रहता है। श्वास की गति में भी विघ्न (अड़चन) डालता है। श्वास को व्यवस्थित सुख के साथ चलने न देने से दुःख को ही उपजा कर मनुष्य की बुद्धि को भी विक्षिप्त करता है। वैसे तो सब बन्धनों का भी यही प्रभाव है कि श्वास की गति को विक्षिप्त कर के तन और मन में ये दुःख उत्पन्न करना; और इनसे मुक्त हुए बिना तो सुख का श्वास भी नहीं आता। परन्तु संशय तो विशेष करके मनुष्य के श्वास को संकट में डाल कर खिन्न व दुःखी करता रहता है। इसलिए मनुष्य को श्वास प्रश्वास क्रिया करते हुए भी इसको त्यागने का अभ्यास करना चाहिए। प्राणापान स्मृति इसी प्रयोजन की सिद्धि के हेतु निर्दिष्ट (इशारे से) बताई गई है। इस क्रिया द्वारा सारे बन्धन छोड़ते-छोड़ते श्वास क्रिया की जाती है, जिससे बिना विचार केवल बल पूर्वक ही बन्धनों की शक्ति क्षीण की जाती है। वह अपने स्थान पर बतायी जायेगी। संशय के बारे में भगवान् श्री कृष्ण जी भी यूँ कहते हैं कि जो श्रद्धा से रहित और अज्ञानी है अर्थात् सत्य ज्ञान को नहीं पहचानता और मन में थोड़ी-थोड़ी बात में भी संशय रखता है; तो यह मनुष्य नाश को प्राप्त होता है अर्थात् इसको मनुष्यपने का कोई सुख भी नहीं होता अर्थात् परलोक में भी इसकी आत्मा सुख की अवस्था को प्राप्त नहीं होती।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

३. शील व्रत परामर्श (कर्तव्य सम्बन्धी बहु विचार) : (Undue Obligatory Consideration for Rules and Conduct)

संसार में प्राणी ने उत्पन्न होकर कई प्रकार के व्यवहारों को कर्तव्य करके समझा है। उन के संस्कार बहुत गहराई तक अन्तःकरण में पड़े रहते हैं और वह स्वभाव से ही जीव (मनुष्य) को उसी दिशा में जिधर कि वह पहले चला है उसी दिशा में चलाने के लिए प्रेरित करते रहते हैं। यद्यपि मनुष्य संसार के मार्ग को त्यागना भी चाहे, तो भी संसार में जो कुछ पहले का कर्तव्य समझा हुआ था वह शीघ्र मन से उतरता नहीं। संसार के व्यवहार तो स्वार्थ द्वारा ही निश्चित किए जाते हैं। अब यदि संसार मार्ग को त्याग कर मोक्ष का मार्ग अपनाया जाए और व्यर्थ के स्वार्थ का त्याग किया जाए अर्थात् जो स्वार्थ अपनी आयु के अनुकूल भी नहीं रहा, तो भी पूर्व संसार के करने कराने के कर्तव्य सम्बन्धी विचार मनुष्य के मन से उतरते नहीं; यद्यपि उनकी आवश्यकता नहीं होती। जैसे कि दूसरे मनुष्यों के साथ किस प्रकार व्यवहार करना है और जिस प्रकार उनको पहले प्रसन्न करने की आदत थी अब तो उसकी आवश्यकता है नहीं; क्योंकि वह स्वार्थ नहीं रहा। तब भी पूर्व संस्कारों के द्वारा उन्हीं-उन्हीं प्रकार के व्यवहार को न करने पर मनुष्य व्यर्थ चिन्तन में पड़ा रहता है कि ऐसा होना चाहिए था; जो नहीं हुआ, वे (दूसरे) उल्टा समझेंगे और मेरे से हो नहीं पाया जैसे कि आदत का बर्ताव था। इस प्रकार ऐसे परामर्श या विचारों में

साधक समय को मिथ्या रूप से गंवाता रहता है या खोता रहता है। यह भी ऐसा बड़ा बन्धन है, और भी जो मोक्ष मार्ग के लिये व्रत आदि धारण कर रखे हैं, कहीं पहले की आदतों से थोड़ा चूक जाने पर वे मिथ्या विचार में बहुत समय व्यतीत करवाते रहते हैं, कि 'यह हो नहीं पाया,' 'यह मेरा नियम था' 'यह मैं पूरा नहीं कर सका'। इस प्रकार के धर्म संकट में पड़ा रहता है। कहीं ध्यान आसन पर बैठे हुए का, किसी ने उसे बुला कर ध्यान भंग कर दिया, तो इसी की ही सोच या विचार में मिथ्या समय गँवाता है कि मेरा ध्यान भंग कर दिया; और कहीं क्रोध आ गया तो क्रोध कर बैठा और कहीं वाणी से बुरा वचन बोल बैठा तो अब उस की भी सोच मन से नहीं निकलती। उसी के विचारों में वह अग्नि के समान जलता रहता है कि 'मेरे से खोटा हो गया, मेरा व्रत भंग हो गया, कि जो धर्म मैने अपना रखा था वह ठीक प्रकार से रखा नहीं जा सका'। इस प्रकार वह सोचों में पड़ा हुआ शान्ति को नहीं पाता। और भी खाने पीने में, सोने जागने में और मन के भावों में भी त्रुटियां करके या इन के बारे में मिथ्या आचरण करके लम्बे समय तक विचारों में खोया हुआ दुःख या पश्चात्ताप की आग में जलता रहता है और समय को भी व्यर्थ खोता रहता है, चाहे ध्यान के लिये आसन ही लगा कर बैठा हुआ है। यह सब धर्म का संकट है कि जैसे धारण होना चाहिए था वैसे धारण नहीं हो सका और जैसे नहीं होना चाहिए था वैसे हुआ। यही सब पीछे कहा हुआ शील व्रत परामर्श है।

इस बन्धन का परिहार करने के लिए साधक मुमुक्षु को इस प्रकार विचार करना चाहिए कि जो कुछ नासमझी में मिथ्या किया गया उसको समझते हुए भविष्य में न करने के लिए यत्न करूँगा। अब जो पीछे हुआ उसको क्या सोचना और आगे जानते हुए पुनः खोटा करने का संकल्प है नहीं, और भविष्य में मैं मन की उपस्थिति रख कर स्मृति से इस त्रुटि को टालने का यत्न भी करूँगा, तो पुनः इस की हुई त्रुटि (गलती) सम्बन्धी मिथ्या परामर्शों (विचारों) में पड़े रहने का क्या प्रयोजन ? इस प्रकार बुद्धि में और भी जो बन्धन उपस्थित हों, उसमें ज्ञान उपजा कर विचार द्वारा दृढ़ता के साथ पहले बुद्धि से निकाल के, फिर भी यदि यह संशय के समान ही बहता रहे अर्थात् किये कराये मिथ्या व्यवहार की स्मृति करवा के दुःख उपजाता जाए, तो इस के दुःख को साक्षी भाव से सहन करते-करते वैसे ही व्यतीत कर दे, जैसे कि संशय के लिए कहा था, अर्थात् साक्षी रूप से स्थिर रह कर निरीक्षण करते-करते ही खुजली के समान ही इस का परिहार देखे। समय आने पर यह अपने आप ही टल जाएगा। अधिक (पुनः-पुनः) विचार करके इसको टालने की आवश्यकता नहीं है। जबकि बुद्धि ने एक बार समझ लिया कि इनका बहुत विचार तो व्यर्थ ही है; होना था जो हो गया और आगे जानते हुए कोई चूक (गलती) करने का संकल्प (इरादा) नहीं, तो पुनः यदि यह मन से नहीं छूटता या उतरता तो यह केवल हुए-हुए के संस्कार ही बह रहे हैं। मैं इन बहते

हुए संस्कारों को कोई अपना ध्यान या त्वज्जो न दूँ। केवल चुपचाप इन को बहता जाने दूँ या सब बन्धनों से मुक्त जो भगवान् है उसका कोई भी नाम मनोमन स्मरण करता जाऊँ; तो इस से यह जो उस के संस्कार हैं वह विदा हो जाएंगे। यदि हो, तो मैं साक्षी रूप से जागता हुआ यही देखूँ कि यह कितने समय तक रहता है ? इस प्रकार दृढ़ता से आसन पर बैठे-बैठे स्मृति द्वारा इस के दुःख को अनुभव करते हुए और थोड़ा संशय आदि को टालते हुए स्थिर रहे तो यह अपने आप चल बसेगा। इसके विदा होने पर मन सोचों से हल्का हुआ-हुआ इस बन्धन के टलने का सुख अनुभव करेगा।

यदि कहीं सुख के राग के कारण या दुःख के द्वेष के कारण कर्तव्य सम्बन्धी अधिक विचार पीड़ित करे या मन को उलझाए, तो उस सुख के राग को त्यागना और दुःख के द्वेष को भी दुःख को सहन करने की शक्ति उपजा कर समाप्त कर दे, जिससे सुख का राग और दुःख का द्वेष बहुत प्रकार के विचारों को उत्पन्न करके उलझाए न रखे। इस प्रकार सब प्रकार के कर्तव्य सम्बन्धी विचारों को समाप्त कर दे और मन को शान्त रूप से आत्मा में या अपने आप में टिकने का मार्ग (रास्ता) बनाए, और यदि कहीं रहने सहने में प्रमाद या शिथिलता के कारण से कोई त्रुटि या गलती हो तो यत्न से उसे हटाता जाए। इस प्रकार सब प्रकार के मिथ्या विचारों को समाप्त कर दे और उनके मार्ग को रोक दे। इस प्रकार एकान्त में समय पाने पर मिथ्या संगति की आवश्यकता नहीं रहेगी।

नहीं तो जब मनुष्य एकान्त में बैठता है, तो दिन में दूसरों के संग हुए व्यवहारों की ही उलझन में पड़ा हुआ जन उन्हीं के बारे सोचों में पड़ा रहता है और एकान्त की शान्ति व मुक्ति के सुख को पाने के मार्ग पर नहीं चढ़ पाता। इसलिए इन बन्धनों को समाप्त करना उसका मुख्य कर्तव्य होता है। जब बन्धन न रहें, तो अकेले बैठने में भी मन लगता है और जागने में भी, और पुनः उसके सुख की भी प्राप्ति होती है। परन्तु सांसारिक बन्धन, उनकी उलझन एकान्त में बैठने नहीं देती। वे सब मिथ्या विचार मनुष्य को उलझाए रखते हैं। उन की व्यथा (परेशानी) से बचने के लिये वह निद्रा को ही अपनी शरण मानता है और सोना ही अभीष्ट समझता है। और यदि प्रातः काल ध्यान में स्थिरता खोजे, तो यही सब मिथ्या विचार उसे संसार के कार्यों की ओर ही निर्देश (इशारा) करते हैं। अपने मन की पवित्रता (सफाई) करने नहीं देते। इस सब के लिए व्यवस्थित मार्ग की आवश्यकता है। जीवन को धर्मानुसार साधना पड़ेगा। जिससे बन्धन रहित मन की या अन्तःकरण की शान्त अवस्था संसार में रहते-रहते अनुभव में आ जाए। विश्वास महापुरुषों का रखे। श्रद्धा मन में बसाये। उद्योग में शिथिल न रहे तो सफलता अवश्य होगी।

इसी प्रकार दूसरों का भी कुछ किया हुआ मन से नहीं उतरता। मनुष्य को उलझन में डाले रखता है। किसी ने उचित सम्मान न किया या अन्य कोई वैसा ही व्यवहार किया जिससे कि मन को पीड़ा या दुःख हुआ,

तो उसके बारे में भी मनुष्य मिथ्या विचारों के चक्र में पड़ा रहता है। उसके साथ करने कराने के अपने व्यवहार के बारे में परामर्श (विचार) समाप्त ही नहीं होते। ऐसी अवस्था में कारण केवल बन्धन ही हैं। सुख दुःख उनका मूल है। थोड़ा दुःख सहन कर, और सुख को त्याग कर भी उन मिथ्या विचारों के जाल से मुक्ति पाए। अपनी विचार शक्ति को न खोये। मन में रक्षित (रहने वाली) विचार शक्ति सुख देती है उसकी मुक्त अवस्था की भक्ति ही करे। इसलिए ऊपर कहा हुआ बन्धन शील व्रत परामर्श, नहाना छूटने पर और खाने में कुछ वैपरीत्य (विपरीतता) आ पड़ने जैसी छोटी-छोटी बातों में भी मस्तक को उलझा देता है। जैसे मन को भाता है या चाहिए, वैसे न होना और जो होता है वह मन नहीं चाहता तो व्यर्थ की सोचों में बहता हुआ मन केवल परेशानी के दुःख को ही उत्पन्न करता है। यह सब शील व्रत परामर्श बन्धन की दुःखदाई लीला है। ज्ञान, ध्यान, धैर्य द्वारा इससे मुक्ति खोजे। ज्ञान का तात्पर्य यह है कि विचार द्वारा मन से निश्चय करे कि जो विपरीत हुआ है उसके बारे में सोचों में पड़े रहने से केवल मन दुःखों में ही रहेगा और ऐसा मन श्वासों को सही ढंग से नहीं बहने देता। इस प्रकार का ज्ञान उपजा कर उन व्यर्थ की सोचों को टालने के लिये कुछ भगवान् का नाम स्मरण करने लग जाए या अपने आप को साक्षी रूप में समझ कर उन मिथ्या विचारों के भाव को देखता जाए। समय आने पर वह स्वयं टल जाएंगे। ऐसा न करे कि जो व्यर्थ के विचार

आते रहे हैं उन्हीं में बहता हुआ अपने समय को और अपने मन की शक्ति को मिथ्या गँवाए।

यदि आवश्यकता समझे तो थोड़ा विचार द्वारा या ध्यान द्वारा उस व्यर्थ के विचारों की तुच्छता ही प्रतीत (महसूस) करे। इस अवस्था में जबकि मन में व्यर्थ के विचार बह रहे हैं और मन दुःखी हो रहा है, तो इस दुःख की परेशानी न माने और परेशानी मान कर कोई व्यर्थ नशे आदि का कोई और सहारा न ले बैठे। विपरीत इसके, उस दुःख को धैर्य रखता हुआ सहन करे। धैर्य के शब्द का अर्थ है कि बुद्धि बल के साथ थोड़ा किसी भी दुःख को सहते जाना; जैसे कि दुःख धक्का दे कर किसी भी व्यर्थ प्रकार से चलाना चाहे, जोकि भविष्य में हानि कारक होता है, उस मार्ग पर अग्रसर न होना, यही धैर्य है अर्थात् अपने आप को भले ही रास्ते पर स्थिर रखना।

४. राग (Affection/Attachment/Love) :

राग नाम प्रीति या प्रेम का है। जिन प्राणियों व पदार्थों के संग से सुख होता है उस प्राणी व पदार्थों में मनुष्य की प्रीति या प्रेम (प्यार) भी उत्पन्न हो जाता है। मन इसमें चिपका रहता है। ये वस्तुएं मन से नहीं उतरतीं। इन्हीं की याद मन में बहती रहती है। यह राग चित्त है। इसी से पुनः उन्हीं प्राणियों और पदार्थों से संयोग करने की इच्छा और लोभ उत्पन्न होता रहता है, और उन्हीं ही सब प्राणी पदार्थों का अनुसरण करता हुआ कई प्रकार के काम, दुष्कर्म भी अपने सुख के कारण से जीव करता है और पुनः जो-जो करते हैं,

卐卐

उसके संस्कार भी उसी मनुष्य में एकत्रित होते जाते हैं और इस प्रकार इन सब कर्मों में और उनके विचारों में और इन्हीं के अनुसार जितने भाव हैं, उनमें मनुष्य बुरी प्रकार से बंधा रहता है। यह सब राग बन्धन की ही लीला है। यह हर समय चित्त में स्रोत के समान बहता रहता है। यदि कोई दूसरा और प्रबल दुःख आदि का कारण उपस्थित हो जाए, व और कोई स्वार्थ की धारा को भले ही इसे थोड़ी देर के लिए तोड़ दे, परन्तु जैसे वह कारण टला कि पुनः यह सुख की उन्हीं सब वस्तुओं को स्मृति में ला-ला कर उनकी इच्छाएं उत्पन्न करता रहता है। जब तक इच्छा पूर्ण नहीं होती यह राग की अग्नि जलती रहती है और होता हुआ भी अनन्त चेतन, आत्म-ज्ञान रूप से नहीं भासता। यदि यह राग थोड़ी देर के लिए पूरा हुआ भी, थोड़ा सुख हुआ भी, तो यह तत्काल मिट जाता है। परन्तु यह अपना बल आगे से और अधिक तीव्र कर जाता है जिस से पुनः इसका न पूरा होना अधिक दुःख रूप से प्रतीत होता है। तो इस प्रकार जितना इस राग के सुख को प्राणी अधिकाधिक लेता है, उतना ही यह प्रकट हुआ-हुआ तीव्र रोगों का कारण बनता है। तब इसके सुख तो बहुत मिलते नहीं, क्योंकि वह अब अधिक सेवन किये हुए बहुत दुःख उपजाते हैं अर्थात् दुःखों का ही कारण बन जाते हैं। परन्तु बढ़ा हुआ जो राग है वह अधूरा रहा हुआ मनुष्य का जीवन भी दुर्भर कर देता है अर्थात् कठिन कर देता है। यह राग का बन्धन है, जोकि कई क्षेत्रों में फैला हुआ है। कहीं इन्द्रियों के सब प्रकार

के सुखों में, कहीं अधिकार के क्षेत्र में, कहीं मान में, कहीं कीर्ति में, और भी जो-जो भी मनुष्य को अच्छा लगता है अर्थात् सुख रूप से प्रतीत होता है; उन सब क्षेत्रों में यह अपने पाँव फैलाता है और इसके तीव्र हो जाने पर मनुष्य को इससे क्षण भर के लिए भी छूट नहीं हो पाती। एक पूरा हुआ, दूसरे की चिन्ता, उसका सुख थोड़ी देर रहा तो पुनः तीसरे की इच्छा, उसका सुख भी तो क्षणिक ही है, पुनः चौथा कोई आ गया, तो उसका सुख भी बना नहीं रहेगा। तो इस प्रकार आगे से आगे यह संसार में ही अपना पाँव बढ़ाता जाता है जोकि उस के मन को चंचल बना देता है। यह मन कभी भी अपने अन्तरात्मा में आने का या शान्त होने का विचार तक भी नहीं कर सकता। आन्तरिक जीवन पाने के लिये भी नहीं सोच सकता। उन्हीं अपने सुखों के बारे में ही चिन्तन में व्यस्त रहता है। यही राग बन्धन है।

इस राग बन्धन को वैराग्य द्वारा क्षीण करके पुनः अपने आप में परमानन्द पाकर निर्वाण द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है। यह वैराग्य विवेक से उत्पन्न (पैदा) होता है। वैराग्य का तात्पर्य यह है कि राग से टलने का भाव। राग से विपरीत मनोभाव उत्पन्न करना, जोकि राग की तुच्छता प्रकट करके उस राग की दिशा से मन को टाल दे। विवेक, स्थिर आसन पर बैठ कर ध्यान में ही चिन्तन व विचार द्वारा उत्पन्न किया जाता है। विवेक नाम उस ज्ञान का है जो कि वस्तु के वास्तविक (असलीयत) स्वरूप को विचार द्वारा प्रकट करे। जैसे

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

वस्तु है, उस को विचार द्वारा छानबीन कर प्रकट करने वाले का नाम विवेक है। जैसे कि विषय देखने में तो आनन्द देने वाले, मीठे, आकर्षक, लुभाने वाले तथा मन को चुराने वाले प्रतीत होते हैं और जैसे ही उनकी मन में स्मृति उपजती है उसके उपजने पर एक दम उसके लुभाने की तृष्णा भी उपजती है।

उनकी दृष्टि बनते ही अर्थात् उसकी याद आने पर भी एक दम मन उधर ही भटकने लग जायेगा और उसी के अनुसार करने या चलने के लिये तैयार हो जायेगा। यही दृष्टि बन्धन है। मन सब कुछ भूल कर उनका संग करने के लिए इच्छा करत्ता है और उन को पाने का प्रबल भाव मन में उत्पन्न होता है। यह भाव पुनः व्यक्ति को शान्त बैठने नहीं देता, आसन ध्यान को भी चलायमान कर देता है। यदि व्यक्ति इन विषयों की दृष्टि और उनकी इच्छा और उन को पाने का भाव आदि का निग्रह (काबू पाना) करना चाहे तो इन्हीं के सब विकारों वाला मन, निद्रा रूप को धारण करके आलस्य (सुस्ती) को लाकर उसी के सुख से मन को लुभा कर ज्ञान के प्रकाश को व विचार की धारा को समाप्त कर देता है और विवेक अर्थात् सत्य का ज्ञान प्रकट (उत्पन्न) ही नहीं होने देता। इसलिए यदि विवेक को उत्पन्न करना और प्रबल बनाना हो तो आसन पर बैठ कर जब-जब विषयों की दृष्टि या उनकी इच्छा (काम) और उसको न पूरा करने से चिढ़ व क्रोध आदि का भाव व संशय उत्पन्न होने लगे, तो इन को बहुत शान्त मन से, और बुद्धि को जगा-जगा कर

विचार द्वारा संसार के दुःखों के भयानक वृत्तान्तों को और विषयों के कुपरिणामों को स्मरण करते-करते मिटाता जाए। इस प्रकार यदि मन आलस्य व निद्रा ला कर ध्यान विचार या विवेक को रोके (प्रतिबन्धन करे) तो स्मृति पूर्वक मन की उपस्थिति रख कर आलस्य निद्रा आदि को यत्न से जीतने का उत्साह बनाए रखे। जब पहले कहे गए विषयों की दृष्टि, काम, संशय, क्रोध आदि भाव, ध्यान विचार के विघ्न शान्त हो जाएंगे तो वैसे ही आलस्य निद्रा वाला मन भी शान्त हो जाएगा और उस साधक को आसन पर बैठने में सुख का अनुभव होगा, तभी यह आसन स्थिर कहा जाएगा। अब यही मन ध्यान और विचार की योग्यता प्राप्त करेगा और विवेक को जगा कर सत्य का साक्षात्कार करेगा। पहले जब दृष्टि, संशय, काम या इच्छा, क्रोध, आलस्य, निद्रा आदि सब ध्यान के प्रतिबन्धक टाले गए, तो प्रथम सब इन्द्रियाँ पुनः संसार में जाग्रत हुई प्रतीत होंगी। बाहर के शब्द सुनने में आएंगे। ऐसे आँखों में भी अन्धकार या ज्योति प्रतीत होगी। नासिका में गन्ध और त्वचा में स्पर्श आदि प्रतीत होने लगेंगे। और जब मन ऊपर कहे गए ध्यान के विघ्नों वाला था तो वह सब संसार से ध्यान के हेतु वियुक्त होने पर केवल या तो विषयों का चिन्तन करता रहेगा, उन्हीं के भाव व विकारों में उलझ रहा होगा, या पुनः निद्रा की ओर झुका हुआ होगा। उस को बाह्य जगत् में होने वाले शब्द, स्पर्श आदि का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। वह केवल विषय चिन्तन में ही लगा हुआ

रहता है। यही विक्षेप अवस्था है या पुनः अपने मन को बहलाने के लिये वह कान आदि द्वारा भले सुनने के लिए उत्सुक रहे, परन्तु इन सब से टाल कर विचार द्वारा विवेक को जगाने में इसकी रुचि नहीं होती। परन्तु जब ऊपर कहे ध्यान के विघ्न टलने पर आसन स्थिर हुआ और मन पूरा जाग गया और जगे मन में विषयों के संस्कार स्फुरित होने लगें, तब जगे हुए मन को अवकाश है कि वह अब इन संस्कारों में पड़ने वाले विषयों की परीक्षा करे कि इन के सुख का कितना महत्त्व है। जब वह निद्रा रहित पूर्ण जगे मन से संसार के शब्द आदि न सुनता हुआ विचार में तल्लीन होकर निर्णय करेगा, तो प्रत्यक्ष उसे ध्यान में भासेगा कि यह सब संसार के विषय प्रकृति द्वारा या प्राकृत (प्रकृति के) मन द्वारा केवल संसार को स्वाभाविक रीति से चलाने के लिए अच्छे लगते हैं और मोहित करके एक दूसरे के चक्कर में डाल देते हैं और पदार्थों में उलझाए रखते हैं। उनका सुख कभी भी बना नहीं रहता, और इन का सुख, दुःख में ही समाप्त होता है। सुख में मोहित प्राणी जब अन्त में दुःख पाता है तो उसे पहले तो विश्वास ही नहीं होता कि यह दुःख विषयों के सुख का ही परिणाम (नतीजा) है। परन्तु जब वह पुनः विषयों का संग करते-करते दुःख की वृद्धि हुई-हुई को पाता है, तो वह समझता है कि यह दुःख उस विषय सुख का ही परिणाम है। परन्तु जब उसे अन्तिम समय में या वृद्ध अवस्था में इस सत्य का ज्ञान होता है, तो उस समय वह कुछ करने योग्य ही नहीं रहता। यदि

इसी सत्य का ज्ञान या भविष्य में होने वाले दुःख का ज्ञान उसे आसन पर ध्यान, विचार, विवेक जगा कर पहले से ही हो जाए अर्थात् दुःख आ पड़ने से पहले ध्यान द्वारा वह आने वाले दुःख को विषय सुख के परिणाम स्वरूप (नतीजा) पहले से ही जान ले, और इस दुःख का कारण तृष्णा के बन्धनों को टाल कर प्रकट इस दुःख से भी छुटकारा पाने का यत्न कर सके तो उसे पीछे पश्चात्ताप न करना पड़ेगा। परन्तु जब यह मन के न चाहने पर भी त्यागे जाते हैं तो मन को दुःख होता है और साधक दूसरे जनों को इन विषयों के संग से सुखी होते देखता हुआ अपने आप में मोहयुक्त होता हुआ शोक भी कर सकता है कि मुझे वह सुख अब न रहा। परन्तु ध्यान में जब विवेक जगाकर इन का परिणाम दुःख रूप दीख जाये और इन के संग से बढ़ी हुई तृष्णा रूप व्याधि और उस का अन्त दुःख ध्यान में प्रकट दृष्टि (नज़र) में आने लगे तो समझ लो कि विवेक पूर्ण रीति से जागृत हो गया। अब यदि यह विवेक पर्याप्त (बहुत) समय तक मन में जागता रहे और आसन पर स्थिर एकान्त में इसको मन में स्थिर (टिकाए) रखे, तो पूर्ण वैराग्य उत्पन्न हो जाएगा और उन विषयों से मन मुड़ जाएगा और मन उनकी स्मृति (याद) भी नहीं करना चाहेगा। उनकी तुच्छता दीखने लग जाएगी। और उनका सुख यदि दूसरों में भी दीखेगा तो साधक को मोह नहीं होगा। वह ध्यान में पाए हुए सत्य की स्मृति रखता हुआ संसार में सब के संग व्यवहार करता हुआ भी इस वैराग्य द्वारा अपने आपको सुरक्षित

रखेगा और राग के बन्धन से मुक्त हुआ-हुआ निर्वाण सुख को पायेगा; क्योंकि निर्वाण नाम मन के बुझने का है। जब विषयों से और विषयों के सुखों से और उनके सुखों के भावों से मन बुझ गया और विषय मन से उतर गए, तो मन अपनी आत्मा में या अपने आप में आनन्द के साथ स्थित हो जाएगा। इसी मन को राग रूपी बन्धन से मुक्त और क्रमशः सब बन्धनों से मुक्त होने पर मुक्ति का सुख रूप अनन्त सुख रूप परमात्मा या परमपद की प्राप्ति होगी।

जैसे इन विषयों के सुख से वैराग्य द्वारा मन उनसे मुड़ने पर मुक्ति की ओर या निर्वाण की ओर अग्रसर होता है, वैसे और भी संसार के आकर्षक अधिकार धन, मान आदि जो भी लुभाने वाले हैं उन सबसे वैराग्य प्राप्त करने के लिए ध्यान में इनके दुःखों का साक्षात्कार करे, तो इनसे भी मनुष्य का राग समाप्त हो जाएगा। इसी प्रकार सूक्ष्म आगे ध्यान में आने योग्य देव लोक आदि के सुखों में भी वैराग्य प्राप्त करने के लिए विवेक जगाए। विचार में उनके सुखों को बसाए और पुनः परिश्रम करे कि जो सुख द्वैत (दो का भाव) से होते हैं वे सदा कभी भी बने नहीं रहते। जब उनका सुख नहीं होगा तो पुनः मन दुःखी होगा तथा पुनः दुःख के कारण से उनके सुख की कामना करेगा। इस प्रकार वह सुख दुःख के चक्कर में पड़ा रहेगा। यदि विवेक द्वारा उनके सुख को 'न बना रहने वाला' समझ कर और पुनः उनकी इच्छा न करता हुआ उनके वियोग (बिछोड़ा) का दुःख देखने और सहन

करने में उत्साहित रहेगा अर्थात् हिम्मत करे और इस तप को धारण करे तो इनसे भी वैराग्य प्राप्त करेगा। इसकी भी तृष्णा का दुःख टलने पर मन अपने आप में सुख का अनुभव करेगा अर्थात् इनसे भी विमोक्ष प्राप्त हो जाएगा।

इस सब का तात्पर्य यह है कि राग बन्धन का परिहार (टाल) करने के लिए आसन पर बैठ कर ध्यान एवं विचार द्वारा विवेक को जगाए और जहाँ तक विवेक को जगाता जाए कि समूचे संसार से वैराग्य उत्पन्न हो जाए और इसके जानने व समझने की भी इच्छा न रहे। इससे यह राग रूपी बन्धन पूर्ण रीति से परिहृत हो जाएगा अर्थात् पूर्णतः टल जाएगा और निर्वाण की प्राप्ति का मार्ग शुद्ध हो जाएगा।

यदि कोई यूँ विचारे कि राग से या सांसारिक विषयों से या विषय सुख से वैराग्य तो अवस्था के अनुसार दुःख पड़ने पर स्वयं ही हो जाएगा या सत्संग में सुनने मात्र से भी मनुष्य जान सकता है तो, यूँ भी समझना चाहिए कि ऐसे वैराग्य, ध्यान व मुक्ति पाने के लिए अधिक उपयोगी नहीं है। क्योंकि राग या तृष्णा की शक्ति मन की गम्भीरता (गहराई) में बसी हुई है। जब तक गम्भीरता तक न पहुँचा जाए तब तक उसका नाश नहीं हो सकता। ऊपर के तल का वैराग्य तो वह मन को निद्रा या आलस्य का सुख दिखा कर ही भगा देता है। और जब कोई आसन ध्यान में स्थित होना चाहेगा तो तृष्णा उन्हीं राग के पदार्थों की स्मृति को उत्पन्न करके मन को भ्रमाती

卐卐

(भरम में डालती) रहेगी और मन की शान्ति स्थिर होने नहीं देती। इसलिए आसन पर दृढ़ बैठ कर थोड़ा निद्रा से भी युद्ध करके पुनः विवेक को उतनी गम्भीरता (गहराई) में पहुँचाना पड़ता है जहाँ कि राग व तृष्णा जागती हुई अपनी सुरक्षित गद्दी पर बैठी हुई है। इसलिए भावना की आवश्यकता है। भावना इसी का नाम है कि राग या तृष्णा के दुःखों को स्मरण रखते हुए और उसके विकारों के कुपरिणामों को मन में पर्याप्त (बहुत) समय तक मन को जगाकर देखे और दूसरों में भी इससे होने वाले दुःखों का स्मरण करे। इस प्रकार गहराई तक पहुँचने पर विवेक इस को अपनी राजगद्दी से उतारेगा।

इसी प्रकार आगे कहे जाने वाले द्वेष के बारे में भी जानना चाहिए। चिरकाल से बल पकड़ने वाले राग द्वेषादि बन्धन बिना चिरकाल तक इन के विपरीत भावना किए नहीं टलते। इनका बल छोटे मोटे वैराग्य को तो थोड़े में ही पटक देता है। जैसे बार-बार किसी काम को करने से उसके संस्कार प्रबल होकर भूल में उस काम को करवा जाते हैं, इसी प्रकार रागादि बन्धनों के संस्कार जन्म से इतने प्रबल हो चुके हैं कि भूल से भी, सहज स्वभाव से ही त्रुटियां (गलतियां) करवाते रहते हैं। ध्यान, आसन आदि पर बैठने नहीं देते। उनका सुख लेना देना तो दूर रहा। इसलिए चिरकाल तक इनके दोषों को भी आसन, ध्यान में चिन्तन करके ऐसी भावना द्वारा ही क्षीण व दूर किया जा सकता है, तब ही जीवन में इनसे मुक्ति मिलती है। वैराग्य का अर्थ यह है कि राग से

विपरीत भाव मन में उपजाना।

५. द्वेष (Malice/ill-will/Aversion):

द्वेष नाम है अप्रीति का, इसका अर्थ यह है कि जैसे सुख वाली वस्तु में प्रीति या राग होता है ऐसे ही दुःख वाली वस्तु में अप्रीति या द्वेष होता है। अर्थात् जब किसी वस्तु से मनुष्य को दुःख का अनुभव हुआ, तो मन उससे इतना टलना चाहता है कि जैसे उसका संग कभी न हो। इसके लिए दुःख वाली वस्तु को टालने के लिए ही क्रोध भी उत्पन्न होता है, तो यह द्वेष वाली वस्तु भी वैसे ही नहीं मन से उतरती और मन को उलझाए रखती है जैसे कि राग वाली वस्तु। राग वाली वस्तु को पाने के लिए और द्वेष वाली वस्तु टालने के लिए सदा याद चित्त में बसी रहती है। उसी वस्तु की व प्राणी की इसी कारण से बार-बार दृष्टि बनती है। यही दृष्टि बन्धन है और इसी के कारण मनुष्य को संशय बाँधता है कि विपरीत कोई वस्तु न आन पड़े और इसी के लिए ही कर्तव्य सम्बन्धी बहुत प्रकार का परामर्श (विचार) बाँधता है। यह सब राग के समान द्वेष बन्धन है। इस द्वेष के साथ कई विकार बंधे रहते हैं जैसे कि क्रोध, मत्सर (दूसरों के सुख को न सहन कर सकना)। ऐसे ही ईर्ष्या से दूसरों के सुख को देखकर अपने लिये 'मैं' चाहना या उस सुख की अपने लिये भी चाह (इच्छा) रखना या करना। और दूसरों के गुणों में दोषों को खोजना या निकालना रूप असूया इत्यादि। यह सब थोड़ा अपने राग से मिश्रित द्वेष

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

के कारण से ही होते हैं।

परिहार : द्वेष को मिटाने के लिए मैत्री की ही भावना समर्थ कारण है। क्षमा का बल भी द्वेष निवृत्ति के लिए समर्थ कारण है। इसी प्रकार कुछ आत्मोत्सर्ग (अपने आपे का त्याग या खुदी का त्याग इत्यादि) सब द्वेष की निवृत्ति के लिए है।

सर्व प्रथम तो द्वेष की निवृत्ति के लिए राग रूपी बन्धन की निवृत्ति करना आवश्यक है। क्योंकि राग होता है सुख देने वाली वस्तु का ही या वस्तु में। जब सुख अड़चन में पड़ता है, तो मन में द्वेष या क्रोध आदि होते हैं। यदि सुख का राग त्याग दिया जाए और दुःख को तप समझ कर सहन कर लिया जाए और 'मैं' रूप अहंकार न आने दिया जाए और क्षमा का बल रखा जाए, तो द्वेष का कोई स्थान (अवकाश) ही नहीं है। द्वेष की निवृत्ति से भी मोक्ष का मार्ग शुद्ध होता है।

द्वेष के दोषों का चिन्तन इतनी मन की गहराई तक उतारे कि संस्कारों की सूक्ष्मता में बसे हुए द्वेष के उपयोग को समाप्त किया जा सके। ऊपर से केवल सुनने सुनाने से मन की गम्भीरता (गहराई) में स्थित हुई-हुई कोई शक्ति भी नष्ट नहीं हो सकती। वह संस्कारों का बल रखती है। उस के संस्कार बड़े प्रबल हुए बैठे हैं। इसी प्रकार विवेक, ज्ञान (सम्यक ज्ञान) के संस्कारों को भी चिरकाल तक ध्यान में गहराई में पहुँच कर चिन्तन करे। एकान्त में जब मन जागे, और समझे या बुद्धि अपने आप में स्थिर हो, तो उस अवस्था में

चिन्तन किए गए संस्कार स्थिर या परिग्क्व रूप से बैठते हैं। इसी से राग के समान द्वेष भी नष्ट होगा। इसकी दासता से मुक्ति मिलने पर केवल एकान्त में आसन पर बैठने पर सुख मिलेगा। यदि ऐसी भावना न बन सकी और आसन पर एकान्त में बैठे भी, तो न तो आसन स्थिर होगा और न मन के विचार ही शान्त होंगे। यदि कुछ थोड़ा यत्न किया, तो निद्रा या आलस्य सुख दिखाकर छल लेगी। मुक्ति का सुख नहीं मिलेगा।

६. रूप राग (Love of Forms/Love of Objective sphere):

पहले राग बन्धन का निरूपण किया था, जिसका सम्बन्ध काम लोक या कामना के लोक से है। काम लोक का अर्थ है कि मनुष्य का काम या इच्छा का क्षेत्र। जहाँ पर मनुष्य अपनी इच्छा या कामनाओं को पूर्ण करने के लिए संसार में बहु भान्ति के कर्म करता है और उनका फल सुख रूप चाहता है। इसी सुख के लिए उसका मन हर समय उन्हीं सुख की वस्तुओं को अपने चित्त में रखता है या चिन्तन में बसाए रखता है, यही काम राग कहलाता है। परन्तु अब यह जो बन्धन रूप राग है, इसका तात्पर्य यह है कि साधन द्वारा ध्यान आसन पर विवेक जगाकर वैराग्य उत्पन्न करने पर कामनाओं के जगत् को, काम लोक या इच्छाओं के संसार को दुःख रूप समझ कर तुच्छ समझने पर या जब मन उनसे निवृत्त (मुड़) हो जाए, तो उसको कामनाओं के जगत् में

卐卐

अब अधिक उलझा रहने का अवकाश तो समाप्त हो गया अर्थात् उससे तो मुक्ति मिल गई। परन्तु केवल ज्ञान स्वरूप आत्मा में अभी टिकाव या स्थिरता न मिलने पर वह साधक अपने मन को किसी सहारे पर ही टिकाएगा। कामनाओं से रहित हुआ-हुआ भी उस का मन संसार को भूलना नहीं चाहेगा। स्वभाव से ही कान, आँख इत्यादि द्वारा जो शब्द रूप आदि विषय को जानेगा, उसी में ही उसका मन बच्चे के समान प्रसन्न होता रहेगा। जैसे कि जब संसार में प्रथम बालक आया, तो उसे सब संसार के बारे में उसकी वस्तुओं में गहरी अविद्या छाई हुई थी अर्थात् वह किसी के बारे में भी कुछ भी नहीं जानता था। यद्यपि जो कुछ वह बड़ा होकर जानेगा, वह संसार का ही ज्ञान है और बाँधने वाला ही है एवं सत्य का ज्ञान नहीं है। तब भी ज्यों-ज्यों उनके बारे में कुछ समझता गया और उसमें उसकी कामना उत्पन्न होती गई तथा पुनः उनको व्यवहार में लाकर या अपने उपयोग हित समझता गया और उससे उसको सुख होने लग गया, तो वह अब इन वस्तुओं (चीज़ों) के बारे में राग रूप बन्धन में बंधकर इनको भूलना भी नहीं चाहता। तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि पहले जब तक वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन इन्द्रियों के विषयों को ही पहचानता था, तब तक तो बच्चे को इन्हीं में ही राग था। यही रूप राग था। इसी प्रकार काम लोक से उठकर इन्हीं में ही बंधा हुआ साधक, इन्हीं के सहारे तृप्ति पाने वाला और अपनी आत्मा को 'मैं' समझने वाला इसी रूप राग से बंधा रहता

है। एकान्त में समय व्यतीत (बिताना) करता हुआ भी ध्यान में इन्हीं को ही अपनी इन्द्रियों द्वारा समझता हुआ इन्हीं के सहारे समय व्यतीत करता है। यदि पृथ्वी की कठोरता व जल की कोमलता, तेज की उष्णता, वायु का मन्द स्पर्श इन्हीं का ही ध्यान करता हुआ वह ध्यान सुख पाता और इन्हीं में ही रमण करता रहता है। यही सब उस रूप राग के बन्धन हैं। रूप नाम इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य पदार्थों का है और पदार्थों के सहारे जो साधक का मन रमण करता है, सो रूप रागी उस साधक का मन है। अब हो सकता है कि वह इन से बढ़कर जहाँ यह विषय इन्द्रियाँ प्रतीत नहीं करतीं उस क्षेत्र में अपने मन को ले जाए अर्थात् जहाँ सब विषय उपस्थित नहीं हैं। इस रूप राग के क्षेत्र में इन इन्द्रियों के अवलम्बनों (सहारे) से अपनी भी देह प्रतीत होती है; जैसे किसी को अपने देह का राग या मोह होता है, उसे यह त्यागना नहीं चाहता। ऐसे ही काम राग आदि से निकलकर केवल देह सम्बन्धी राग अभी बना रहता है। ऐसे देव देह को प्राप्त होने वाले जन, रूप राग से बंधे दिव्य प्रकाशमय देह को इन्द्रियों के अवलम्बन या सहारे शब्द, स्पर्श आदि से प्राप्त होते हैं। वे उत्तम लोकवासी जन सुनते हैं, स्पर्श लेते हैं और रूपों को भी देखते हैं, रस और सुगन्धों को भी प्रतीत करते हुए अपना प्रकाशमय देह भी देखते हैं। जैसे कि श्री राम, श्री कृष्ण की मूर्तियों के स्वरूप। यह रूप राग वाले साधकों का लोक है। इस प्रकाशमय देह का भी मोह उतना ही होता है, जितना कि पृथ्वी पर धारण किये देह का

होता है। इसलिये मुक्ति पाने के लिए साधक को इन सुनने, छूने, देखने आदि से भी विरक्त होकर और उद्योग करके शान्त शून्य अवस्था की शान्ति तक पहुँचने के लिए अभी पर्याप्त (काफी) उद्योग (पुरुषार्थ) करना पड़ता है। विचारशील, एकान्त में रमन करने वाला, खाने पीने में स्वतन्त्र, किसी के भी पराधीन न होने वाला, उद्योग करने पर इस से भी विरक्त होकर आगे बढ़ता है और वह पुनः अरूप क्षेत्र में भी रमण करता हुआ निर्वाण का मार्ग पा लेता है। एकान्त की चर्या इस के लिए परमावश्यक है।

७. अरूप राग का निरूपण (Love of formless shpere):

जो व्यापक देश एवं उस खाली स्थान को मन में धारण करता हुआ उसी अनन्त देश में मन रमा सके, यह रूपों के राग से तो निकल गया, परन्तु अरूप, अनन्त होश (विज्ञान) व अशंका में बंधा रहा। उसी में सुख पाता हुआ ज्ञान रूप आत्मा में मुक्ति नहीं पाएगा। अतः इस के बन्धन से भी निकलना आवश्यक है। यह अरूप राग बन्धन बहुत व्यापक क्षेत्र में विस्तृत है। मान लो, आकाश की जड़ता को अनुभव करके इन्हीं इन्द्रियों के विषयों को, व आकाश को ज्ञान रूप में समझ ले कि यह सब अनन्त ज्ञान ही है। हम जो कुछ सुनते, देखते व अन्य प्रकार से इन्द्रियों से ग्रहण करते हैं, यह कोई अलग पदार्थ नहीं है, किन्तु इन का ज्ञान ही ज्ञान केवल हमें होता है। यह ज्ञान रूप से ही सत्य है और ऐसा समझता

हुआ पदार्थों को तो कुछ नहीं समझता। परन्तु जो क्षण-क्षण ज्ञान उसके मन में उत्पन्न होता है, उसी में मन रमाए रखता है अर्थात् अनन्त ज्ञान का अनुभव करता हुआ अपने ध्यान में सुख पाता है। इस सुख से भी बंधा हुआ इस अनन्त ज्ञान रूप क्षेत्र में बंधा हुआ अरूप राग वाला ही है। यह भी एक प्रकार का लोक है जैसे कामना वाला काम लोक और इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होने योग्य पदार्थों वाला रूप लोक। यहाँ इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य कुछ भी नहीं है। केवल मन ही अपने आप में बदलते हुए विभिन्न प्रकार से ज्ञान ही ज्ञान को देखता है और यह अनन्त ज्ञान का लोक अरूप लोक है। इसी प्रकार जब ज्ञान को समझते-समझते मन बहुत सुख को पाए अर्थात् शान्त हो (थक) जाए, तो जैसे संसार में शान्त (थका) हुआ प्राणी निद्रा को प्राप्त होता है, इसी प्रकार अनन्त ज्ञान का अनुभव करता हुआ साधक शान्त होने पर अपने मन में कुछ भी समझना नहीं चाहता। परन्तु ऐसी तमोगुण की अवस्था में मन की उपस्थिति द्वारा शान्त रूप से बना रहता है अर्थात् जागता रहता है। इस प्रकार सब प्रकार के जानने के विक्षेप से निवृत्त हो कर शान्त शिव रूप उस अवस्था में आनन्द पाता है। इस आनन्द से बंधा हुआ मन भी अरूप रागी ही है, अर्थात् वह जो शान्त तमोगुण का सुख है, उस का कोई रूप तो है ही नहीं; नाक, आँख, कान से पहचानने का नहीं, किन्तु मन द्वारा ही समझा जाने के कारण से अरूप कहा जाता है। इस में भी रंगा हुआ मन अरूप रागी मन है। इसमें भी

आत्मा में स्थिरता का निर्विकल्प, मुक्त अवस्था का भाव नहीं है। इसलिए यह भी बन्धन ही है। अब तो अरूप राग से बंधे हुए मन को ऊपर उठने पर एक और अरूप लोक का अनुभव होता है। जैसे कि जब अनन्त ज्ञान में रमण करता हुआ शान्त (थका) हुआ मन, शान्त अवस्था में तमोगुण की अवस्था में बसे सुखी मन को विनाश का भय उपस्थित होता है; ज्ञान के साथ मनुष्य जीवन का या अपने आपके बने रहने का अनुभव करता है; जब उसे ज्ञान शून्यता का अनुभव होने लगे, तो उसे आत्मा विनाश की शंका उपस्थित होती है। इस शंका से पीड़ित वह विनाश से बचने के लिए यदि कुछ जानना चाहता है या ज्ञान उपजाना चाहता है तो ज्ञान तो वही है, जो पहले उसे शान्त करना (थकाना) चाहता था और पुनः थका होने पर तमोगुण की अवस्था में ले जाना चाहता था। इस प्रकार दोनों में शान्ति का अनुभव न करता हुआ, मन न तो ज्ञान अवस्था में रहना चाहेगा, थकावट के कारण और न तमोगुण की अवस्था में रहना चाहेगा; विनाश के भय के कारण। इन दोनों के मध्य में एक और अवस्था है जिसका नाम है संज्ञा (जानना) और असंज्ञा अर्थात् न जानना; तो इस का अर्थ यह हुआ कि 'न संज्ञा' और 'न असंज्ञा'; यह भी एक लोक है। जैसे कि विष्णु लोक; जैसे कुछ भी समझने का नाम संज्ञा है; जब मन कुछ भी समझने लगे, तो उधर से भी मोड़ लेना और जब निवृत्त (मुड़ा) हुआ मन तमोगुण में विलीन होने लगे तो उधर से भी निवृत्त कर (मोड़) लेना। इस प्रकार दोनों

अन्तों या दिशाओं से निवृत्त (मुड़ा) हुआ मन इन दोनों के मध्य में जागता हुआ मुक्ति जैसा सुख अनुभव करेगा। परन्तु यह वास्तविक मुक्ति की अवस्था नहीं है। यह भी एक प्रकार का अरूप लोक है। इसमें बंधा हुआ मन अरूप राग वाला ही है। अब इससे भी उठकर मन यदि आगे बढ़े, तो आत्मा में टिकाव रूप मुक्त अवस्था प्राप्त होगी।

अरूप राग का क्षेत्र यहीं तक सीमित है। इसके पश्चात् मोह, मान और अविद्या तीन बन्धन शेष रहते हैं जिन को त्यागने पर पूर्ण मुक्ति या निर्वाण की प्राप्ति होती है।

इस अरूप राग बन्धन का तात्पर्य यही है कि एकान्त वास में रत रहने वाला साधक, कामना की निवृत्ति होने पर, समुदाय में तो रमण करना चाहेगा नहीं। परन्तु केवल जड़ या पत्थर होकर भी रहा नहीं जा सकता। ऐसी अवस्था में अपने मन को ध्यान में ही रमाएगा। अब ध्यान में रमण करते मन को विविध क्षेत्र अपने उद्योग के अनुसार और वैराग्य की उन्नति के अनुसार मार्ग में पड़ते हैं। जैसे-जैसे साधक अपनी कामनाओं से मुक्ति (छुट्टी) पाता है, तो वह व्यापक जीवन को सुनता, देखता, विचार करता हुआ ध्यान में रत रहता है। पवित्र मन वाला, स्मृति और मन की उपस्थिति रखकर विहार करने वाला सारे मनुष्यों में एक ही अनन्त ज्ञान का अनुभव करता है। कोई भेद नहीं देखता। उसी ज्ञान रूप देव की लीला समान रूप से सब में अनुभव करता है। भेद का कारण

ही नहीं दीखता। भेद का कारण तो सांसारिक सुख व दुःख सम्बन्धी स्वार्थ ही है। वह सब स्वार्थ उस साधक पुरुष का 'न' के समान हो जाता है। स्वार्थ हेतु किसी में बंधा नहीं रहता; तो फिर व्यक्ति-व्यक्ति में भेद का कोई कारण नहीं दीखता। उसे एक ही परमेश्वर सब स्थानों पर अपनी माया शक्ति से लीला करता दीखता है। यह माया शक्ति, विद्युत की तरंगों के समान जैसा ज्ञान वैसे ही उसकी क्रिया रूप से क्षण-क्षण में कुछ का कुछ दिखाती हुई उस उद्योगी ज्ञानी साधक को दीखती है। जैसे कोई व्यक्ति सामने पड़ा, उस के अनुसार वैसे ही व्यक्ति-व्यक्ति में अनेक भय, शंका, प्रीति आदि के अनन्त भावों द्वारा सुख दुःख की सृष्टि करते दृष्टि में पड़ती है। ऐसे ज्ञानी का भाव एक ही ज्ञान देव को मानकर उसी में रंगा रहता है। यही उस का अरूप राग है। जब उस ज्ञान देव में कोई तरंग नहीं दीखती तब भी ज्ञान देव तो है ही। परन्तु तब उस ज्ञान देव की शान्त शिव अवस्था है। पहला अनन्त ज्ञान रूप और दूसरा अनन्त अकिंचन रूप, जिसमें कुछ भी नहीं दीखता। केवल शान्त निद्रावस्था के जैसे ज्ञान क्षण मात्र जागता हुआ साधक अनुभव करता है। यह भी अरूप लोक ही है। इसी प्रकार न जाग्रत अवस्था में और न निद्रा की ही अवस्था में। इन दोनों के मध्य, स्थित जागता हुआ योगी का मन 'न संज्ञा' 'न असंज्ञा' नाम वाले अरूप क्षेत्र में बंधा है। यह भी इन्द्रियों द्वारा न जाना जा सकने के कारण अरूप ही है। इन सब का आलम्बन (सहारा)

रखकर अपने को रमाने वाले साधक अरूप राग के क्षेत्र में ही बंधे रहते हैं। इनसे निवृत्त होकर निर्वाण पद का यात्री आगे बढ़ता है। इसका प्रकार अपने स्थान पर चर्चित, (चर्चा में आया हुआ) अर्थात् स्थित होगा।

८. मोह (Dellusion or Being Deluded, Bewilderment):

जो संसार के प्राणी व पदार्थों से सुख होता है, उस सुख में मन रंगा हुआ उसकी याद अपने आप में भुलाना नहीं चाहता। अब यदि यह दुःखदाई भी हो और दुःख समझ करके इन को त्यागना आवश्यक पड़ जाए, तो वह देख रहा है कि त्यागना आवश्यक है, परन्तु मन त्यागने में आना कानी करता है और त्यागने में दुःख और संशय युक्त होता है और व्यर्थ सोचों में पड़ा रहता है "ओहो ! ये छूट जायेंगे" 'इन का सुख छूट जाएगा' और 'इस सुख के बिना समय कैसे बीतेगा'। ऐसे यह सारा चिन्तन जो कि उसे संसार के अन्य कर्तव्य को भी भुलाए रखता है और चित्त शून्य सा हुआ विचार में डूबा रहता है, यह सब मोह का स्वरूप है। अब इस मोह की अवस्था से यदि मुक्ति प्राप्त हो, तो यह अन्दर ज्ञान आत्मा अपने आनन्द में प्रकट भासेगा। इस मोह से खोया हुआ मन तो अपने संसार में प्राणी व पदार्थों के बिछोड़े के चिन्तन में खोया रहता है। ऐसी अवस्था में थोड़ी निद्रा, आलस्य को जीत कर और स्थिर आसन पर विवेक को जगा कर उस विषय सुख और उस की तृष्णा के दुःख को लम्बे समय तक अनुभव करता हुआ इस

मोह की तुच्छता का अनुभव करे और जिस विषय सुख के कारण से मोह के कीचड़ में धंसा हुआ है उस सुख में भी अपना विनाश रूप दुःख समझ कर दुःख में भी जीना सीखे। दुःख से चेतन हुआ मन आलस्य (सुस्ती), निद्रा को छोड़ कर विवेक और ज्ञान जगा कर इस विषय बन्धन और मोह की तुच्छता को अनुभव करने योग्य हो जाएगा। उस को यह सत्य भासेगा कि जब ये सुख अन्त में बने रहने के नहीं और दुःख में समाप्त होते हैं, तो इन के बारे में सोचना भी क्यों? इन का चिन्तन भी क्या करना ? और इनके बिछोड़े का दुःख भी क्यों मानना ? ये तो केवल दुःख में जीना न सीखने के कारण से ही है। क्योंकि सुख से जीवन व्यतीत किया है और सुख मिला है इस संसार के प्राणी व पदार्थों से। अब ये प्राणी व पदार्थ दुःख देने वाले ही सिद्ध हो रहे हैं, तो उचित यही है कि पहले इन का दुःख देख ले और सुख से जो समय व्यतीत होता था, अब उस सुख के न रहने पर, दुःख को देखते-देखते व्यतीत करना सीख ले। इससे मन शक्ति लाभ करेगा। इस शक्ति को प्राप्त किया हुआ मन उनसे मुक्ति पा जाएगा,। जब उनसे मुक्ति पाने से उन की याद मन से उतर गई, तो उनका दुःख भी नहीं रहेगा। क्योंकि दुःख तो तब तक है जब तक उन की स्मृति मन में बस रही है। ऐसी अवस्था में ही मन दुःखी रहता है और जब मन दुःख ही देखने लग गया, चाहे वह इनके बिछोड़े का ही है, तो वह दुःख का दर्शन ही इनकी याद को भुला देगा और इनके दुःखदाई होने के निश्चय से इनको बुद्धि

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

से भी उतार देगा। तो इनके मन से उतरते ही हल्का हुआ मन अपने अन्दर या अपनी आत्मा में अपने आप का सुख अनुभव करेगा। जैसे कि धूप से तपा हुआ मनुष्य (जन) छाया पाने पर धूप के तप की निवृत्ति होने का सुख अनुभव करता है। इसी प्रकार मोह की निवृत्ति का सुख होगा। मोह का क्षेत्र भी बहुत विस्तृत है; कुछ हुई घटनाएं यदि मन के अनुकूल नहीं घटीं, तो मन उन के शोक युक्त विचार से नहीं निकल पाता। उन्हीं के बारे में सोचों में पड़ा-पड़ा शोकाकुल हुआ यह सोचता है 'ओह ! यह नहीं घटना चाहिए था' और इन्हीं विचारों में व्यर्थ खोया रहता है। जो काम, मन की उपस्थिति से व स्मृति से करना चाहिए वह काम ठीक करने की योग्यता से वंचित रहता है। क्योंकि उसका मन व्यर्थ की बातों के चक्कर में व्यर्थ सोचता हुआ खोया रहता है। काम जैसे चाहिए वैसे नहीं कर पाता। यह मोह बन्धन, स्मृति और बुद्धि इन दोनों के नाश का हेतु है। क्योंकि जो कुछ उसने सत्य समझा हुआ है वह भी उपस्थित नहीं रहता, क्योंकि मन जो खोया हुआ है। इस प्रकार अधिक मोह के बन्धन में पड़े हुए का मन इतना खोएपन का अभ्यास कर लेता है कि यदि वह इच्छा से उस मन को कहीं जोड़ कर ध्यान आदि करना चाहे, ज्ञान उपजाना चाहे, तो उस खोएपन का अभ्यास (आदत) उसको उस ध्यान में लगने तक नहीं देता; जहाँ ध्यान प्रारम्भ (शुरू) किया कि वहीं उसके मोह के विचार वाले संस्कार जागकर उन्हीं की यादों में उलझाए रखेंगे। समय इस प्रकार निकल जाएगा और

जिस वस्तु का ध्यान करके सत्य को पाना है, उसमें मन कभी स्थिर भी नहीं हो पाएगा। यही सब मोह का कीचड़ है। यहाँ तक कि उन (मोह) के विचारों में खोया हुआ व्यक्ति दूसरों से सही (उचित) व्यवहार भी नहीं कर सकता। उस का स्वर और बोलने का ढंग इस प्रकार का होगा कि जिससे दूसरे व्यक्ति पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ेगा। जैसे व्यतीत हुई घटनाओं के विपरीत होने पर मोह होता है, इसी प्रकार भविष्य में आने वाली बातें व घटनाएँ उनके बारे में भी मोह होता है। जैसे कि मनुष्य सोचता है कि "कहीं ऐसा न हो जाए कि आज होने वाला सुख आगे कहीं भविष्य में खो जाए, और आज जो दुःख नहीं है वह आगे कहीं भविष्य में आ पड़े"। इसी प्रकार और भी जो उस के प्रिय लगने वाले पदार्थ हैं अैर मन चाहने की वस्तुएं हैं, उनके बारे में उल्टा होने की शंकाएँ और बन्धन उत्पन्न करता रहता है। यदि इनके मोह में न हो तो उस को यह होगा कि यदि यह सब मेरे अभीष्ट (याद के या मेरी इच्छा के और बढ़िया लगने वाले) पदार्थ जब तक हैं तो हैं ही हैं, और यदि नहीं होने तो न भी सही। इस प्रकार विचार द्वारा धैर्य रख के अपने आप को मन की उपस्थिति और स्मृति में रखे; जो आ पड़ना है, वह तो आएगा ही और जो नहीं आना वह नहीं आएगा। इस में अन्यथा प्रकार से अर्थात् विपरीत रूप से इच्छा क्यों करना ? वृद्ध अवस्था भी आएगी और मृत्यु भी आएगी। समय-समय पर रोग, व्याधियाँ भी आएंगी, कहीं तिरस्कार भी मिलेगा। हानि (नुकसान) और कहीं पराजय। यह

सब विपरीत वस्तुएँ या वृत्तान्त मनुष्य को जीवन में अनुभव करने पड़ते हैं। अब इसमें यदि कोई यूँ सोचे कि "यह क्यों आ गए ?" "भविष्य में यह कभी भी न आएं ?" और ऐसे ही विचारों में जकड़ा रहे और खोया रहे, तो यह व्यक्ति सिवाय अपने दुःख के बढ़ाने के और कुछ भी नहीं करेगा। इस प्रकार से छोटी मोटी और भी बहुत बातों में वह मोह का शिकार हो जाता है। जो सामने आता है वह मन के अनुकूल नहीं और जो मन के अनुकूल है वह मिला नहीं; इस प्रकार ऐसी घटनाओं में वह हुए-हुए या आगे होने वाले, इन्हीं के चक्कर में पड़ा रहता है। वर्तमान में बहुत कम रहता है, अर्थात् मन की उपस्थिति नहीं रहती तथा सुचारु (भली प्रकार की) रीति से जीवन चलाने के लिये मन की स्मृति भी नहीं रहती, तो यह ही सब मोह बन्धन कीचड़ के समान है, जिससे निकलने के लिये मनुष्य को ज्ञान का बल, ध्यान का बल और अभ्यास के बल की आवश्यकता है। सत्य को समझना और पहचानना एवं अपने मन को प्रेरित करना कि व्यर्थ में हुए-हुए का या आगे आने वाले का शोक क्यों करना या क्यों सोच में पड़े रहना ? जो कुछ कर्त्तव्य रीति से करना है, उसी के बारे में सोचना तथा दुःख होने पर सुख का मोह छोड़ करके भी कर्तव्य पालन करना। छोटे मोटे सुख के खोने पर, दुःख के आ पड़ने पर केवल इन्हीं के विचारों में ही न खोए रहना कि यह 'क्यों हो गए ?' 'जो हो गया, सो हो गया'। 'जो होना है, सो होगा'। इस प्रकार विचार रखते हुए वर्तमान में

जो कर्तव्य है, उसको सुचारु (ठीक) रीति से करते जाना, और करने का साहस उत्पन्न करना; जैसे समय के अनुसार या आयु के अनुसार सम्मुख आ पड़े उस में स्मृति टिका करके सहन कर जाना और जो अपने अन्दर नित्य आनन्द रूप अपना आपा, जो क्षण-क्षण चमक रहा है, उसी को साक्षी भाव से अनुभव करना। साक्षी भाव का अर्थ है कि अपने आपको केवल द्रष्टा (देखने वाला) समझते हुए उनको क्षण-क्षण टालते जाना, जैसे कि इस लगन में लगा हुआ मन उनको आराम से टालता जायेगा; तो कुछ समय बीतने पर अपनी आत्मा का आनन्द स्वरूप प्रकट हो जाएगा। इस आत्मा का आनन्द प्रकट होने पर वह मोह का सारा जाल मन में से उजड़ जायेगा अर्थात् उन सब मोह की सारी बातों या वंश का विचार तक नहीं आएगा। इस प्रकार ज्ञान द्वारा स्वयं को दीप्त करके (प्रचण्ड करके) मोह के बन्धन का निवारण करना चाहिए। इससे शीघ्र ही या निकट में निर्वाण पद की प्राप्ति होगी।

६. मान (Pride/Honour/Ego/Respect/Prestige/Elevation/Self-superiority/Arrogance-like all) :

मान नाम मानने का है। यह मान बन्धन व्यक्ति की 'मैं' रूप से भी बाँधता है। जैसे कि किसी व्यक्ति से कुछ कर्म हुआ उससे किसी को सुख, दुःख हुआ, तो सामान्य जन को मान होता है कि यह मनुष्य सुख देने वाला है या दुःख देने वाला है। इस दुःख के कारण से ही उस व्यक्ति में एक 'मैं' का आरोप हो गया। इसी प्रकार

जिसको उस व्यक्ति के कर्म से दुःख व सुख होता है, तो उस व्यक्ति में ('मैं') दुःख व सुख पाने वाला हूँ, का मान होता है, तो मान नाम मानने का ही है। जो शरीरों में कुछ कर्त्ता आदि देखने में आता है, उसी में उस व्यक्ति का वैसे ही मान या मानना हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य सब व्यक्तियों में कुछ न कुछ मान आरोप लगाता रहता है। जैसे सुख दुःख देने वाला, और ऐसे ही प्रीति करने वाला, गाली देने वाला, यह सब मानता में ही है। अब न जाने इस संसार में विचरते हुए देहों में मनुष्य की बुद्धि क्या मानती है। किसी देह को पिता करके माना हुआ है, किसी को माता, भाई, बहिन, मित्र, शत्रु आदि। कई प्रकार से देहों में केवल मान मात्र से ही यह संसार में कई प्रकार के कर्म करवाता है। कई प्रकार से प्रीति, द्वेष, संशय और कर्त्तव्य सम्बन्धी विचारों से बाँधता है। जैसे देह में मान वैसे-वैसे उसके भाव, कहीं मान, कहीं क्रोध, कहीं ईर्ष्या, कहीं मत्सर यह सब मान या मानने की ही लीला है। यदि यह मान या देहों में भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्तियों का मानना न हो, तो देह रूपी मशीन को चलाने वाली शक्ति जो कि चेतन रूप व ज्ञान के साथ है, सब स्थान पर समान रूप से एक ही अद्वैत रूप में दीखेगी और भेद भाव कहीं भी नहीं होगा। जैसे कि हरे, पीले आदि रंग के बल्ब तो हजारो जलते हैं, उन सब में पृथक-पृथक अपनी ढंग की मानता है। जैसे कोई हरा है, कोई पीला है, कोई छोटा है, कोई बड़ा है, किसी का प्रकाश अधिक है, किसी का कम है, परन्तु विद्युत

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

(बिजली) शक्ति तो सब में एक ही है। इसी प्रकार यदि यह व्यवहार के निमित्त व्यक्तियों में या भिन्न-भिन्न देहों में पृथक-पृथक मान का आरोप न लगाया जाए, तो चेतन अपनी त्रिगुण माया रूप शक्ति के साथ ही तो समझने में आएगा। इसलिये यह मान रूप जो बन्धन है, यही परमात्मा में भेद भाव का कारण है। इसी को साधन, ध्यान और ज्ञान द्वारा समाप्त करके एक परम तत्त्व परमात्मा ही यदि सब स्थान पर दृष्टि में आए, तो राग, द्वेष और उनसे होने वाले कई प्रकार के कर्म और उनसे, उन का फलरूप सुख दुःख से जीव रहित हो जाएगा अर्थात् इस मान से मुक्ति हो जाएगी। मुक्त अवस्था में इसी चेतन रूप व्यापक ब्रह्म का आनन्द प्रकट या व्यक्त होकर व्यक्ति (साधक) को अपने आप में शान्त रखेगा। इसलिए अपने में या दूसरे में जो भी मान उस सुख दुःख के कारण व स्वार्थ के कारण लगाना पड़ता है, उसको केवल आवश्यक व्यवहार तक ही सीमित रखे और परमार्थ में या वास्तव में केवल एक ही तत्त्व समान रूप से सब में समझे। इससे सब प्रकार के मान से मुक्ति पाया हुआ सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर (छूटकर) परम पद निर्वाण को पाता है। इस मान का अनुभव मनुष्य को कई प्रकार से बाँधता है। कहीं सम्मान के रूप में, कहीं अपमान के रूप में, और इस प्रकार से अच्छा बुरा लग कर, कई प्रकार के क्रोध आदि विकारों को और मन के हर्ष, शोक आदि अवस्थाओं को उत्पन्न करके यह मनुष्य (साधक) को उलझाए रखता है। अपने आप में बड़ापन,

दूसरे देह वाले में छोटापन, इत्यादि समझता हुआ व मानता हुआ न समाप्त होने वाली उलझन में फंसा रहता है। मन इसी हर्ष से उछल पड़ता है और उछला हुआ अपने आप से बाहर होकर न करने योग्य कर्मों को भी करता है, जिससे दूसरों को दुःख आदि भी होता है। फिर दूसरे भी उस व्यक्ति में कोई मान आरोप करके या लगा करके उसके साथ उसी के अनुसार व्यवहार करते हैं; तो इस प्रकार मान के साथ मान बढ़ता ही जाता है। इस मान के ही जगत् में प्राणी बहता रहता है और इसको सब में परमात्मा एक रूप से दृष्टि में नहीं आता। काया से जो कर्म किया जाता है वह कर्म तो थोड़ी देर में ही समाप्त हो गया। परन्तु उस कर्म के करने वाले में करने वालापन का मान देह में दूसरे सदा के लिए ही बैठाए रखते हैं। जैसे कि वह उसे सदा के लिए ही करने वाला हो। परन्तु करने वाला तो थोड़ी देर के लिए ही था, परन्तु करने वाले का नाम तो नित्य रूप से बैठ रहा है। यह मान जैसे दूसरों में लगाया जाता है, इसी प्रकार अपने आप में भी मनुष्य यह तुच्छ मान नित्य रूप से बैठाता है। जैसे 'मैं धनी हूँ', इसका मान, और उसके अनुसार हर्ष व उल्लास और पुनः उसी प्रकार से अनुचित वाणी आदि से व्यवहार। इसी प्रकार अपने आप में बुद्धिमानता का मान, इसी प्रकार बल, अधिकार, जाति, कुल और भी कई प्रकार से संसार के मान, धार्मिक, ज्ञानी एवं भक्ति आदि का मान। यह बाहर दीखने में तो कुछ आता नहीं परन्तु मन में छुप कर बैठा

हुआ मनुष्यों से ऐसे-ऐसे कर्म और वाणी के व्यवहार करवाता है कि मनुष्य क्षण भर के लिए भी ध्यान में शान्त नहीं बैठ सकता है। यह सब तुच्छता का ही मान लिया हुआ जीव को बाँधता हुआ जीव से न जाने क्या-क्या बन कर दूसरों को दिखाना चाहता है और उसी के लिए कितने प्रकार से सोचों विचारों में पड़ा रहता है। है तो अल्प (थोड़ा), परन्तु जतलाना चाहता है अधिक। यही सब अहंकार रूप मिथ्या मान पुनः उस व्यक्ति को शंकाओं में डाले रखता है कि न जाने दूसरे मुझे क्या समझते हैं ? जबकि अपने अन्दर जो कोई गुण या अच्छाई वह तो है नहीं, परन्तु उस को दूसरे को ऐसे दिखाना चाहता है कि जैसे कि गुण व अच्छाई मेरे अन्दर है। इस प्रकार जो वह नहीं है, उसको भी वह अपने में मानता है और दूसरों से मनवाना चाहता है। इस प्रकार छोटा होता हुआ भी बड़ा बनना चाहता है। बड़ा बनना बनाना तो क्या है केवल बड़ेपन या श्रेष्ठपन, श्रेष्ठता का केवल मान ही तो है। कोई विरला ही ऐसा व्यक्ति होगा जोकि जितना अपना आपा है उतना ही बताए। यदि उतना ही बतलाना है, जितना कि अपने में है, तो उतना तो दूसरों को भी दीखता है पर जो अधिक करके जतलाना चाहता है वह मिथ्या मान का ही तो बन्धन है। इस प्रकार जो वस्तु या गुण किसी के पास है उसको भी अहंकार पूर्वक दूसरों को बढ़-चढ़ कर बतलाना, यह सब मान का ही कुल या परिवार है। इस सब को जो भस्म करे, वही सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म में शान्त होगा। यदि यह सारे मान

जिसके अन्दर बहते रहते हैं वही संसार में धक्के खाता रहेगा। परमात्मा तक नहीं पहुँच पाएगा। इन सब मान आदि को केवल तुच्छ या क्षणिक (थोड़े समय वाले) ही समझ कर अपने मन को इनकी उलझन में नहीं पड़ने देगा; वह पुनः ज्ञान रूप निर्मल जो सच्चा आत्मा है; चाहे अपने आप में या दूसरों में अनुभव या साक्षात्कार करके उसके सदा बने रहने वाले शान्त सुख को सदा के लिये पाएगा। यही निर्मल मुक्ति है जो यहाँ की अपने आप की पूर्ण तृप्ति होगी। और ऐसी शान्ति पाने वाले के लिये दूसरा कुछ भी पाने का पदार्थ उसे अनभुव में भी नहीं आएगा। और किसी वस्तु की इच्छा या चाह भी सदा के लिये उजड़ जाएगी और नित्य आनन्द की प्राप्ति होगी। कुछ भी संसार में होना या बनना, यह सब मान का ही स्वरूप है। जैसे कि किसी से दुःख होने पर उसका बदला लेने की इच्छा भी करेगा, तो वह भी तो संसार में ही तो है। इस प्रकार संसार में ही बने रहने का भाव, कुछ न कुछ होते रहने का, किसी को सुख देने वाला या किसी से अपमान होने की दशा में बदला आदि लेने के लिए यदि संसार में भाव बना रहा तो यह मनुष्य संसार में ही किसी रूप में होता रहेगा या बहता रहेगा और ज्ञान शून्य पत्थर जैसे ही अपने आप को अनुभव करता हुआ सुख नहीं पाएगा। जो अपना आपा है वह संसार के लोकों में ही मिलता है। इसलिये वह अपनी 'मैं' पाने के लिये या उस 'मैं' का अनुभव करने के लिये पुनः बेटा और बाप ही बनेगा। संसार में किसी का बाप या बेटा

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

बनेगा। कभी भी अपने सदा बने रहने वाली सुख स्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं कर पाएगा। परन्तु अपने आप की ज्ञान शून्य अवस्था में ही बना नहीं रह सकता। इसलिए पुनः संसार में आकर (जन्म लेकर) संसार में अपनी "मैं" को पायेगा अर्थात् कभी भी जन्म मरण के चक्कर से नहीं निकलेगा। यह सब भव तृष्णा है। भव नाम होने का है अर्थात् संसार में ही कुछ होना; होना जो होगा, वो तो जन्म के बिना नहीं होगा; जो जन्मेगा, सो मरेगा भी। उस को अपनी आत्मा में कभी टिकाव नहीं मिलेगा। जब वह सोने के बाद नींद से जागेगा, उठते ही उस को संसार की 'मैं' ही घसीटेगी। इस प्रकार मरने पर उसको संसार में ही अपनी 'मैं' का अनुभव होगा; इसलिये संसार में ही जन्मेगा। उसको अपनी आत्मा का अनुभव तो होगा नहीं; अर्थात् सदा जन्म मरण के चक्कर में ही रहेगा, जोकि अत्यन्त दुःख रूप है। इस दुःख की निवृत्ति (छुटकारा) अपनी आत्मा में पूर्ण शान्त टिकाव बिना अर्थात् आत्मा का पूर्ण साक्षात्कार किये बिना नहीं होगी। इसलिये अपनी संसार वाली 'मैं' या 'मान' जोकि संसार में ही होने वाला है, उसको त्याग कर अपनी आत्मा में ही शान्त हो। जो शुद्ध अपनी आत्मा है, यही निर्मल अपनी आत्मा सब के अन्दर व्यापक ब्रह्म के रूप में है। यह सब राग, द्वेष, मान आदि बन्धनों से मुक्त हुई-हुई ज्ञान स्वरूप जो आत्मा है, वह सब के अन्दर समान ही है। इसी का नाम ब्रह्म है। परन्तु जब तक संसार में ही होने का भाव या संसार के सारे बन्धन राग, द्वेष आदि क्षीण न

हो जाएँ, तब तक नित्यानन्द रूप से अपनी आत्मा का अनुभव नहीं हो सकेगा। कुछ न कुछ होने और न बुझने वाली तृष्णा ही भव तृष्णा कही जाती है। इस प्रकार तृष्णा के कारण से संसार तो छूटा नहीं, तो आत्मा में या सर्वात्मा स्वरूप सर्वव्यापक परमात्मा में शुद्ध चेतन रूप से जीव कैसे स्थिरता पायेगा ? इसलिए बाहर कुछ भी बना रहने का भाव, या कोई रूप से भी बना रहने का भाव, जैसे मित्र रूप से बना रहने वाला भाव, या वैरी रूप से, बलवान रूप से और भी कई प्रकार से अधिकार, कीर्ति या दूसरों से ऊँचा पद वाला रूप से होना; यह सब संसार में बने रहने की तृष्णा का तात्पर्य संसार (दुनिया) में ही मान को रखना या 'मैं' भाव को बनाए रखने के रूप हैं। इसलिए इस मान बन्धन से छूटे बिना निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती।

मान का स्वरूप एक और भी है; जिससे सुख मिलता है, उसी में मनुष्य का ''मैं'' भाव उत्पन्न होता है। यह भी मनुष्य की 'मैं' भाव का स्वरूप है कि 'मैं सुखी हूँ'। दुःख पड़ने पर यह सुख वाली 'मैं' नहीं मिलती। वह पुनः उस सुख वाली 'मैं' को प्राप्त करने के लिए न जाने क्या-क्या पाप और पुण्य करने वाला बनता है या होता जाता है; क्योंकि सुख बिना, 'मैं' तो मिलेगी नहीं और यह 'मैं' का मान भी नहीं मिलेगा, जो कि संसार में बहुत से प्राणियों से मिलता था। इस प्रकार बार-बार सुखी होने पर उसे अपनी परिचित 'मैं' मिलती है और मिलती जाती है। वह 'मैं' रूप में बैठा है। यही मैं का मान जो कि मैं को

सुख रूप से मान रहा है, यह केवल मानना ही है। क्योंकि जीता जागता प्राणी दुःख में भी तो बना रहता है, विपरीत घटना चक्कर के दुःखों में भी ज्ञान रूप चेतन देह की मशीन को चलाने वाला कहीं नष्ट तो नहीं हो जाता। यदि इसी को ही वह अपने आप समझे, तो यह कभी मरेगा ही नहीं और इसी के सुख यदि निकट से पहचाने, तो यह प्राणी बाहर संसार में बहुत प्राणियों में छोटे मोटे सुख की 'मैं' को लेने के लिए क्यों भागेगा ? जैसे कि कहीं चाय पी लो, कहीं सिग्रेट, कहीं नशा, इन्हीं के सुखों को लेने में व्यस्त रहा, या अभ्यासी आदि (आदत वाला) हुआ प्राणी यदि यहाँ थोड़ी देर के लिए सुख न मिले, तो उसको अपना आपा खोया हुआ सा मालूम होता है। इतना महान् संसार होता हुआ भी उसकी दृष्टि में रूखा या फीका जान पड़ता है। यह अब संसार तभी उसको मीठा लगेगा, यदि वह नशे आदि की आदत पूरी करके उस सुख को पा जाए। तब वह सुख वाली 'मैं' को भी पाकर यह समझेगा कि मैं अब अपने आप में आया। अब यह मान ही तो है। इसी प्रकार कहीं आदर पाकर, और संसार की मनचाही सब वस्तुएँ यदि इसको मिलती रहेंगी और सारे प्राणी इस प्राणी के अनुकूल बर्ताव करते रहें, तो इसको सुख हो, और सुख में यह समझे कि अहा ! मैं अपने आप में आया। अब बतलाओ कि ये सब मन के अनुकूल, या मान, इच्छाओं के अनुकूल यह सुख वाली 'मैं' इसे कैसे मिलेगी ? किसी को भी सदा कैसे मिल सकेगी? क्योंकि संसार में यह

सदा बाहर के विषयों का सुख या बाहर के व्यक्तियों के मिलने का सुख सदा तो रहेगा नहीं; तो बाहर वाली 'मैं' भी कैसे मिलेगी ? और उसके खोये रहने पर यह 'मैं' से शून्य किस प्रकार रह सकेगा ? अपने आप को उजड़ा हुआ या नष्ट हुआ-हुआ समझेगा। परन्तु जिस को अन्दर शुद्ध, सदा बने रहने वाली अर्थात् 'सत्' और सदा चमकती रहने वाली या ज्ञान रूप से भासती हुई अर्थात् 'चित्' इसी प्रकार सब दुःखों से परे केवल आनन्द रूप से चमकती हुई या प्रकट सदा, ज्ञान रूप रहती हुई अपनी 'मैं' अनुभव में आ जाए, तो यह किसी प्रकार भी और कभी भी खोने वाली नहीं है। यह सनातन अर्थात् सदा बने रहने वाली मुक्ति है। ऐसी मुक्ति मिलने पर पुनः संसार की किसी वस्तु का स्मरण तक नहीं होगा और उसकी चाह या इच्छा होनी तो दूर रही। बुढ़ापा आएगा, देह और इन्द्रियों की शक्तियां क्षीण होंगी, मन माने पदार्थ सेवन करने में नहीं आएंगे, तो बाहर का सुख तो मिलेगा नहीं; तो यह सदा सुख वाली 'मैं' तो सदा खोई रहेगी न ? तब यह प्राणी किस की याद करके समय व्यतीत करेगा अर्थात् उस समय उसका समय व्यतीत कर सकना एक महान् समस्या होगी। ऐसी अवस्था में इस बाह्य सुख वाली झूठी 'मैं' को आत्मा रूप से मान कर, या अपना आपा रूप से मान कर, जीना चाहेगा, तो वह संसार में दुर्गति ही तो पायेगा अर्थात् बुरी तरह से ही समय व्यतीत करेगा। इससे भला फिर यही होगा कि अनन्त चेतन रूप परमात्मा, जो सब की देह के

卐卐

बीच अपनी शक्ति के द्वारा सर्व देह के कार्य को करता हुआ सारे संसार के काम को चला रहा है, उसका स्मरण क्यों न करे ? और स्मरण करता-करता उसे पहचान कर उसके सुख को पाए और सुख को पाकर पुनः इसी को ही अपनी आत्मा या सच्चा स्वरूप समझे। वह जो संसार में 'मैं मैं' को मान रहा था ''यह मैं हूँ, वह मैं हूँ, आदर वाला'', दूसरे से बड़ा छोटा इत्यादि, यह जो सब झूठा मान बन्धन है। इसको अन्तरात्मा रूप परमात्मा जोकि सब के अन्दर बैठा है, उसी को अर्पण कर दे। संसार में जिस-जिस जगह जैसे रूप में लोगों के अन्दर 'मैं' करके कुछ समझ में आता है, बाहर संसार में बना रहने वाला, कुछ भी नहीं है। झूठा एक क्षण का मान ही है। इस मान बन्धन को त्याग कर मनुष्य निर्वाण पद को प्राप्त करे। अर्थात् सब प्रकार के संसार के बन्धनों को त्याग कर शुद्ध केवल अपनी सच्चिदानन्द रूप आत्मा जोकि सर्वव्यापक है, और सबके अन्दर समान रूप से है, उसका साक्षात्कार करके केवल उसी के सुख में अपना टिकाव करे। यही परम मुक्ति स्वरूप है। ऐसी अवस्था में संसार की याद तक भी नहीं आएगी।

अब यह मान, धर्म के कार्य में भी बाधा डालता है। मोक्ष मार्ग पर चलते हुए को भी यह मार्ग में आ पड़ता है अर्थात् सत्कर्मों को करने वाला बन गया; ध्यानी, ज्ञानी या भक्त रूप से यदि लोगों को बाहर प्रकट करने लग गया, तो यह संसार में ही कुछ होता रहा। जब यह संसार में ही कुछ बना रहा, तो आत्मा में प्रतिष्ठा मिली

नहीं, स्थिरता एवं टिकाव पाया नहीं। बिना किसी बाह्य निमित्त के यदि अपनी आत्मा में मन शान्त रहे, तो यही पूर्ण अवस्था है और निर्वाण का स्वरूप है। अतः बाहर जो कुछ भी बनना चाहे, उस सब का लोभ छोड़कर अपनी आत्मा का ही सहारा खोजे और इस बाह्य धार्मिक, तपस्वी, त्यागी, भक्त, ध्यानी, ज्ञानीपने का भी मान न करे अर्थात् अपने आप में मान न करे। इसका तात्पर्य यह है कि बाहर जगत् में 'मैं' करके अपने आपकी कुछ भी मानता ही न करे। दूसरे चाहे कुछ भी बनाते रहें; कोई आदर कर देगा, तो उसी के ही मन में ''मेरी आदर वाली मैं'' समझता है, कोई निरादर कर दे तो उसके मन में निरादर वाली 'मैं' ही समझता है। अपने आप में तो यह सम रहे। इस प्रकार संसार में जो दूसरा कुछ भी बनाता जाए, वह उसी के ही मन का है; अपने आप में तो वह निर्मल, शान्त, परमात्मा की ही 'मैं' रूप से सब स्थान पर समझे। इस प्रकार संसार में जो झूठी 'मैं' मानी हुई है, इससे मुक्ति या छुट्टी पाकर परमपद निर्वाण को प्राप्त हो। बाह्य सुख को पाने के लिए ही बाहर 'मैं' बहुत प्रकार से जन्मती है और वह सुख बाहर बना तो रहता नहीं। अतः वह बाहर की 'मैं' भी बनी नहीं रहती। यही इस 'मैं' का मरना है। यही 'मैं' का मरना दुःख रूप है। दुःख में तो जीवन भी नहीं है। तो पुनः इस दुःख को मिटाने के लिए प्राणी सुख पाने के लिए संसार चक्कर में ही पड़ता रहता है। केवल आत्मा या सर्वरूप से परमात्मा जोकि अपने आप में ही बैठा हुआ है, उसको पहचान कर

और उसका सुख पाकर इस संसार की झूठी 'मैं' बन्धन से पार होना चाहिए। अब यह जो बाहर वाली 'मैं' है, यह जब प्रतीत नहीं होती तो इसका तात्पर्य यह है कि अविद्या के आवरण (पर्दे) में छिप गई। जब तक ज्ञान नहीं प्राप्त होता, तब तक मनुष्य को शान्ति प्राप्त नहीं होती। तो इसलिए इस अविद्या के आवरण (पर्दे) को दूर करके ही परम पद को पूर्ण रीति से जीव प्राप्त होने का यत्न करे। जिस पदार्थ से मनुष्य को कुछ भी सुख मिल जाता है, उसकी आसक्ति या राग होता है। इसी में सुख का मान उसके मन में उत्पन्न होता है कि 'मैं सुखी हूँ'। यदि यह सुख प्रतिबद्ध हो जाए (अड़चन में पड़ जाए) तो उस व्यक्ति का सुख का मान भी रुक जाता है, उससे व्यक्ति दुःखी होता है। और भी, जैसे कि किसी को एक बार मान दे दें, उस मान से वह अपने आप को सुखी अनुभव करेगा तथा उसी से अपने को मान वाला मानेगा कि "मैं ऐसे मान वाला हूँ अर्थात् मैं वह हूँ जिसको यह मान मिला करता है"। ऐसी अवस्था में यह मान यदि दूसरी बार पुनः वह व्यक्ति उसे न दे, तो उसकी उस मान वाली जो 'मैं' है, वह नहीं मिलेगी; वह दुःखी होगा। इससे यह सिद्ध होता है कि जब व्यक्ति किसी से मान पाता है और उस मान से वह सुखी होता है, तो यही मान का सुख उसके लिए बन्धन रूप हो जाता है। यह ऐसा बन्धन है कि यदि दूसरी बार जब वह व्यक्ति मिले और उसे मान न दे तो इसे पहली मान वाली और मान की सुख वाली वह 'मैं' ही नहीं मिलती। जब नहीं मिलती, तो यह सुख

वाली 'मैं' ही किसी आवरण या पर्दे में पड़ गई। यदि पुनः इस की प्राप्ति करनी है तो पुनः मान का सुख मिले तो तब यह पूर्वानुभूत 'मैं' या आत्मा (अपना आपा) मिले। इस प्रकार जिन-जिन पदार्थों से सुख होता है व जिन-जिन प्राणियों से सुख मिलता है, वह सब पदार्थ व प्राणी वैसे ही मिलते रहें और उनका सुख भी होता रहे तब संसार में 'मैं' या अपना आपा अनुभव में आता है। और यदि इन सब प्राणी पदार्थों का सुख विघ्न में पड़ जाए तो वह सुखों वाली 'मैं' नहीं मिलेगी, इससे व्यक्ति दुःखी होगा। यह 'मैं' का मान जो उसे सुख में बन चुका है वह पुनः दुःखी होता है। उस सुख को पाने के लिए, और पुनः सुखी "मैं भाव" रूपी अपने 'मैं' के मान को पाने के लिए उसने 'मैं' यही समझ रखी है जो सुख वाली होती है, और सुख भी वह जो संसार में प्राणी व पदार्थों से मिलता है। इसलिए जब यह प्राणी पदार्थ का सुख अड़चन में पड़ जाएगा तो यह सांसारिक 'मैं' का मान नहीं मिलेगा। यद्यपि ज्ञान स्वरूप आत्मा तो उसमें बस रहा है, परन्तु इसमें उसको यह अपना आपा नहीं दीखता। इस पर तो पर्दा पड़ रहा है। किन्तु दीखता है, केवल इसमें सुखों से जो प्रकट होने वाला 'मैं', जो संसारी सुख है उन्हीं के संग जो 'मैं सुखी हूँ', यही सुख वाला 'मैं' का भाव, जो इसके बिना निद्रा आदि में भी श्वास प्रश्वास कर्म और सब देहों के जीवाने के कर्म में शक्ति रूप से ज्ञान और क्रिया रूप में सब मनुष्यों में विद्यमान है, वह होता हुआ भी प्रकट नहीं होता। यह अविद्या से

ढका होता है; इसलिए इस अविद्या को दूर करके इसको देह में सत्यरूप से समझकर अपने झूठे सांसारिक सुखों की 'मैं' का मान त्यागना चाहिए। जब तक सर्वव्यापक, परम सत्य का साक्षात्कार नहीं हुआ, तब तक ही सांसारिक सुख में 'मैं' का मान है या "मैं" करके मानता है। जब सब बन्धनों से मुक्त होने पर चेतन सत्य प्रकट हो गया और मुक्ति का सुख अनुभव में आ गया, तब झूठे सुख का सांसारिक प्राणी और पदार्थों के संग से होने वाले का मान बन्धन नहीं रहेगा। तो साधक व्यक्ति अपने नित्य आनन्द रूप आत्मा में सदा के लिये टिकाव पा जाएगा। यह जो सत् चित् आनन्द रूप आत्मा है वह केवल बाहर की लगन अर्थात् संसार में ही दौड़ता रहने के कारण से ढका रहता है। इसलिये उस आत्मा के स्वरूप सुख का अनुभव सामान्य व्यक्ति जोकि संसार में ही रंगा हुआ है या बंधा हुआ है, उसको इस आत्म रूप का अनुभव नहीं होता। जो संसार के बन्धनों से सांसारिक सुखों को तुच्छ समझ कर अर्थात् सदा न बने रहने वाले समझकर, इनसे विरक्त या वैराग्य वाला होकर कुछ अभ्यास द्वारा केवल अपने आप में ही टिकाव खोजने लगे, तो समय के अनुसार बाहर के सुखों के संस्कार ढीले पड़ जाएंगे और वह सुख मस्तक में भी नहीं छुपेंगे; तो अपना सच्चिदानन्द रूप आत्मा उस मन की निर्मल अवस्था में सदा बने रहने वाला सुख रूप से प्रकट हो जाएगा। अब उस सुख के प्रकट होते ही सब प्रकार की संसार में होने की तृष्णा और उसकी वासना या

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

संस्कार बुझ जाएगा या मिट जाएगा और ऐसा वह व्यक्ति शान्त निर्मल स्वरूप में सदा के लिये टिकाव प्राप्त कर लेगा। यही सदा के लिये संसार का मन बुझ जाना निर्वाण रूप से कहा जाता है और बुझ जाने के बाद परमानन्द की अनुभूति खिल जाने पर सदा के लिये संसार से मुक्त हो जाएगा। यही परम मुक्ति परम पद है।

१०. अविद्या (Ignorance/Spiritual Nescience):

अविद्या वह शक्ति है, जोकि शुद्ध ज्ञान स्वरूप चेतन, जो सर्व देहों में और सर्व जगत् में समान रूप से बस रहा है, उसको ढांकती है। इस को व्यावहारिक रीति से यूँ भी समझा जा सकता है कि संसार में प्राणियों और पदार्थों के साथ जीव का सम्बन्ध होने पर जो राग, द्वेष, संशय, मोह, मान आदि सब बन्धन मन में उत्पन्न होते हैं; जब यही बन्धन प्रकट रूप में संसार की ओर इस प्राणी को प्रवृत्त करने के लिए अपनी सक्रिय अवस्था में तो नहीं होते, परन्तु जिस द्रव्य से ये रचे गए हैं उसी मूल में भंग (टूटी) अवस्था में बने हुए मनुष्य के ज्ञान को आवृत्त कर लेते हैं अर्थात राग, द्वेष, बन्धनों की टूटी हुई अवस्था में पड़ा हुआ, उन्हीं सब की भग्न अवस्था में पड़ा हुआ, जो कोई तत्त्व (पदार्थ) है वही अज्ञान या अविद्या है। जैसे कि मिट्टी से रचे हुए घट या और कई खिलौने अपने भिन्न-भिन्न रूप में दीखते हैं, परन्तु यदि उस गीली मिट्टी के सब खिलौनों को भंग (तोड़) कर दिया जाए, तो वह मिट्टी की मिट्टी ही दीखती है; उसमें कोई खिलौनों का रूप प्रकट नहीं होता। इसी प्रकार जिस द्रव्य या पदार्थ में

यह सारे राग, द्वेष, आदि बन्धन और जगत् का सकल विस्तार प्रतीत हो रहा है या दृष्टि में पड़ रहा है जब यह सब विस्तार अपने आप में मिट्टी में खिलौनों के समान भंग हो जाए और दृष्टि में न पड़े तो केवल मृतिका मात्र के समान इन रागादि सब की भग्न अवस्था में जो कुछ शेष माटी के समान बचा हुआ पदार्थ है वह अज्ञान या अविद्या है। जिस प्रकार जागते हुए मनुष्य के अन्दर आँख, कान, आदि दसों इन्द्रियाँ अपने-अपने काम करते हैं परन्तु जब यह मनुष्य निद्रा में खो जाता है तो यह इन्द्रियाँ जब वहां कुछ नहीं समझतीं तो यह नहीं कि वह नष्ट हो गईं, वह सब निद्रा अवस्था में अज्ञान में लीन हो जाती हैं अर्थात् यह नहीं कि इन्द्रियाँ समाप्त हो गईं; परन्तु अपना जागृत अवस्था की तरह अपने-अपने विषयों को नहीं बतातीं, तब यह सब अज्ञान अवस्था में लीन रहती हैं। यह सब इन्द्रियाँ जिसमें लय हुई-हुई छुपी बैठी हैं यही अज्ञान का एक स्वरूप है। जागने पर इसी से फिर उछल कर अपने-अपने कार्य करती हैं। जैसी जाग्रत अवस्था में सारा संसार दृष्टि में पड़ता है, निद्रा में वह कुछ भी नहीं दीखता। वह केवल अज्ञान में ही समा जाता है और अज्ञान रूप से पड़ा हुआ निद्रा की अवस्था को उत्पन्न करता है और पुनः यही अज्ञान या अविद्या स्वप्न में सब रूपों को भी खिलौनों के समान प्रकट करती है। अनन्त प्राणी, अनन्त पदार्थ और उन के सब व्यवहार इसी से प्रकट होते हैं और प्रतीत होते हैं। चेतन में तो ये सब चेतन स्वरूप ही हैं। यदि वह

चेतन ही चेतन दृष्टि में आए और संसार करके कुछ भी समझ में न पड़े, अनन्त ज्ञान रूप से ही यह सब देखे, तो अविद्या नष्ट हो जाती है और अविद्या के नष्ट होते ही सारा अविद्या का विस्तार भी नष्ट हो जाता है। परन्तु यह सब साधक को अपने ज्ञान में अपने साधन द्वारा अनुभव में लाना चाहिए। साधन करते हुए को अविद्या का परिवार राग, द्वेष आदि आत्म साक्षात्कार में विघ्न डालता है। अतः अविद्या को मूल से नष्ट करने के लिए पहले सब बन्धनों को क्रमशः एक-एक करके समाप्त करने का अभ्यास करना चाहिए। यह बन्धन सांसारिक सुख को पाने के लिए और दुःख को बाह्य साधन द्वारा टालने के लिए सर्वथा व्यस्त व्यक्ति के मन में बढ़ते रहते हैं और सर्वथा अपनी-अपनी विषयों की स्मृति उत्पन्न करवाके जगत् में कई प्रकार के कर्मों के लिए प्रेरित करते रहते हैं या उकसाते हैं। इसलिए मन में जब यह प्रतीत हो कि मन किसी वस्तु के बारे में जानना व समझना चाहता है, तो इस का तात्पर्य यह है कि वह अविद्या से ढका हुआ है; और कोई दृष्टि बनाकर या ज्ञान उत्पन्न करके किसी सांसारिक स्वार्थ की ओर अग्रसर होना चाहता है। पहले अविद्या कुछ जानने के लिए उत्सुकता उत्पन्न करती है। जब किसी पदार्थ को जान लिया, तो उसको पाने के लिए मन सोच या चिन्तन करता है और चिन्तन करता हुआ इच्छा करके कर्म को करके सुख पाता है और फिर सुख से मान वाला होता है। यह सब अविद्या का चक्कर है। यदि इस चक्कर में

मनुष्य न पड़ना चाहे, तो यही अविद्या राग, द्वेष आदि बन्धनों का बल उसे शान्त बैठने नहीं देगा और निद्रा ला देगा। इस रूप में अविद्या या अज्ञान प्रधान होता है, इसमें अविद्या का तमोगुण रूप होता है। यदि निद्रा की दिशा की ओर अज्ञान का बल प्रेरित न करे, तो जाग्रत अवस्था में काम, क्रोध आदि विकारों को प्रकट करके विषयों की ओर धकेलता है। और जब तक इन विषयों की अनुकूल रूप से प्राप्ति नहीं होती, तब तक दुःख का अनुभव करवाता है। दुःख प्रतीत होने पर मनुष्य वही विषयों के जगत् में पुनः खो जाता है। यदि कोई उद्योगी साधक इन राग, द्वेष आदि बन्धनों के तनाव व दबाव के दुःख को आसन आदि में सहन कर सके और बुद्धि को जगाए रखे तो इन विषयों के सुख की तुच्छता प्रत्यक्ष रूप से व प्रकट रूप से बुद्धि में अनुभव करके इनके त्यागने में ही मन बनाए रखे और विषयों के संग को बहुत दुःख का कारण समझ कर विषयों से वियुक्त रखने के थोड़े दुःख को सहन करता जाए अर्थात् झेलता जाए; तो मन के अन्दर ऐसी शक्ति प्राप्त होगी कि राग द्वेष आदि बन्धन समय पाकर अपने आप क्रमशः देखते-देखते निवृत्त होते जाएंगे और निवृत्त अवस्था में शुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा झलकने लगेगा। यह प्रथम आत्मा का साक्षात्कार है। जब सब बन्धन टलने पर ज्ञान स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार बना रहने लगे तो इसमें इसकी आनन्दरूपता भी अनुभव होने लगेगी तो फिर सदा के लिये संसार से मुक्ति प्राप्त हो जाएगी। तब कभी भी

संसार के चिन्तन का भाव तक भी नहीं रहेगा। यह सदा जागती जोत जब अमृत रूप से अनुभव में आएगी, तब मनुष्य अपने अन्दर इस ज्ञान को भी पाएगा कि जो यह मुझे अनुभव में आ रहा है यह कहाँ नहीं है ? अर्थात् यही सब स्थान में, सब प्राणियों में सदैव बसा हुआ है। पर जैसे पहले मेरे अन्दर ढका हुआ प्रकट नहीं था, इसी प्रकार सब के अन्दर जन्म से तो प्रकट नहीं भासता एवं ढका रहता है। परन्तु जब सब बन्धनों के टलने पर इस का साक्षात्कार होता है तो पुनः यही सर्वत्र सब प्राणियों में समझा जाता है। यही इसका व्यापक ब्रह्म स्वरूप है। अर्थात् उसे अपनी आत्मा एवं व्यापक चेतन, इसमें कोई अन्तर एवं भेद प्रतीत नहीं होता। उसकी दृष्टि कहीं भी पड़े तो उस अनुभवी पुरुष को एक ही चेतन सब जगह दृष्टि में आता है। भले व्यवहार करने के लिये, कुछ संसार के ढंग से ब्रह्म को व्यवहार के लिये समझ भी ले, परन्तु वास्तविक या सत्य की दृष्टि से तो उसको एक वही चेतन ही चेतन अनुभव में आता है।

साधारण मनुष्य के अन्दर अविद्या की शाखाएँ बहती हुई कई प्रकार से दीखती हैं; जैसे कि कोई अकेले में (बिना साथी के) बैठा हुआ जब देखता है कि उसके मन में आनन्द नहीं है, तो एक दम उस आनन्द की खोज के लिये चित्त को जगाता है; तो वह चित्त सोचता हुआ बहता रहता है; परन्तु अभी तक किसी वस्तु की दृष्टि नहीं बनी अर्थात् उसको आनन्द की कोई समझ नहीं आ रही; खाली सोचो में बहता जाता है। यह सोचते हुए बहने की

हालत अविद्या की ही है। अचानक कुछ आनन्द देने वाली वस्तु का संस्कार जाग गया और आनन्द देने वाली वस्तु की नजर या दृष्टि बन गई तो समझो ! कि अविद्या से दृष्टि पैदा हो गई। अब इस दृष्टि से जैसे आनन्द होता है, फिर इच्छा पैदा हो गई और इच्छा पैदा होने के पश्चात् उस इच्छा को पूर्ण करने के लिये संसार में कुछ करने कराने को प्रवृत्त हो गया; तो यही सब संसार का चक्कर है। यह सब उस अविद्या से ही आरम्भ हुआ और यह आगे से आगे बढ़ता जाता है। आत्मा इस सब के अन्दर ढका रहता है और यह प्राणी संसार में ही बहता रहता है। यदि प्रथम ही अविद्या टल जाए और संसार की किसी वस्तु की खोज का मन न उत्पन्न हो और मनुष्य इसी क्षण-क्षण बहती हुई अविद्या को साक्षी रूप से देखता हुआ बहने दे, तो समय पाने पर ज्ञान रूप अपना आपा आनन्द रूप से प्रकट हो जाएगा या अनुभव में आने लग जाएगा। तब संसार की ओर काम आदि के चक्कर को सदा के लिये ही छोड़ देगा या त्याग देगा। यदि इसके साथ-साथ संसार की तुच्छता और उसके आनन्द की तुच्छता का और अन्त में उसकी दु:ख रूपता को अपने मनोमन चिन्तन करता हुआ इसके सुख को तुच्छ रूप ही समझे, तो सदैव काल के लिये अपने अनन्त आनन्द रूप में और ब्रह्म भाव से स्थिर हो जाएगा। यही परम विमुक्ति है। इसका अनुभव करने पर न कुछ जानने की इच्छा, न कुछ पाने की इच्छा रहेगी और सदा अपने स्वरूप में स्थित रहेगा और सदा के लिये जन्म मरण से रहित

अपने आनन्द स्वरूप में स्थित रहेगा। यदि बन्धन भंग तो नहीं हुए, परन्तु बन्धनों की भग्न (टूटी, फूटी) अवस्था अविद्या रूप तक भी मनुष्य के ज्ञान को ढका रखेगी; इसके ढकने के कारण से जो शुद्ध ज्ञान रूप आत्मा है, वह प्रकट नहीं होगा। ऐसी अवस्था में मनुष्य का मन अपनी आत्मा में रमण नहीं कर सकता। वह इस अरति (बिना रमण की दशा) की अवस्था के पुनः संसार में ही बहने वाले पुराने संस्कारों को जगाने की ओर लपकता है। ऐसी अवस्था में यदि साधक इस अविद्या की ज्ञान शून्य अवस्था को भी साक्षी रूप से रह कर सहन कर ले और ज्ञान शून्य अवस्था का दुःख रूप से ही अनुभव करता रहे, तो यह अविद्या भी टल जाएगी। अविद्या के टलने पर चेतन सुख या आनन्द रूप से भान होने लग जाएगा। तब अरति (मन के न रमणे की दशा) नहीं रहेगी अर्थात् मन लग जाएगा तो पुनः संसार के सुख की ओर नहीं भागेगा। ज्ञान शून्य अवस्था नहीं रहेगी, ज्ञान प्रकट हो जाएगा। मनुष्य कृत कृत्य हो जाएगा। इसलिए यह अविद्या रूप अन्तिम बन्धन को आसन ध्यान पर बैठ कर पूर्ण रीति से समझते-समझते नष्ट करना चाहिए। अविद्या नष्ट करने के पश्चात् (बाद में) कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। पहले अविद्या अपने आप में नष्ट होगी और अपने आप में ही चेतन का साक्षात्कार होगा। फिर दूसरों में भी यही चेतन समझा जाएगा। इस प्रकार ब्रह्म भी प्रकट हो जाएगा जोकि सर्वव्यापक है। इसका तात्पर्य यह है कि अन्य व्यक्तियों या जीवों के बन्धन, ज्ञानी पुरुष को

नहीं बाँधेंगे; क्योंकि वह सब में वही चेतन अनुभव करेगा, जोकि अविद्या आदि बन्धनों से रहित अपने आप में किया गया है। वही चेतन दूसरों में समझने पर उसे मिथ्या दृष्टि या देहों में अन्य मित्र, वैरी आदि का मान या मानना नहीं होगा। केवल चेतन ही चेतन दीखेगा। इस प्रकार सर्वव्यापक (सब में बैठने वाला) जो सब में बसा हुआ है, उस पर भी अविद्या का पर्दा नहीं रहेगा। इस अविद्या या आवरण (परदे) के मिटने से दुःख रहित चेतन सब में समान रूप से भासेगा। यही परम पद या निर्वाण है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि निर्वाण वह सत्य है कि अविद्या, मान, मोह, राग, द्वेष आदि सब बन्धनों के समाप्त होने पर और इन बन्धनों के दुःख मिटने पर प्रकट अपनी आत्मा का आनन्द रूप से भान होना (अपने आप का ज्ञान होना)। जब तक यह अपना आपा प्रकट नहीं था अर्थात् इसी का नाम है अविद्या जोकि द्वेष आदि का चित्त संसार में ही इच्छा इत्यादि द्वारा जीव को कर्मों में प्रेरित करके कर्मों से प्राप्त होने वाले सुख को दिखाकर सुख रूप आत्मा की क्षणिक झलक दिखाता था। जब अविद्या आदि बन्धनों का दुःख पूर्ण रीति से टल जाने से केवल आत्मा का सुख प्रकट हो गया तो अब उस क्षणिक विषय सुख और उससे उलझने वाला क्षण भर की आत्मा का सुख पाने के लिये क्यों मन लपकेगा ? अर्थात् संसार में क्यों जाएगा ? संसार पूर्ण रीति से मन से उतर जाएगा और उससे संसार का मन ही बुझ जाएगा। यही निर्वाण का परम पद है।

卐卐

अविद्या का एक और स्वरूप जानना मनुष्य के साधन में उपयोगी है। प्राकृतिक मन संसार के पदार्थों व प्राणियों के साथ जो सुख का अनुभव करता है वह पूर्ण रीति से दुःख में ही समाप्त होता है। अर्थात् अन्त में उन सब विषयों से दुःख ही मनुष्य पाता है। परन्तु यह सत्य तो परदे में ही रहता है और सामने का अल्प (थोड़ा) सुख वही दृष्टि में बसा रहता है और उसी की दृष्टि बनी रहती है और उसी दृष्टि के सुख को प्राप्त करने का भाव भी बना रहता है और दुःख पर परदा पड़ा रहता है। यह भी अविद्या ही है, जो दुःख के ज्ञान को तो ढके रखती है और सुख को ही दृष्टि में झलकाती है। इसलिए व्यक्ति दुःख को तो भूला रहता है और क्षणिक विषयों के सुखों में ही प्रवृत्त (लगा) रहता है अर्थात् इन्हीं में ही जकड़ा रहता है। यदि कोई मुमुक्षु (मोक्ष की इच्छा वाला अर्थात् सब सांसारिक दुःखों से छूटने की या मुक्त होने की इच्छा रखने वाला) साधक दृढ़ आसन पर ध्यान जमाकर इन विषयों के दुःख में अन्तरदृष्टि जगा ले और इस प्रकार इस दृष्टि को मन में जाग्रत रखे कि जब विषयों के सुख की याद या स्मृति आए, तो झट विषयों के दुःख की दृष्टि या विषयों के दुःखपने को याद करके संसार से दृष्टि को हटाकर विषयों की ओर से मन विरक्त कर दे (हटा ले) तो इससे अविद्या भी टल जाएगी, जो अविद्या मिथ्या ज्ञान रूप कही गई थी। इसके टले बिना मनुष्य संसार से निवृत्त भी नहीं हो सकता। जो वस्तु जैसी है उसको वैसे ही समझना, अन्यथा (विपरीत रूप से) न ही

समझना, यही सत्य का ज्ञान है। यही सत्य का ज्ञान इस पूर्व कही गई अविद्या को नष्ट कर देता है। विषय दुःख रूप हैं, दीखते हैं सुख रूप। इसी से संसार चलता रहता है। विषय दुःख रूप नहीं दीखते। दुःख रूप होते हुए विषय दुःख रूप से ही दृष्टि में या समझ में जब आ जाएँ, तो समझ लो कि सत्य ज्ञान हो गया है। इससे विषयों का सुख रूप होना, या समझ में आना रूप मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाएगा। विवेक प्रकट हो गया अर्थात् सत्य का ज्ञान प्रकट हो गया। मिथ्या ज्ञान रूप अविद्या टल गई। अब विषय सुखों में मन नहीं जाएगा। उनको जानने के लिए बल भी नहीं करेगा; और उनको समझने के लिए या पाने के लिए चिन्तन भी नहीं करेगा। यहाँ तक कि उनकी दृष्टि भी नहीं बनाएगा। जब दृष्टि भी नहीं बनेगी, तो मुमुक्षु साधक अपने आप में जाग्रत रहता हुआ ज्ञान मात्र की निर्विकल्प अवस्था में पूर्ण निर्वाण की शान्ति का अनुभव करेगा।

जैसे दुःख वाली वस्तु को सुख रूप से मिथ्या ज्ञान रूप अविद्या दर्शाती है, इसी प्रकार अनित्य देह आदि को भी वही अविद्या ऐसे दर्शाती है, जैसे कि ये सदा ही बने रहेंगे। जन्म से बालक को कभी भी ये देहादि नष्ट होने वाले नहीं प्रतीत होते। इसी प्रकार अविद्या अपवित्र, मलमय देह आदि को पवित्र जैसे दर्शाती है। इसीलिये मनुष्य को दूसरे के देह आदि का संग करने की इच्छा होती है। परन्तु इनसे ग्लानि नहीं होती। ऐसे ही प्रत्येक क्षण जब से देह उत्पन्न हुआ, कभी भी यह एक जैसा न

रहा, न दिखाई ही दिया। क्षण-क्षण परिवर्तित होने पर (बदलते जाने पर भी) इस देह में दूसरों को कोई एक ही दृष्टि में आता है; अर्थात् इस अनात्मा देह में क्षण-क्षण बदलने वाले में एक कोई नित्य सतत् बना रहने वाला पिता, पुत्र, मित्र, वैरी आदि प्रतीत पड़ते हैं। यह सब देहों में ही दिखाई पड़ते हैं। हैं तो सब अनित्य, अपने-अपने समय के भाव के ही रचे हुए। परन्तु सदा बने रहने वाले जैसे प्रतीत होते हैं। वही अनात्मा में आत्मा (सदा बने रहने वाला तत्त्व) की बुद्धि या ज्ञान होता है। यह सब मिथ्या ज्ञान रूप अविद्या की रचना है। न तो देहादि सुख रूप हैं और न ही पवित्र; और न इनमें नित्यपना। जड़ यह देह आत्मा रूप भी नहीं। परन्तु अविद्या या मिथ्या ज्ञान से यह सब विपरीत रूप से प्रतीत होता है अर्थात् देह में ही 'मैं' भाव या अपनी आत्मा का भाव प्रतीत होता है; जबकि आत्मा तो केवल आनन्द ज्ञान स्वरूप और कभी भी नष्ट होने वाला नहीं है और देह नष्ट होने वाला है और इसी नष्ट होने वाले देह में आत्मपना या आत्म भाव प्रतीत होता है। यह सब विपरीत ज्ञान है, यह सब अविद्या का स्वरूप है। और इसलिये मनुष्य विपरीत मार्ग पर चल कर सुखी होने के स्थान पर दुःख ही बढ़ाता जाता है। ऐसी मिथ्या ज्ञान रूप अविद्या को भी नष्ट करके मनुष्य अपने कल्याण (भले) को साधे। विचार द्वारा विवेक जगा कर ध्यान में सत्य को समझे। मिथ्या ज्ञान की भ्रान्ति टल जाएगी, बुद्धि शुद्ध होगी। उचित यत्न द्वारा और वैराग्यादि की सम्पत्ति द्वारा

बन्धन पहचान में आ जाएंगे और उद्योग (पुरुषार्थ) करने पर पीछे कहे गए राग, द्वेष आदि सारे बन्धन टलने पर स्थाई शान्ति रूप परम पद की प्राप्ति भी अन्त में हो जाएगी। जिनसे उनकी कामनाएं और इच्छाएं पूर्ण होती हैं और उन इच्छाओं के पूर्ण होने पर सुख मिलता है उन्हीं सब व्यक्तियों के साथ उलझा रहता है और उन्हीं की दुनिया में विचरता हुआ एवं घूमता हुआ अपना सारा जीवन बिता देता है और पुनः मरने के पश्चात् उन्हीं के संस्कारों से पुनः वैसों में ही जन्मता है; कभी भी वह अपनी स्थाई शान्त, आनन्द रूप आत्मा में प्रतिष्ठा नहीं पाता। यही सब काम लोक का जीवन है और काम लोक का ही वासा है। संक्षेप से इस सब का तात्पर्य यह है कि जिन-जिन व्यक्तियों को एक दूसरे के सम्बन्ध या संग से जो कुछ बाह्य सांसारिक सुख मिलता है बस उन्हीं में सदा तन, मन और बुद्धि द्वारा जकड़े रहना, यही सब काम लोक की लीला है; जो जन्म के बाद जन्म देती है; कभी भी जन्म मरण के चक्कर से निकलने नहीं देती और अपनी आत्मा की स्थाई शान्ति व आनन्द सुख का अनुभव करने नहीं देती।

जिन देहों में जन्म से व्यक्ति उलझा बैठा है, उसके मन में उन्हीं व्यक्तियों के सम्बन्ध वाले काम लोक के विचार हर समय चक्र काटते रहते हैं। काम लोक का

अर्थ है कि एक व्यक्ति का बाह्य (बाहर का) स्वार्थ, सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करने का, और उसी के लिए ही आयोजन आदि करते रहने का उद्देश्य (मतलब) बना हुआ है। यही काम लोक है। इसी काम लोक के व्यक्तियों में आँखें गड़ी रहती हैं। इन्हीं के बारे में हर समय कान खड़े होते रहते हैं; और जब थोड़ा इनमें जकड़े-जकड़े दुःख अनुभव होने लगे तो आलस्य, आराम, निद्रा वाला भाव सिर पर सवार होकर मनुष्य को अन्धकार या तमोगुण में पहुँचा देता है। उठते ही पुनः उसी काम लोक के देह, और वही व्यक्ति, वही कामना वाले व्यवहार उसकी सारी सत्ता (अस्तित्व, हस्ती) में चक्र काटने लगते हैं। और वह भी इन्हीं में उलझा-उलझा मृत्यु तक तो भले पहुँच जाए, परन्तु इस काम लोक से पीछा छुड़ाकर उस व्यापक जीवन रूप, सब जीवों की समष्टि (सर्वात्मा, परमात्मा) तक अपनी इन्द्रियाँ, व मन नहीं ले जा सकता। वहाँ तक इस जगत् के काम के बन्धन बढ़ने नहीं देते। इसका तात्पर्य है कि व्यापक प्रभु अविद्या से ढक रहा है। चारों ओर उसी परमात्मा का राज्य है। परन्तु कामी जन को तो अपने काम के ही सम्बन्धी जनों से प्रयोजन है। यदि कोई मनुष्य विचार जगाकर कुछ आत्मा के बारे में निश्चय करे कि 'आज का ही मैं नहीं हूँ; कल परसों व, आने वाले

समय में भी रहना है; और उस समय तक मेरी क्या दशा होगी ?' तो समझो! यही विवेक वाला पुरुष आत्मदर्शी बनने चल पड़ा। अब ज्यों-ज्यों अपने आगे भी रहने वाले आत्मा के लिए विचारता जाएगा, त्यूँ-त्यूँ इसकी अविद्या नष्ट होती जाएगी और आत्मज्ञान विद्या के रूप में उत्पन्न होता जाएगा। अन्त में जब आगे सदा बने रहने वाले आत्मरूप अपने आपके लिये हित या भला विचारेगा, तो उसे दुःखों में पहुँचाने वाले सब काम व कामनाएँ त्यागनी पड़ेंगी। और त्यागने का अल्प दुःख सहन करना रूप तपस्या भी करनी पड़ेगी। जब वह अनुचित निद्रा का भी मोह, और सुख का राग छोड़कर एकान्त में आसन पर स्थिर रहकर पर्याप्त (काफी) समय जागता रहेगा, और अपने मन को वही काम लोक की दृष्टि, संशय, इच्छा, (काम) क्रोध से सम्भालता रहेगा तो उसकी इन्द्रियाँ व मन व्यापक जीवन या सब जीवों की समष्टि (सर्वात्मा, परमात्मा) में खुलेंगे। तब जानो कि परमात्मा को ढांकने वाली अविद्या भी नष्ट हुई, वहाँ वह अपने को नहीं देखेगा। वहाँ तो व्यापक जीवन के ही शब्द कानों से सुनेंगे और भले लगेंगे। व्यापक के अनन्त रूप आँखों से दीखेंगे और वही पहले के अपनों से भी भले प्रतीत होंगे। व्यापक की सुगन्धें, व्यापक के स्पर्श और व्यापक के ही ध्यान में रस, व्यक्ति को स्वर्ग का अनुभव कराने लगेंगे। यदि उन सब व्यापक के जीवों में भावमय अपना आपा भी जाग गया और व्यापक की भी भाव में एकरूपता या प्रतिमा अपने मन में खड़ी हो गई, तो गोलोक को ढांकने

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

वाली अविद्या नष्ट हुई।

इसी प्रकार सब जीवों के प्रति मैत्री, करुणा आदि वाला भाव जागने पर ब्रह्मा के समान सब जीवों की भलाई का भाव बनने पर ब्रह्म लोक का सुख भी प्रकट अनुभव में आने लगेगा। अर्थात् पहले वह भी अविद्या ने आवृत्त कर (ढक) रखा था अब मैत्री, करुणा आदि वाले भाव जागने पर वह भी प्रकाश में आ गया। उसकी अविद्या भी नष्ट हो गई। इस प्रकार पुनः यदि सब जगत् सत्त्व रूप ज्ञान का ही विस्तार है; केवल बुद्धि सत्त्व रूप से भगवान् विष्णु ही सब रूप से अपनी माया रूप क्रिया शक्ति से उत्पन्न करता है और धारण करता है; ऐसा भाव रूप से ज्ञान सम्पन्न हुआ, तो विष्णु लोक की अविद्या भी नष्ट हो गई और ऐसा ज्ञानी, भगवान् विष्णु को ही प्राप्त होगा।

यदि इस सत्त्व की उत्पत्ति या शान्ति यहाँ होती है, ऐसा शान्त अव्यक्त, जिसमें कुछ भी प्रतीत नहीं होता, ऐसे शान्त लोक में मन जाग गया तो शान्त शिवलोक की अविद्या टली। ये सब लोक अविद्या से ढके हैं। जिस-जिस की अविद्या हटी, वही लोक प्रकट भासेगा और उपासक उसी-उसी लोक में सत्त्व (अस्तित्व) लाभ करेगा। इसी प्रकार यहाँ जाग्रत अवस्था और निद्रा अवस्था दोनों ही नहीं, ऐसी भी एक अवस्था है। वह भी मन में प्रकट होकर सुख रूप से बाँधती है। ये सब लोक उस साधक के अनुभव में आते हैं, जो क्रमशः पहले काम लोक से उठे। आगे-आगे लोकों की अविद्या नष्ट होने पर

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

उनका ज्ञान उस साधक को होता जाएगा। परन्तु परम मुक्ति का पद अभी भी अविद्या से ही ढका रहेगा। यह शुद्ध ज्ञान मात्र के अपने निजी स्वरूप को ढांकने वाली अविद्या तो तभी नष्ट होगी, जब दुःख सुख को सम करके, और कामों के सुखों को त्याग करके पहले त्याग के दुःख को ही देखना, और उसी में मन को स्थिर करना, और उसका (दुःख का) निकट रूप से साक्षात्कार करना और मन के सब शंकादि विकारों को, और सुख की इच्छा को, क्रोधादि को अपने समय-समय पर आने पर शान्त करते जाना, निद्रा को भी त्यागते जाना। इस प्रकार दुःख के ध्यान में स्थिर रहना। इस प्रकार साक्षात्कार करते-करते जब मन समाधि में इस दुःख का कारण बाह्य जगत् की तृष्णा को ही समझे, तो उस तृष्णा को मन से त्यागकर, उस सारे दुःख का अन्त अपनी अन्तरात्मा में बिना किसी सहारे के शून्य में ही साक्षात् देखकर उस निर्विकल्प अवस्था के सुख में शान्त टिकाव व स्थिरता प्राप्त करेगा। जब यह बिना किसी बाह्य निमित्त के निरूपाधि अन्दर का सुख साक्षात्कार रूप में आ गया, तो इस अनन्त सत् ज्ञान (चित्) आनन्द रूप को ढांकने वाली अविद्या चल बसी। तत्त्व का साक्षात्कार तभी समझा जाएगा, जबकि ऐसी अविद्या का परदा उठ जाए और सहज ज्ञान, या चिन्मात्र ही चिन्मात्र (केवल चेतन ही) अपनी महिमा में रहे। जगत् की सत्ता से मुक्ति मिल जाए। यही अन्त की अविद्या की निवृत्ति है।

ऊपर कहे लोकों में तो सत्त्व (जीव का अस्तित्व)

रहता है। परन्तु पूर्ण अविद्या के नष्ट होने पर पुनः जीव का सत्त्व भी न रह कर अनन्त ज्ञान ही ज्ञान रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान का विनाश नहीं है। इसलिए जीव की मुक्ति कोई विनाश रूप नहीं। अनन्त ज्ञान रूप से पहले के समान वह अब भी है ही, केवल संसार की राग वाली 'मैं' समाप्त होती है। उसी से ही मुक्ति होती है। दुःख को टालने के लिए पुनः मुक्ति प्राप्त मनुष्य को जगत् में आने की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि उसने दुःख को बिना बाह्य निमित्तों के अपने ध्यान में ही पूर्णतया टालकर शान्त निर्विकल्प अवस्था में सदा बनी रहने वाली शान्ति देख ली है, प्रत्यक्ष रूप से साक्षात्कार कर लिया है। अन्य जीवों को, जिन्होंने अपना दुःख बाह्य जगत् की वस्तुओं व प्राणियों के सहारे से ही टालना सीखा है, उन्हीं को संसार में उस दुःख को टालने के लिए आना पड़ता है। उन्हीं के लिए यह दुःख सदा बना रहने वाला सा दीखता है। क्योंकि इस दुःख का कारण भी तो बाह्य जगत् की तृष्णा ही तो है। इसी लिए जब तक जगत् का सहारा है, तब तक बाह्य दुःख भी बना ही रहेगा। वही जगत् के समान नित्य रहेगा। यही दुःख फिर-फिर जगत् को खड़ा करेगा। जब दुःख अन्तरात्मा में ही देखते-देखते टल गया, इसी का नाम है कि साक्षी रूप से स्थिर रह कर दुःख का अन्त देख लिया। दुःख से चलायमान न होकर, धैर्य को नहीं खोया और आसन पर तब तक स्थिर (डटे) रहे, जब तक परिवर्तन स्वभाव वाले मन ने बदलते-बदलते दुःख के स्थान पर सुखमयी अवस्था का रूप नहीं धारण

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

किया। जब दुःख इस प्रकार बिना बाह्य (बाहर के) निमित्त के टल गया, तो दुःख टालने की विद्या ही प्राप्त हो गई। अब जब-जब, जो-जो दुःख अन्दर खड़ा होगा उसे ऐसे ही देखते-देखते सहन करते-करते अपने आप में ही टालते जायेंगे। जब यह दुःख टलेगा, तो सुख आनन्द वाला ज्ञान विज्ञान का राज्य होगा और वह होगा सनातन (सदा रहने वाला) ही। यही आनन्द रूप मुक्ति, स्थायी शान्ति निर्वाण रूप परमपद है, जिसके केवल बाहर का, जगत् का उपायों वाला, संसार की तृष्णा वाला मन पूर्ण रूप से समाप्त हो जाता है, नष्ट हो जाता है। जैसे तेल की समाप्ति पर दीपक बुझ गया, इसी प्रकार बाह्य जगत् की तृष्णा की समाप्ति पर बाह्य जगत् वाला मन भी दीपक के समान ही बुझ जाता है। यही निर्वाण शब्द का अर्थ है।

ये ऊपर कहे सब लोक अविद्या में ही स्थित हैं। अविद्या अपनी सूक्ष्म अवस्था में इन लोकों में बनी रहती है। जैसे-जैसे नीचे के लोक से वैराग्य प्राप्त करके ऊपर की ओर मन प्रस्थान करता है, ऐसे-ऐसे ऊपर वाले लोक की अविद्या भी नष्ट होती जाती है। अत्यन्त रूप से तो परम मोक्ष की अवस्था, जोकि अन्त में कही गयी है उसी में पहुँच कर अविद्या समाप्त होती है। मोक्ष मार्ग पर चलने वाले मनुष्य से दूसरे मनुष्यों का यही अन्तर (फर्क) है कि अन्य प्राणी जब उन्हें मन में दुःख या मन की प्रतिकूल वेदना (मन की चाह के विपरीत मन की दशा) उन्हें प्रतीत (महसूस) होने लगती है तो वे इसे भूलने के लिए कोई आलम्बन या सहारा खोजने लगते

हैं। चाहे वह बाह्य (बाहर के) प्राणी, पदार्थों का हो, चाहे वह अन्दर का जप ध्यान व ज्ञान आदि का हो। परन्तु मोक्ष मार्ग पर चलने वाला मुमुक्षु साधक तो उस दुःख या प्रतिकूल वेदना में ही मन की आँख खोलकर झांकना आरम्भ कर देता है। इस भाव से कि "देखूँ! कि यह दुःख कितना है ? क्या है ? और क्या इसका मूल (जड़) है ? और इसके सत्त्व (हस्ती) को पूर्ण रीति से कैसे टाला जा सकता है ?" इत्यादि सबका अन्वेषण (खोज) करता-करता केवल दुःख का साक्षी रह कर, बिना बाहर के सहारे अन्दर की शक्ति उपजाकर ही परिहृत (त्याग या टाल) कर देता है। बाहर का सहारा, व अन्य, भूलने के लिए कोई आलम्बन (सहारा) नहीं लेता। इसलिए सहारे वालों के अन्दर अविद्या मूल सहित नष्ट नहीं हो पाती। क्योंकि वे सब दुःख को भुलाते हैं, नष्ट नहीं कर पाते और मुमुक्षु (अत्यन्त संसार से मुक्त होने की इच्छा रखने वाला) तो दुःख को अत्यन्त नष्ट करके इससे मुक्ति पाता है। मुक्ति का अर्थ है छुटकारा या अत्यन्त विमुक्ति का तात्पर्य है पूर्ण रूप से सदा बने रहने वाला छुटकारा अर्थात् पुनः दुःख कभी जन्मेगा ही नहीं। यदि जन्मेगा तो बिना यत्न आप ही नष्ट हो जाएगा। मनुष्य को इसके लिए कुछ करना कराना, व सोचना, समझना नहीं है। यही अत्यन्त विमुक्ति नाम से कही जाती है।

卐 ब्रह्म 卐

(Cosmological Consciousness)

ब्रह्म नाम है जो अति-महान्, बहुत अधिक बढ़ा हुआ। इससे विपरीत जो है उसे अल्प (छोटा, कम) कहा जाता है; जैसे जीव छोटे वृत्त (दायरे) में बंधा होने से अल्प है, इससे विपरीत जो व्यापक, परम महान् जो भी तत्त्व है वह ब्रह्म नाम से कहा जाता है। यहाँ ब्रह्म नाम है सत् चित् आनन्द का। यहाँ सत् का अर्थ है होना या अस्तिभाव अपनी हस्ती का। चित् नाम ज्ञान का है, जहाँ पर इन्सान को अपने आप की समझ बनी रहती है। आनन्द नाम है दुःख का न होना और जो उस अवस्था में दुःख के अभाव वाला जो ज्ञान अपने आप में भाता रहेगा, यही सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा का है अर्थात् किसी एक जीव के अन्दर भी यही सच्चिदानन्द उसका निकटतम अपना आपा है या आत्मा है। यही सच्चिदानन्द, जब दुःख टलता है, तब प्रकट (व्यक्त), होकर लुभावना और सुहावना प्रतीत होता है। जब यह एक में व्यक्त होता है तो यह आत्मा रूप से कहा जाता है। जब इस पर आवरण या पर्दा अविद्या का ढका रहता है तो यह सच्चिदानन्द रूप से प्रकट नहीं होता या व्यक्त नहीं होता; तो जीव इसी को प्रकट करने के लिए छटपटाता है। जिस प्रकार से यह प्रकट हो उसी प्रकार वह यत्न करता है। यही प्रकट हुआ (व्यक्त हुआ-हुआ) आत्मा यदि सबमें समान रूप से दीखे या अनुभव में आए तो यही सच्चिदानन्द व्यापक सब जगह वृद्धि (बढ़ा हुआ)

वाला होने से शास्त्र में "ब्रह्म" करके कहा गया है।

इस ब्रह्म का प्रकाश व अनुभव करने के लिए मनुष्य को प्रथम अपने आप में आत्मा का अपने आप में ही व्यक्त भाव व प्रकाश पाना पड़ता है अर्थात् आत्म-साक्षात्कार करना पड़ता है। अपने अन्दर आत्मा प्रकाश भी दो प्रकार से हो सकता है। एक तो बाहरी या सांसारिक प्राणी व पदार्थ के संग से और दूसरा इनके बिना केवल तृष्णा का दुःख और उसके बन्धन को मिटा कर केवल बिना उपाधि आत्मा के निजी सच्चिदानन्द रूप का होता है। यही सच्चिदानन्द, जो पीछे कहा है, इसी को पुनः निरूपाधि (बिना किसी बाहर की उपाधि के) यदि सबमें समान रूप से समझा जाए, तो यह व्यापक ब्रह्म कहा जाएगा और उसका साक्षात्कार माना जाएगा। प्रथम कहा गया आत्मा का साक्षात्कार बाहरी (संसारी) प्राणी और पदार्थों के संग से जो होता है, वह क्षणिक (अल्पकाल के लिए ही) होता है। जब उनका संग बिछुड़ गया, तो वह आत्मा पुनः अज्ञान में आवृत्त (ढक) हो जाता है। परन्तु यदि बाहरी वस्तु निरपेक्ष उसका प्रकाश हो तो वह सनातन है अर्थात् सदैव रहने वाला है। यही मुक्ति का स्वरूप है।

बाह्य प्राणी और पदार्थों के संग से वह आत्मा अल्पकाल तक ही व्यक्त रहता है। जैसे कोई प्राणी नशे की आदत वाला है और उसने नशे में सुख देखा है, तो जब उसको नशे का अभाव या न होना महसूस (अनुभव) हो अर्थात् उसके नशे की इच्छा पूरी न हुई हो, तो उसे

उसका दुःख प्रतीत होता है। इस दुःख की अवस्था में उसका सुख रूप अपना आपा या आत्मा खोया हुआ सा प्रतीत होता है। अब यदि वह उस इच्छा की वस्तु के लिए नशा अपने आप को दे दे, तो उसे सुख प्रतीत होगा। तब सुख में वह अपने आपे को पाएगा और समझेगा कि अब मैं ठीक हूँ। अब दूसरों को भी कहेगा कि अब मैं अपने आप में हूँ और वह खोया-खोया सा प्रतीत नहीं होगा जोकि नशे के अभाव में प्रतीत कर रहा था। इसी से उसको अपनी सत्ता (हस्ती) का अर्थात् अपने आप के आनन्द रूप या सुख में होने का ज्ञान है। यही उसको सत्‌चित् रूप ज्ञान, और आनन्द स्वरूप का प्रकाश प्रकट हुआ है। इस रूप में जैसे वह अपने आप में सदा बने रहना चाहता है, ऐसे ही हर एक प्राणी इस स्वरूप से इसी स्वरूप को बनाए रखना चाहता है। किन्तु बाह्य वस्तुओं के संग से जो यह स्वरूप मिला है, यह सदा बना नहीं रह सकता। बाहर की जो उपाधियां है, वह वियुक्त होते ही उन का सुख समाप्त हो जाता है। और सुख के विपरीत सुख का अभाव या दुःख प्रतीत होने लग जाता है। उसमें सुख वाला जो मैं रूप आत्मा है, वह खोया हुआ सा प्रतीत होता है, चाहे वहाँ खोया कुछ भी नहीं; क्योंकि इस ज्ञान रूप आत्मा का नाश नहीं। पर सुख खो जाने से और दुःख आ पड़ने पर ढक गया और अब आनन्द रूप से इस का चित्‌रूप ज्ञान "है" करके प्रतीत नहीं होता। इसलिये उसके लिए मनुष्य यत्न करता हुआ कई दिशाओं में हाथ पैर पटकता है तथा कई पदार्थों से

सम्बन्ध करके सुख प्रकट करके फिर 'मैं' रूप आत्मा का होने का ज्ञान या बसे रहने का अनुभव करना चाहता है। परन्तु इन सबका सुख कभी भी बना नहीं रहेगा। इसलिए आत्मा पुनः पर्दे में छुपा हुआ प्रकट होने के लिए जन्मता, मरता सा प्रतीत होता है। जब वस्तुओं का संग हुआ और सुख हुआ, तो आनन्द रूप आत्मा का ज्ञान रूप प्रकाश हो गया। यही जन्म रूप है। तथा जब वस्तु से वियोग हुआ, तो दुःख हुआ तो आनन्द रूप प्रकाश नहीं रहा, तो वही मरा हुआ सा प्रतीत हुआ। अब यदि आत्मा अपने स्वरूप में सदैव प्रकाशमान रहे, तो यह जन्म मरण टले। परन्तु उसके लिए पीछे कहे गए उन सब बन्धनों से छुटकारा पाने की आवश्यकता है।

पीछे कहे का सार यह है कि दुःख में आत्मा (अपना आपा) खोया हुआ सा प्रतीत होता है; तथा "है" या "सत्" करके नहीं समझ में आता। यही उसका चित् अंश या चेतन भाव छिप जाता है, चाहे वह सामान्य रूप से कभी नष्ट नहीं होता; तथा दुःख को भी प्रकट करता रहता है या प्रकाश करता रहता है। परन्तु आनन्द रूप से "अपना आपा" या "मैं" रूप का होना, यही सच्चिदानन्द रूप प्रकट नहीं होता। जैसे कि कोई धूप में गर्मी के दिनों में लम्बा सफर (यात्रा) करता हुआ प्राणी उस धूप के खेद को अनुभव करता हुआ अपने आप में स्मृतिहीन हुआ-हुआ या खोया-खोया हुआ, सुख के लिए व्याकुल हुआ-हुआ ताप को मिटाने के लिए अक्सर (प्रायः) छाया की खोज में होता है। उसको कभी भी अपने सुख रूप से

प्रकाशमान होता हुआ आत्म तत्त्व नहीं दीखता। मन किसी यत्न में तुला हुआ अपने सुख-स्वरूप को पाने के लिए उद्योगयुक्त रहता है। और जैसे ही उसने शीतल छाया और जल युक्त स्थान को पा लिया, तो लम्बा सांस छोड़ कर आराम से बैठ कर वह समय के अनुसार अपने आप को स्वस्थ हुआ-हुआ सुख की सांस लेता हुआ प्रतीत करता है कि ओह ! अब मैं अपने आप में आया। नहीं तो पहले उस खेद की अवस्था में खोया-खोया हुआ प्रतीत कर रहा था। जैसे यहाँ दुःख के नाश होने पर उसको अपना सुख स्वरूप आत्मा के होने का प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है और इसी अवस्था को बनाए रखने की प्रीति उसको है। यही आत्मा की परम प्रीति है। परन्तु इन सांसारिक दुःखों के टलने से जो यह सत् चित् आनन्द रूप प्रकट होता है, यह कभी बने रहने वाला नहीं है; क्योंकि तृष्णा इस को एक दूसरे में बाँधती रहती है और भड़काती रहती है और उन्हीं के सम्बन्ध उचित अनुचित रूप के लोभ से करवाती रहती है जिससे कि एक दिन उन के सुख भी दुःख रूप हो जाते हैं और उस दुःख रूप में उनके सम्बन्ध होने पर भी वह सुख रूप आत्मा का प्रकाश, जिसे सच्चिदानन्द कहते हैं, नहीं हो पाता। इसलिए इस सनातन आत्मा का सनातन (सदा रहने वाला) प्रकाश पाने के लिए पुनः उन सब बाह्य बन्धनों को त्यागना पड़ता है। परन्तु इन के त्याग के दुःख का अनुभव साक्षी भाव से रह कर करना पड़ता है। जब इस दुःख को साक्षी रहके सहन करके मन में अविद्या टलेगी

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

और यह विवेक उपजेगा कि यह सब सांसारिक पदार्थ सुख तो क्या, परन्तु दुःख में ही समाप्त होने वाले हैं और दुःख रूप से आत्मा को और भी अधिक छिपाने वाले या अज्ञान से ढकने वाले हैं अर्थात् उसके आनन्द रूप ज्ञान को प्रकट नहीं होने देते। ऐसा साक्षी भाव से धैर्यपूर्वक आसन और ध्यान में बैठ कर बाह्य पदार्थों का संग छोड़ कर और उनका संकल्प भी न रख कर उनकी स्मृतियों (यादों) से जो दुःख आए और जो राग द्वेष संशय और कर्तव्य सम्बन्धी न समाप्त होने वाले विचार में मन को बाँधते हैं, उन सब को देखता-देखता साक्षी भाव से टालता जाए; उन को सहयोग न दे, और उनमें 'मैं' 'मेरा' भी न समझे। केवल अन्तःकरण की तरंगे (लहरें) समझ कर उनकी उपेक्षा करता जाये। उनके मान, मोह बन्धनों को भी टालता जाये। इस प्रकार जब ये सारे बन्धन अन्तःकरण की जाग्रत अवस्था में बहते जाएँगे और यह साधन टालता जाएगा, तो यही बन्धनों वाला अन्तःकरण टूट फूट कर निद्रा अवस्था को धारण कर लेगा। यही अवस्था अज्ञान की कही जाती है। यह भी आत्मा का सच्चिदानन्द रूप प्रकट प्रकाश रूप में अनुभव नहीं आने देती। तो साधक ऐसी दोषमयी अवस्था निद्रा या आलस्य रूप या आराम दिखा कर छलने वाली लय अवस्था को भी, इस के सुख को त्यागता हुआ, साक्षीभाव से जागता रह कर टालता जाए। इस प्रकार कभी अन्तःकरण बन्धनों वाला प्रतीत होगा और कभी सुख दिखा कर लय (ज्ञान शून्य) अवस्था छलेगी। इन दोनों

अवस्थाओं से या दोनों तृष्णाओं से विमुक्त होता हुआ सम में जागता हुआ अन्तःकरण ही सच्चिदानन्द रूप आत्मा का अनुभव करेगा। जब तृष्णा के या बाहरी सुखों में मन का झुकाव समाप्त हुआ, विवेक जाग गया और वह बाहरी पदार्थ और उनका संग दुःख रूप प्रतीत होने लगा, तो उनसे मन निवृत्त हो (मुड़) जाएगा। मन निवृत्त होने (मुड़ने) पर तृष्णा समाप्त हुई, और दुःख भी मिट गया। अब यह दुःख मिटने पर जो अन्तःकरण में सुख की अवस्था प्रकट होगी या प्रतीत होगी इसमें जो अब वह अपने आपको अनुभव करेगा कि वही मेरा सच्चा स्वरूप मिला, अब मैं अपने आप में आया। अब दुःख में खोयापन का अनुभव न रहने पर प्रकट रूप (सदा बने रहने वाले) से अपना सुख स्वरूप आत्मा होने का अनुभव नित्य निरन्तर जागता रहेगा। अब जो ये आत्मा सब बन्धनों से विमुक्त पाया गया है, यही सनातन रूप से अनुभव में आएगा। क्योंकि इस में बाह्य वस्तु (बाहरी वस्तु) का बिछुड़ने वाला कोई सम्बन्ध नहीं है। यह केवल अपने आप में व्यक्त हुआ है। सुख में उसको अपने होने का प्रकाश हुआ। यही सत् चित् आनन्द रूप है। सत् का अर्थ है ''होना''। चित् का अर्थ ''ज्ञान रूप प्रकाश'' और आनन्द का अर्थ है''जो अवस्था मन को भाने की है''। यही सच्चिदानन्द को सब व्यक्तियों के मन में पाने की इच्छा बनी रहती है। इसको पाकर प्राणी कृत कृत्य होता है। अब इसी को सर्वत्र सब में समान रूप से आकर्षण का कारण समझने पर और सब में इसका अनुभव करने पर

ब्रह्म दर्शन कहा जाएगा। एक रूप में आत्मा, सर्वरूप में ब्रह्म। सब में प्रिय यही है। जहाँ-जहाँ मन जाए, वहीं-वहीं इसको ही अनुभव करना। यही यथार्थ में (वास्तव या असलीयत में) जीवन सफल होगा तथा दूसरों में दूसरी वस्तु का देखना या समझना तो, बिना किसी प्रयोजन का है; क्योंकि साधक अपने अनुभव से जान चुका होता है कि जो बाहर का सुख समृद्धि (ऐश्वर्य) लोगों में आकर्षण का हेतु है, वह तो मैंने अपने ध्यान विवेक द्वारा पूर्ण रीति से समझ लिया है कि दुःख में ही समाप्त होने वाला है। फिर इस सुख समृद्धि व इनके साधनों को दृष्टि में क्या बसाना अर्थात् इन सबका अपने में व दूसरे में दृष्टि बनाना निष्प्रयोजन है। दर्शन केवल उस सुख रूप, सत् रूप, ज्ञान रूप आत्मा जोकि क्षण-क्षण व्यक्त होता है तथा अपने आप में स्वस्थ प्रतीत होता हुआ सच्चिदानन्द कहा जाता है बस उसी की दृष्टि करना, साक्षात्कार या अनुभव करना उचित है। क्योंकि आकर्षण का पदार्थ यही है तथा खींचने वाला या आकर्षण करने वाला होने से ही दुःख के टलने पर और सुख रूप से मैं हूँ, यह अनुभव में आने वाला या व्यक्त होने वाला "कृष्ण भगवान्" रूप से कहा जाता है, जिस के परे और कोई तत्त्व नहीं है। यही आत्मा और ब्रह्म के बारे में उल्लेख है।

卐 परमात्मा 卐

(God : Organised Whole)

परमात्मा सभी जीवों की समष्टि का नाम है। समष्टि नाम सर्वरूप का है, जैसे वृक्ष के पत्ते, जड़, तना, शाखाएँ, उप-शाखाएँ, फूल-फल एवं बीज यह सब मिला कर वृक्ष कहा जाता है। यह वृक्ष का समष्टिरूप है। इसी का व्यष्टिरूप जैसे कि एक-एक अंग जैसे पत्र, पुष्प इत्यादि-इत्यादि एक-एक भाग हो। इसी प्रकार एक प्राणी अपने आप में परमात्मा का एक भाग होता हुआ व्यष्टि रूप है और ये सारे प्राणी (असंख्य प्राणी) सब मिले मिलाए उस वृक्ष के समान ही एक रूप से एक दूसरे के साथ जुड़े हुए अपने कर्मों के द्वारा एक दूसरे से ग्रंथित हुए-हुए और प्रभावित होते हुए व्यावहारिक कर्मों को करते करवाते हुए एक रूप से, परमात्मा करके शास्त्रों में कहे जाते हैं। अब सारे परमात्मा में अनन्त ज्ञान और अनन्त क्रिया रूप शक्ति है। जैसे जीव में एक रूप से उस में ज्ञान और क्रिया भी, इसी प्रकार इस व्यापक रूप परमात्मा में उस समुदाय का ज्ञान और समुदाय की क्रिया रूप शक्ति है। यह व्यापक की लीला बड़े विचित्र रूप से चलती रहती है। एक दूसरे के सामने पड़ने पर एक में एक के ज्ञान से, दूसरे का ज्ञान क्षण-क्षण इस प्रकार से प्रकट होता रहता है कि जीवों के देह रूपी घर को अनन्त प्रकार से क्रिया युक्त करता रहता है। कोई जीव अपने आप में अकेला बसा नहीं रह सकता। इस

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

व्यापक की तरंगें, गर्मी, सर्दी, इत्यादि और नाना प्रकार के विचित्र प्रभावों द्वारा जीवों को दुःखी-सुखी प्रकार से चलाती हैं कि जीव, जीव को देख कर अनन्त प्रकार से प्रेरित हो करके इससे विवश हुआ-हुआ कर्म करता है। बच्चे को देख कर कुछ बन गया, और उसी प्रकार से व्यवहार करने लग गया। वृद्ध के भावों को देख कर कुछ और बन गया। इसी प्रकार मित्र, प्यारे, शत्रु, आदि के बीच में ज्ञान रूप भगवान् कुछ प्रकट होकर अनन्त प्रकार से कर्मों में प्रेरित कर जाता है और मीठे कड़वे व्यवहार करवा जाता है। एक वर्ष के बच्चे से लेकर सब आयु के जीवों में अनन्त प्रकार से व्यक्त होकर दूसरे जीवों को भी कई प्रकार से राग, द्वेष, मान, मोह द्वारा अनन्त कर्मों में यह परमात्मा अपनी क्रिया रूप माया द्वारा उलझाता रहता है। इस माया के तीन गुण हैं। ज्ञान रूप से सत्त्वगुण और पुनः उसी प्रकार से काम, क्रोध आदि की प्रेरणा रूप क्रिया रजोगुण, जो सब प्रकार के कर्मों में उलझाता है और अन्त में दुःख और श्रम दिखा कर शान्त अवस्था की ओर प्रेरित करता है और वही तमोगुण रूप से अंधकार रूप में प्रकट होता है। यही माया के तीन गुण हैं। एक रूप में तो यही माया जीव में अविद्या कही जाती है। उसमें भी यही तीन गुण हैं। परन्तु अनन्त रूप से असंख्य जीवों के समुदाय रूपी संसार के अन्दर ज्ञान रूप परमात्मा जो है, उसकी उपाधि रूप यह माया कही जाती है। इसका भाव यह नहीं कि जीव के समान परमात्मा भी बन्धनों में उलझा हुआ है। परमात्मा भी

केवल सब जीवों की समष्टि रूप से एक तत्त्व रूप है। उसमें अपनी उलझन इत्यादि कुछ भी नहीं है। उलझन तो केवल जीव (प्राणी) भाव में है, जो दुःखी है। परमात्मा तो अपनी लीला से उन्हीं जीवों को अनन्तरूप एक दूसरे में प्रतीत होकर अनन्त खेल खिलाता है। पर इसमें जानने की वस्तु केवल यही है कि जीव यदि अपनी आत्मा को पहचाने, तो उस को सब जीव भी समझ में आ जायेंगे। उन सब में समान रूप से वही सब तत्त्व दृष्टि में आयेंगे, जो उसे अपने आप में दीखे हैं। केवल थोड़े समय के लिए जीवों में व्यावहारिक या बर्तावे में आने वाली 'तूँ तूँ' 'मैं मैं' छोड़ दे, तो जीव उस अनन्त परमात्मा से भिन्न प्रतीत नहीं होगा। जीव छोटे का नाम है और परमात्मा उस व्यापक का नाम है जिनको दोनों उपाधियां तत्त्व रूप से तो समान ही हैं। यह क्लेश और बन्धन इत्यादि दुःख की जड़ यह समान रूप से माया में ही है और इससे दुःखी होने वाला कोई परमात्मा नहीं हैं। दुःखी होने वाला तो जीव ही है, तो इसलिये यदि जीव अपने अन्दर ही उपाधि, अविद्या और उसके कार्य, मान, मोह, राग, द्वेष आदि सब बन्धन और काम, क्रोध इत्यादि सब विकार और इनकी सब दृष्टि को अपने अन्दर ही जान कर और दुःख रूप समझ कर इससे छुटकारा पा ले, उद्योगी बने, थोड़ा निद्रा को भी जीते, तो अपने बन्धनों से मुक्त होकर इसी के अन्दर शुद्ध अनन्त, ज्ञान, विज्ञान, रूप, शुद्ध आत्मा इसके एक रूप में प्रत्यक्ष सुख रूप से व्यक्त हो जाएगा; और यदि वह

इसी आत्मा को सब जीवों में देखना व अनुभव करना आरम्भ कर दे, और अपने अन्दर के ही अविद्या आदि बन्धनों को दूसरों में भी न देखे और उनकी उपेक्षा कर दे, तो वही ज्ञान रूप आत्मा जो कि अपने अन्दर का ही है, उसी के समान सबके अन्दर शुद्ध व्यापक रूप दीखेगा। यही ब्रह्म भाव है, जो एक में शुद्ध ज्ञान या उसका नाम आत्मा और यही शुद्ध रूप सबके अन्दर समान रूप से पहचाना गया तो यह ब्रह्म कहा जाता है। इस ब्रह्म में यदि टिकाव हो जाए तो अनन्त या न समाप्त होने वाली सुख शान्ति होती है।

संक्षेप में ब्रह्म नाम इसका है कि जो जीव के अन्दर सब बन्धनों से मुक्त और सर्व विकारों से रहित कर्म क्लेश और दुःख से रहित पवित्र ज्ञान अनन्त जागता हुआ दर्शन में आ गया, उसका दूसरों के अन्दर भी अभाव नहीं अर्थात् न होना नहीं है, पर यह जीव को अपनी शुद्ध बुद्धि के अन्दर ध्यान के द्वारा अनुभव करना पड़ेगा। यदि संसार के सभी जीवों के अन्दर क्या कीट, क्या पतंग, उससे लेकर ब्रह्मा तक सब में एक समान यही दृष्टि में आए, जोकि सब उलझनों से परे और दुःख से रहित है, तो समझो ! कि ब्रह्म साक्षात्कार हो गया। जैसे कि निद्रा अवस्था में जहाँ किसी प्राणी की भी 'तूँ तूँ' 'मैं मैं' भी नहीं है, केवल शुद्ध ज्ञान और उसकी क्रिया शक्ति, अर्थात् जीव, जीवनोपयोगी ज्ञान के साथ है, मुर्दा नहीं है और उसमें प्राण भी चल रहा है, पत्थर के समान नहीं है; यही चेतन अवस्था कही जाती है जोकि सारे

जीवों के अन्दर सब कर्म करना जैसे सांस लेना, देह के अन्दर रक्त संचार करना, बच्चों एवं युवा अवस्था वाले के अन्दर अंगों का बढ़ना व वृद्धों के अन्दर जवानी की बढ़ी हुई शक्ति का कम होना (घटना), वह चेतन अपनी माया के साथ अर्थात् ज्ञान और क्रिया रूप दोनों शक्तियों के साथ, या यूँ कहो कि सत्त्व और रजोगुण के साथ करता हुआ प्रगाढ़ (गूढ़) निद्रा रूप तमोगुण में भी बसा हुआ सब जीवों में समान रूप से रहता है। इसमें कोई भेद भाव नहीं प्रतीत होता। यहाँ तक कि सभी पेड़ पौधों में भी यही रस बहाता है और देह के अन्दर प्राण संचार के समान, वायु के अन्दर भी यही एक ब्रह्म अपनी त्रिगुण माया द्वारा परमात्मा के नाम से सब विश्व को चला रहा है। भेद भाव कहाँ है ? वह (भेदभाव) जब निद्रा में सोये हुए प्राणियों में प्रतीत नहीं होता, तो जागते हुए प्राणियों में उस अनन्त परमेश्वर या ब्रह्म में क्या भेदभाव होगा ? यह केवल जीव की ही एक-रूप बुद्धि में है। यह अपने अन्दर विवेक विचार द्वारा ध्यान, ज्ञान उत्पन्न करके अपने आपको शोधन करके उस अनन्त महिमा वाले को एक रूप से पहचान कर राग द्वेष रहित होगा। इसी प्रकार सब बन्धन विकारों से रहित होकर, दुःख सुख में सम होता हुआ उस समरूप सब की आत्मा रूप ब्रह्म में टिकाव पाएगा। इसके सब दुःख दरिद्र टल जायेंगे।

जीव, परमात्मा और ब्रह्म यह तीन तत्त्व जो ऊपर निरूपित हुए हैं, इन का सामान्य रूप से तात्पर्य यह है कि ये एक दूसरे में इस प्रकार समन्वित से (पिरोये) हुए

हैं कि इनको वास्तव रूप में भिन्न नहीं समझा जा सकता। केवल मुक्ति पाने के लिए जीव के ज्ञान का विश्लेषण करने पर यह मनुष्य के उपयोग के हेतु उस को मोक्ष की दिशा में प्रेरित करने के लिए ध्यान में समझने के लिए संज्ञाएँ हैं (नाम हैं)। क्योंकि नाम बिना चिन्तन नहीं होता। चिन्तन द्वारा ही ज्ञान जगाया जाता है और ज्ञान जागने पर ही मन संसार की उलझन से दूर हट करके शुद्ध अपनी आत्मा में प्रवेश व टिकाव पाएगा जिसका नाम निर्विकल्प अवस्था है, यही पूर्ण फलरूप है, जो कि अनन्त सुख रूप है। यदि इन संज्ञाओं द्वारा अर्थात् जीव, ईश्वर या परमात्मा और ब्रह्म इनके अर्थों का चिन्तन न किया गया, तो संसार से मन कैसे हटेगा ? तो अपनी आत्मा में कैसे टिकाव या प्रवेश पाया जाएगा ? टिकाव बिना सुख-शान्ति का अनुभव भी कैसे होगा ? छुटकारा भी कैसे होगा ? इस लिए उन नामों के चिन्तन द्वारा जगत् को भूल कर पुनः जागृत अवस्था में ही शान्त रूप में टिक जाने पर, अनन्त सुख पाने पर दुःख टल जाने पर, कृत कृत्य अवस्था प्राप्त होगी (जो करना था सो कर लिया बाकी कुछ करने का नहीं रहा। यही कृत-कृत्य अवस्था का अनुभव है; जो कि आत्मा को सर्वात्म रूप पहचानने पर होगा)। इस लिए ये संज्ञाएँ बनाई हैं। यदि इनका चिन्तन नहीं करेंगे तो रिक्त (खाली) मन या तो नींद में पड़ जाएगा या पुनः संसार के संस्कार जगाएगा अर्थात् संसार के नामों का चिन्तन करेगा तो संसार ही मन में घूमता रहेगा। इसलिए इस

चिन्तन से हटाने के लिए संसार के बाहर के नाम चाहिएं। तो यही सब नाम परमात्मा के हैं। परमात्मा के किसी नाम से भी जिस से संसार छूटे, उसका स्मरण करते हुए तथा संसार को दुःख रूप वा असत्य अनुभव करते हुए, उससे मुक्ति पाने (छूटने) के लिए किसी नाम का स्मरण करेंगे, तो वह आत्मा में प्रतिष्ठा को प्राप्त करवाएगा और उसके द्वारा ही शुद्ध स्वरूप ब्रह्म में प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। इस में जो जगत् का सामान्य रूप है, उसमें भी कार्य करता हुआ, अपने व्यक्त और अव्यक्त रूपों द्वारा परमात्मा या ईश्वर ही दृष्टि में आयेगा। उसका स्मरण करते-करते और उस की लीला को देखते-देखते 'तूँ तूँ' 'मैं मैं' से भी मुक्ति (छुट्टी) मिलेगी। तो, न तूँ करता और न मैं करता और न कोई और करता, करने कराने वाला क्षण-क्षण बहुविध प्रकट होता हुआ या व्यक्त होता हुआ अपनी माया की क्रिया शक्ति द्वारा जगत् चलाता हुआ वह ही दृष्टि (नजर) में आएगा और उसके पकड़ में आने पर जीव अपने को, वा, दूसरे को करने कराने वाला नहीं समझेगा।

इससे इसका अपने पराये के प्रति राग द्वेष भी नहीं होगा; केवल एक दूसरे के सामने (सम्मुख) पड़ने पर जैसा कुछ सुख-दुःख के ज्ञान के साथ वह ही (सर्वरूप) परमात्मा व्यक्त या प्रकट हुआ, वैसे ही काम क्रोध रूप विकारों द्वारा सब से कर्म करवाता है। इसमें कोई भगवान् का प्रिय भक्त ही भगवान् के मार्ग को स्मरण करता हुआ भले उस भगवान् के ज्ञान मार्ग से ही अपने

को सचेत (काबू में) रखकर विपरीत कर्मों से बच जाएं, नहीं तो सामान्य जीव को तो वह उसका क्षण भर का व्यक्त भाव अपने रजोगुण के तनावों द्वारा न जाने किन-किन कर्मों के चक्कर में डाल जाता है और पीछे दुःख पश्चात्ताप में प्रेरित कर जाता है। बच्चे के अन्दर कुछ, बूढ़े के अन्दर कुछ, धनी (अमीर), गरीब, बलवान, निर्बल, मूर्ख सब के अन्दर विज्ञान बिना कुछ विचारे न जाने किस चिंगाड़ी रूप में एक दूसरे के सामने पड़ने पर क्या ही व्यक्त होकर, क्या ही लीला कर जाता है। इसमें उत्तरदायी (जिम्मेवार) कौन ? बस ! जो कोई किसी को करता धरता या जिम्मेवार ठहराता है, वह उस के मन की कल्पना का ही प्राणी होता है। वह इसी से एक दूसरे के लिए दुःख सुख का कर्म करता है। यदि यह एक रूप, क्षण भर झाँकने वाला और फिर अव्यक्त हो जाने वाला अपनी क्रिया रूप शक्ति के साथ ज्ञान रूप परमात्मा ही सब में काम करता हुआ दीखे, तो मन इसके लिए क्या करने की सोचेगा ? तो बस ! वह शून्य रूप में शान्त हो जाएगा। क्योंकि करने कराने के लिए ही सोचा जाता है और करने कराने वाला तो वही रहा, जो क्षण भर में प्रकट हुआ और फिर क्षण भर में छुप गया। यहाँ कुछ, वहाँ कुछ। जैसे एक बच्चे के अन्दर माँ के सामने कुछ, बाप के सामने कुछ और मित्रों के सामने कुछ और जितने प्रकार के प्राणी उसके सामने आएंगे, उनके अन्दर सब में भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट होता है। जो एक के सामने व्यक्त होता था, वह दूसरे के सामने आने

पर नहीं दीखता अर्थात् अव्यक्त हो गया और जो दूसरे के सामने व्यक्त था, वह तीसरे के सामने नहीं दीखता, तो बताओ एक प्राणी को कोई क्या-क्या समझे कि वह कौन है ? वह तो सब रूप ही निकला और जो सब में सब रूप ही देखे, तो वही ज्ञानी हुआ। तो बताओ दूसरा करने कराने वाला कौन हुआ ? परन्तु यह सारा ज्ञान एकान्त में ध्यान अवस्था की एकाग्रता में देखे और इस ज्ञान को महसूस (अनुभव) करता-करता बहुत दूर संसार को भूल जाए, तो उस को ब्रह्मानन्द प्राप्त होगा और सब दुःखों से छुटकारा हो जाएगा। यह सब जीव, परमात्मा और ब्रह्म की कथा है। इसमें परमात्मा के बारे में कुछ अधिक (ज्यादा) जानने की भी आवश्यकता है। कई एक आचार्यों ने तो परमात्मा को इस संसार की आत्मा रूप से स्वीकार किया है अर्थात् जैसे कि हमारी एक देह में ज्ञान रूप से आत्मा विराजमान है, उस ज्ञान रूप आत्मा का परिवार मन, बुद्धि और सकल इन्द्रियाँ (ज्ञान इन्द्रियाँ और कर्म इन्द्रियाँ) और पाँच प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान इत्यादि यह सब देह में वास करते हैं, तो देहधारी जीव होता है। ऐसे ही सकल संसार रूपी देह, जिसमें सब प्राणियों के व जीवों के मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ समाये हुए हैं तो यह सारा ही संसार परमात्मा का देह रूप है और देहधारी परमात्मा माना जाता है। और इसमें एक दूसरे जीवों के आमने सामने पड़ने पर नाना प्रकार की क्रिया व कर्म होते रहते हैं। अब यह जो परमात्मा, एक रूप से सब विश्व का आत्मा होता हुआ पहचाने जाने पर

जीव के सब राग, द्वेष इत्यादि बन्धन समाप्त हो जाते हैं। परन्तु इसको पूर्ण रीति से ध्यान के बल द्वारा ही ज्ञान द्वारा पहचाना जा सकता है। यह अनन्त शक्ति वाला है। जो कोई भी प्राणी इस संसार में आया हुआ है उसमें इस परमात्मा की एक शक्ति बैठी हुई होती है और परमात्मा सर्वशक्ति वाला है। वह एक शक्ति जो एक जीव में है, वह अपने आप में कोई महत्त्व नहीं रखती। केवल इस संसार का या संसार रूपी आत्मा रूपी परमात्मा का एक भाग ही है। यदि अपने आप में ही हो, तो शक्ति वाला कुछ भी नहीं है। संसार का या परमात्मा का एक खण्ड या भाग होने पर ही शक्ति रूप से कहा जाता है। जैसे कि मजदूर में मजदूरी करने की शक्ति और मजदूर को रखने वाले में उस मजदूर को लगाने की शक्ति, इसी प्रकार मिस्त्री आदि जो कर्मकार हैं उन में अपने आप की मिस्त्रीपने की शक्ति, वह अपने आप में कोई मिस्त्रीपने का कोई महत्त्व नहीं रखते; जबकि परमात्मा का या इस व्यापक संसार रूपी उसकी माया का एक भाग बनके रहते हैं, तो ही इस संसार में अपने कर्म को पूरा करने से उनका महत्त्व है। इस प्रकार क्या राजा, क्या डाक्टर, क्या वैद्य, क्या वकील, प्रोफैसर, वैज्ञानिक, बलवान और जो कोई भी प्राणी जो इस संसार में है, उन सब में इस परमात्मा रूपी व्यापक तत्त्व, जिस की सारा संसार काया है, उसी का भाग बन कर इसका नाम और काम दिया गया है। यदि यह जीव उस समूचे परमात्मा का भाग या खण्ड न हो, तो अपने आप में यह जीव कहा सुना जाने

卐卐卐

वाला कुछ भी नहीं है। यदि इसके सारे कर्म और इनके सारे नाम रूप की अवहेलना कर दी जाए तो पूर्ण ज्ञान रूप से एक ही ब्रह्म समझने में आता है, जिसमें पुनः कोई कर्म और व्यवहार इत्यादि कुछ भी नहीं हैं। यह शान्त अवस्था ध्यानों में ही प्राप्त करने की है और ध्यान में ही ज्ञान उपजा कर इस अनन्त परमात्मा को ही सब कुछ समझ कर जीव का भेद भाव समाप्त करके और राग, द्वेष, आदि बन्धनों को छोड़ करके अनन्त ज्ञान, विज्ञान, रूप ब्रह्म (क्योंकि यह सर्व में रहने वाला सब में समान रूप से समझा जाने वाला है) में ही टिकाव प्राप्त हो जाता है, जिसमें भेदभाव आदि बन्धनों का दुःख न होने के कारण से अनन्त सुख शान्त स्वरूप का अनुभव होता है। यही परम फल है। जब तक जीव अपने को न्यारा देखता रहेगा और दूसरों को कुछ दूसरा समझेगा, और एक रूप परमात्मा नहीं पहचानेगा, तो सुख दुःख रूप वाले, स्वार्थ के कारण राग-द्वेष में जकड़ा हुआ अनन्त कर्मों के बन्ध में पड़ के उनका परिणाम दुःख-सुख भोगता हुआ दुर्गति को ही प्राप्त होगा। जब थोड़ा धैर्य धारण कर बुद्धि को शुद्ध करके शब्द रूप आदि विषयों को त्याग कर और मान, मोह इत्यादि को जीत कर फिर यह इस परमात्मा का ध्यान करेगा, तो साधना द्वारा साधक को एक परमात्मा ही नजर आएगा, जो कि माया से खेल रहा है, तो यह किसी को दोषी नहीं बताएगा। अपने सुख दुःख का कारण केवल माया जाल को ही समझेगा और दोनों में सम होकर इस माया में ही

बसे हुए वासुदेव रूपी परमात्मा को सर्व में समरूप से देखेगा। जब कुछ राग द्वेष के कर्म करने ही नहीं, तो सोचेगा भी उनके लिए क्यों ? जब सोच चिन्तन ही कुछ नहीं, तो आसन पर शान्त निद्रा से रहित आलस्य आदि से रहित होकर जागेगा, तो केवल पुराने संस्कार ही या वासनाएं, उस जीव को इसके अन्दर तरंगों के समान प्रवाहित होती हुई दृष्टि (नज़र) में आएँगी। जो अज्ञानी अर्थात् परमात्मा को न पहचानने वाला है उसको तो विविध मार्गों पर ये संस्कार या वासनाएं प्रेरित करके मिथ्या चिन्तन, मिथ्या भाव, मिथ्या कर्म और नाना प्रकार की मिथ्या दृष्टियाँ जीव को बुद्धि में लाकर विक्षिप्त करती रहती हैं। परन्तु जो परमात्मा को एक रूप से समझने वाला है, उसको ये मिथ्या दृष्टियाँ बाप, बेटा, मित्र, वैरी आदि रूप से उत्पन्न नहीं करा सकती, क्योंकि वह सब में एक परमात्मा ही पहचानता है। और देहों के आमने सामने पड़ने पर उस माया के गुणों (सत्त्व, रज, तम) को सब कुछ करने करवाने वाला समझता है। जैसे कि किसी प्राणी के सम्मुख पड़ने पर प्रीति या सुख का ज्ञान सत्त्व रूप से जब जागा, तो प्राणी के लिए इच्छा या उससे अच्छा बर्ताव करने की इच्छा और उसकी सन्तुष्टि के निमित्त कई कर्म करने को तत्पर (तैयार) हो गया और यदि किसी प्राणी के सम्मुख पड़ने पर दु:ख का ज्ञान, ज्ञान रूप सत्त्व जागा, तो वह द्वेष, क्रोध उत्पन्न करके विपरीत कर्म करवाने लग जाएगा। अब जो साधक है, अपने आप में वह तप और तेज युक्त

होकर, इस सुख-दुःख द्वारा प्रभावित न होकर और इनको क्षण भर की घटना समझ कर सुख दुःख से प्रेरित नहीं होता और इसमें सम रहता है। बस इसी द्वारा ही वह सब मिथ्या कर्म, मिथ्या भाव, मिथ्या मित्र एवं वैरी इत्यादि की दृष्टियों से मुक्त होता हुआ, एक परमात्मा की ही दृष्टि रखता है। और उसकी जो माया जीवों को चला रही है, उसी में सब काम करती हुई देखता है। ज्ञान रूप में वह माया सत्त्व गुणरूप है और जैसा ज्ञान, उसके अनुसार वैसा ही वह इच्छा, क्रोध द्वारा कर्म करवाने लग जाती है, यही रजोगुण है। जब इसी की शान्ति होती है तो यही माया तमोगुण रूप आलस्य आदि या निद्रा रूप बन जाती है। बन्धनों से मुक्त हुआ-हुआ साधक दूसरों के अन्दर यह माया का चक्कर देखता रहता है, पर अपने आप में वह सुख-दुःख में सम होकर भेदभाव की कोई दृष्टि भी नहीं बनाता है। यदि दृष्टि न बने तो पुनः सृष्टि भी कैसे होगी ? जैसे कि सुख संवेदना से मित्र बन्धु आदि की दृष्टि, और उससे राग, कामादि की सृष्टि और विविध कर्म भी बाँधते हैं। उसी प्रकार दुःख संवेदन से वैरी आदि की दृष्टि और उससे ईर्ष्या क्रोध द्वारा अनेक विपरीत कर्म भी बाँधते हैं। परन्तु जैसे सागर में अनन्त तरंगे और भंवर उठते रहते हैं, कहीं प्रकट होते हैं, कहीं शान्त होते हैं, कहीं एक दूसरे से ठुकराते हैं। परन्तु ये सब सागर के ही भाग हैं और उस के अतिरिक्त कुछ नहीं। इसी प्रकार अनन्त स्वरूप यह परमात्मा सब जीवों की समष्टि या समुदाय रूप परमात्मा

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

को ही सब कुछ करने करवाने वाला ही समझे और परमात्मा के करने करवाने के विधान को पहचाने कि किस तरह से इसके भाग जीवों के परस्पर आमने सामने पड़ने पर जैसा-जैसा मन या उसके भाव उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार देहों में कर्म इत्यादि होते हैं। इस में सदा रहने वाला जान कर कोई भी कर्ता नहीं है। जैसे ज्ञान, जैसे भाव, वैसे ही कर्म होने को बनते हैं। जैसे कर्म और उनका वैसे ही फल। यह सब उसका विधान है। अब इस विधान के चक्कर से वही उद्योगी जन निकल सकता है, जो कि परमात्मा का ही स्वरूप ईश्वर पद से कहा जाने वाला समझ कर इस की भक्ति करे। ईश्वर नाम श्रेष्ठ सामर्थ्य का है। इस में दो प्रकार का सामर्थ्य विशेष कर जानने को है। ज्ञान और क्रिया। जैसे जीव ज्यों-ज्यों अपने हित और अहित को पहचानता है, जो कि मनुष्य के रूप में ही हो सकता है, वैसे ही वह ईश्वर के ज्ञान रूप सामर्थ्य को अपने आप में बसा कर हित अहित को पहचान कर, कल्याण के हित ही कर्म करता है और वैसे कर्म करने की शक्ति उपजाता है। चाहे सुख-दुःख प्रत्यक्ष उसको कैसे ही प्रेरित करें, वह इनको उसी ज्ञान रूपी ईश्वर के सामर्थ्य में जाकर सत्कर्म करने के सामर्थ्य से खोटा होने ही नहीं देता और सब अच्छा ही करता है और मन को पवित्र ही रखता है, यही ईश्वर का ही सामर्थ्य है जो ज्ञान द्वारा उस बुरे से बचा देता है। जैसे कि लोभ आदि, किसी सुख देने वाली वस्तु को देख कर मन में उपजाते हैं, यह तो है माया की प्रेरणा; बहुत से प्राणी

उलझ ही जाते हैं। और उससे लोभ की माया शक्ति से मुक्त होना कठिन प्रतीत होता है। परन्तु इस लोभ की अवस्था में जो ज्ञान को जागने नहीं देता और अपना प्रत्यक्ष सुख दिखा कर छलता है और छिपे हुए भावी दुःख को दीखने नहीं देता, ऐसी माया के लोभ की शक्ति को खण्डन करना ईश्वर का ज्ञान रूपी बल ही कर सकता है। ज्ञान रूप बल कैसे होगा ? यदि साधक लोभ अवस्था में थोड़ा अन्तरमुख होकर इसी व्यापक परमात्मा का ध्यान करे कि इस में क्या वस्तु कैसे घटती है ? तो उसे यही ईश्वर बचाने वाला ज्ञान उसके मन में उत्पन्न करके लोभ का छुपा हुआ कष्ट प्रकट कर देगा और उस कष्ट और दुःख को इतनी गहराई में (महसूस) संवेदन करने का बल लोभ को तृप्त करने का प्रलोभन मन से मिटा देगा। क्योंकि दुःखों को देखता हुआ, इसको मिटाने की शक्ति भी प्राप्त कर लेगा। इनके कर्मों को त्यागने की शक्ति भी बड़े आराम (सुख) से पा जाएगा। यही ईश्वर के दो बल हैं कि हित-अहित को पहचानना और पुनः अपने हित को कर सकना और अहित को टाल देना। इस दोनों के साथ ईश्वर की भक्ति बढ़ती जाती है। ये दोनों सामर्थ्य बढ़ते-बढ़ते अपनी पूर्ण अवस्था में जिस में दृष्टि गोचर होते हैं, उसको संसार में भगवान् की संज्ञा देते हैं। यह भगवान् पूर्ण रूप से विद्या और अविद्या को जानने वाला होता है। यह भी इसके ज्ञान का बल है और कर्मों की पूर्ण गति को जानने वाला है कि कौन कर्म कहाँ ले जाएगा और कौन प्राणी क्या कर्म कर

के आया है जिससे कि अपनी होती हुई अवस्था में इस प्रकार के सुख-दुःख पा रहा है। यह भी भगवान् का ही ज्ञान रूप बल है। अब इस प्रकार सब कर्म गति को जान कर इसके बन्धनों से पूर्ण मुक्त होने के रास्ते को जानता है। इस का नाम धर्म है। फिर इस धर्म को पूर्ण रीति से धारण कर सब बन्धनों का परिहार करना, और दुःखों को समाप्त कर परम मोक्ष का अनुभव करना जिससे सनातन सुख की शक्ति बनी रहे। यह सब करने की शक्ति भगवान् में ही पूर्ण रूप से होती है। साधक इसी भगवान् के रूप में जो ईश्वर का दो प्रकार का सामर्थ्य है, उस को अपने में विश्वास द्वारा शनैः-शनै एकत्रित करता हुआ इस भगवान् के ही मार्ग पर चलता हुआ ज्ञान शक्ति को अर्थात् ज्ञान के बल को और ज्ञान द्वारा मिथ्या कर्मों इत्यादि के बन्धन से निकलने की शक्ति या बल को संचित करता हुआ मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर होता है। यही सब परमात्मा, ईश्वर और भगवान् इन शब्दों का या इन नामों का अर्थों के अनुसार तात्पर्य बताया गया है। ऋषियों ने शास्त्रों के इन्हीं नामों द्वारा इस संसार से छूटने के लिए या इन बन्धनों से निकलने के लिये जिन-जिन भावनाओं की आवश्यकता है, उन भावनाओं के लिए ये नाम रचे हैं। सामर्थ्य या शक्ति वाला होने से ईश्वर शब्द से कहा जाता है। और छः बल (शक्ति) वाला होने से भगवान् का नाम लिया जाता है। ऊपर कहे गये छः बल विद्या-अविद्या को जानना, भूतों की गति और अगति को जानना, मोक्ष और मोक्ष को करने वाला या

देने वाला जो धर्म है उसको भी जानना; यह छः बल भगवान् के हैं। इन्हीं छः बलों रूप ऐश्वर्य (समर्थ) वाला होने के कारण से भगवान् का नाम लिया जाता है।

इस परमात्मा को सुमिरन (स्मरण) करने के लिये और जीव को उलझन से निकालने के लिये, संसार में बन्धे रहने वाले आदतों वाले मन को जगाने के लिये भगवान् के किसी भी नाम का स्मरण या ध्यान किया जाता है। और उस नाम द्वारा मन को जगा कर उसी के गुणों को स्मरण करके अपने मन को जगाया जाता है और मोक्ष के अनुकूल साधा जाता है जिससे कि संसार जाल से मुक्ति मिले और अनन्त शान्ति प्राप्त हो। परमात्मा के नाम का उच्चारण व जाप करके मन को एकाग्र करते हुए व्यापक तत्त्व का चिन्तन किया जा सकता है। वेदों में ''ऊँ'' का नाम और राम, कृष्ण, शिव इत्यादि बहुत से नाम इस परमात्मा के गुणों को दृष्टि में रखते हुए सुमिरन करने के लिए शास्त्रों में कहे गए हैं। जैसे कोई गुण झलका, उसी के अनुसार भक्तों ने नाम रख लिए। सब में रमण करने से अर्थात् क्रीड़ा करने से राम रूप, और ज्ञान द्वारा आकर्षण करने से कृष्ण रूप, और सब में बसा हुआ होने से वासुदेव, और सब नरों का समुदाय रूप और सब की गति और सहारा होने से नारायण रूप, ये अनन्त नाम हैं। जो गुण दीखा उसी के अनुसार उस अनन्त परमात्मा का नाम रख लिया। उसका चिन्तन करते हुए मन में जिस गुण का दर्शन हुआ, उसी से उस का नाम बन गया; परन्तु दीखे वह

व्यापक रूप में। नाम केवल मन के आलस्य आदि को हटा कर और संसार के चिन्तन को छुड़ा कर उस अनन्त परमात्मा के एक रूप चिन्तन करने के लिए हैं। और तूँ तूँ, मैं मैं, के भेद को मिटा कर और उसके शान्त स्वरूप और शुद्ध स्वरूप ज्ञान रूप ब्रह्म में टिक जाने के लिए हैं। इस लिए नामों का पृथक-पृथक होने में कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व तो चिन्तन सुमिरण का ही है। चिन्तन सुमिरण तो नाम या शब्द द्वारा ही होता है। बस नाम द्वारा पवित्र भावों को जगा कर अपने और दूसरे में एक समान एक ही विधान (कायदा) सब जगह काम करता हुआ दृष्टि (नज़र) में आये। यहाँ तक मन को उन्नत करना है। 'मैं' में कुछ और न दीखे। सब में एक विधान (विधि) कानून या कायदा काम करता हुआ प्रतीत पड़े (दीखे)। बाह्य 'मैं' को श्रेष्ठ न बनाए और दूसरों को निकृष्ट (हीन) भी न बनाए। सब में उसी को ही अपनी माया के साथ काम करता हुआ पहचाने। इसी सुमिरन द्वारा मनुष्य को परमानन्द प्राप्त होता है। ज्यों-ज्यों सब में एक व्यापक को ही या परमात्मा को ही पहचानता जाता है, त्यों-त्यों अल्प भाव के बन्धन से मुक्त होकर अर्थात् छोटे जीव भाव से मुक्त होकर व्यापक या बड़ा भाव या विस्तार भाव को प्राप्त होता जाता है। यही ब्रह्म भाव है। अन्ततः (आखिर) सबमें जब एक ही भाव दीखने लग गया, तो अल्पता से या छोटेपन से पूर्ण मुक्त होकर व्यापकता या पूर्ण ब्रह्म भाव को प्राप्त होगा, तो सच्ची भक्ति उसे प्राप्त होगी। सब में एक ही तत्त्व या एक ही सत्य की लीला

करता हुआ दीखेगा और अनुभव में आएगा कि कैसे-कैसे ज्ञान रूप से प्रकट हो-हो कर कर्म या क्रिया करवाता है। परन्तु अज्ञानी लोग उस को पहचानने वाले, 'मैं' और 'तूँ' के मिथ्या भाव में बन्ध कर दुर्गति को प्राप्त होते हैं अर्थात् शोक, मोह में जकड़े रहते हैं। बस यही सब अनन्त परमात्मा की कथा है और यही परमात्मा शब्द का स्वहित साधन के निमित्त विवरण-व्याख्या है।

जन्म से ही यह व्यापक सब में प्रवेश कर जाता है। सब के अन्दर समान रूप से बसा रहता है। इसी लिए ज्ञान रूप से बसे हुए इसी के ही भय से जीव बाहर बच-बच कर कर्म करता है। यदि इस व्यापक में कोई मिथ्या स्वार्थ को त्याग दे, और उतना ही स्वार्थ का पक्षपाती अहंभाव (मैं) को भी त्यागता जाए, तो उसे ज्ञान रूप से वह परमात्मा सर्व में एक रूप से ही बसा हुआ मिलेगा। केवल स्वार्थ की ही 'मैं' अपने को दूसरों से पृथक बनाती है, और पृथक प्रतीत करती है। यदि थोड़ा दुःख सुख में सम रहने का अभ्यासी बने, तो यही सुख दुःख रूप स्वार्थ से उठने वाली मिथ्या 'मैं' (अहंकार) समझ में आने लगती है। यदि दूसरों में भी इसी का दर्शन होने लगे तो पुनः यही व्यापक तत्त्व रूप से सब स्थलों पर अपनी लीला करती हुई दीखती है। परन्तु साधक यदि मिथ्या भावाविष्ट न होकर क्रोध आदि को जीत कर, व्यापक की माया के वशवर्ती होते हुए जीवों की लीला मात्र ही देखने वाला साक्षी रहे न कि उनके समान आप भी उस माया के प्रवाह में बह जाए,

तो वह सब माया के राग द्वेषादि बन्धनों से मुक्त हो जाता है। पुनः अपने आप में टिकाव भी पाता है। केवल दुःख से प्रेरित होकर प्राणी बाहर दूसरों का सहारा चाहता है। यदि दुःख को अपने आप में साक्षी भाव से, साक्षी रहकर देखने का सामर्थ्य उपजा ले, तो वह कहीं भी किसी प्राणी में नहीं उलझेगा। सब प्राणियों को परस्पर के संग से होने वाले भावों के जाल द्वारा प्रेरित होते हुए देखता हुआ और उसी के उनके मिथ्या कर्मों को भी समझता हुआ अपने आप में संयत रहता हुआ इस व्यापक की, परस्पर की प्रतीति से कर्म करवाने वाली माया को जानकर सदा अपने आप में, अपनी आत्मा में शान्त रहेगा। क्योंकि स्वार्थ को न जीत सकने के कारण छोटे से लेकर बड़े तक सब प्राणी जैसा उनका ज्ञान, वैसे उनके बिना वश के कर्म नियम के अधीन दुःख पा रहे हैं। ऐसा ज्ञान रखता हुआ ज्ञानीजन आप संयत रहता हुआ सब अच्छे कर्म ही करता है और मन से भी संसार स्रोत में बहते हुए अवशवर्ती (अपने बस में न रहने वाले) प्राणियों का अहित न ही चिन्तन करता है और न कर्म रूप से करता है। केवल एक व्यापक विधान के अनुसार उन में सब कर्म देखता है। इसी से उद्योगी साधक सत्य के ज्ञान और आत्म संयम द्वारा संसार जाल से मुक्त होकर सबकी आत्मा रूप इस अनन्त चेतन या ज्ञान रूप ब्रह्म में एक रस, शान्त रहता है।

卐 जीव 卐

(Living being)

जीव नाम प्राणी मात्र का है, जो प्राण को धारण करता है। परन्तु प्राण का धारण, बिना ज्ञान रूप, विज्ञान रूप, चेतन के नहीं हो सकता। ज्ञान विज्ञान का अर्थ यह है कि कुछ समझना या समझ में पड़ना और उसके बाद सांस को लेना। इतने में जीव भाव बन जाता है। इस का नाम ज्ञान और क्रिया रूप जीव है जोकि जीता है या जीवन धारण करता है। अब यह जीव एक तो है नहीं, अनन्त या असंख्य हैं। तो आपस में यह परस्पर एक दूसरे को प्रतीत होते हुए या महसूस करते हुए दुःख-सुख का अनुभव करते हैं। जिसके कारण से राग, द्वेष, काम, क्रोध इत्यादि अनेक बन्धन और विकार इस जीव में, जल में तरंगों के समान हर समय तरंगायित (बहते) होते रहते हैं। जब ये तरंगे नहीं चलतीं, तो यही सब निद्रा रूप में समाये रहते हैं, नष्ट नहीं होने देते और जीव भाव को बनाए रखते हैं। इसलिए जीव इसी का नाम है, जो कि इन जीवों के अनन्त समुदाय रूपी संसार में बहने वाला इसी समूचे या समष्टि (व्यापक) रूप का एक भाग (यूनिट) या इकाई है, वह जीव है। यह हर समय एक अवस्था में नहीं रहता। इसमें दुःख व क्लेश सदा बना रहता है। जो दुःख को टालने के लिए जन्माता है, और जो जन्मता है वह मरेगा भी। इस प्रकार जन्म मरण के चक्कर से जीव कभी भी नहीं निकल पायेगा। और इस दुःख को टालने हेतु प्राणी (जीव) की खोज कभी भी समाप्त नहीं होती, जब तक कि यह अनन्त

ब्रह्म या परमात्मा को नहीं पहचानता जिसका विवरण आगे आयेगा। यदि इस ब्रह्म को पहचानने पर उसका दुःख सदा के लिए मिट जाये, और शान्त ब्रह्म में ही इसको ठिकाना मिल जाये तो इस दुःख को मिटाने की खोज भी समाप्त हो जाये; और अनन्त (असंख्य) जीवों के समुदाय के प्रवाह में बहना रूप जन्म मरण भी समाप्त हो जाये। पर संक्षेप में इसका तात्पर्य यह है कि यदि जीव इस व्यापक ब्रह्म को और परमात्मा को पहचान कर अपने बन्धनों को, समझ कर, उद्योगी होकर यत्न करे, तो सबसे पहले अविद्या, मान, मोह, द्वेष इत्यादि बन्धन जो कि संसार रूपी समुदाय में रहते हुए पनपते हैं, या विकसित होते हैं, उन सबको टाल कर अपनी ज्ञान रूप आत्मा के अन्दर ही सर्वव्यापक ब्रह्म का साक्षात्कार करके उसमें टिकाव पा जायेगा, और इसको संसार में बहने का अवकाश समाप्त हो जायेगा। यहाँ बन्धनों के सब दुःख टलते जायेंगे। केवल दुःख ही है जो इसको संसार में भड़काता है। यदि इसको सुख शान्ति, वाली 'मैं' या अपना आपा केवल अपने आप में ही मिल जाये, तो वह क्यों अनन्त संसार में चक्कर काटेगा ? और इस कर्मों के जाल में बन्ध कर क्यों जन्म मरण के प्रवाह में बहता रहेगा और सुख दुःख भोगेगा ? अतः फलतः जीव इसी का नाम हुआ, जोकि सुख दुःख के कारण असंख्य जीवों के समुदाय रूपी संसार में राग, द्वेष इत्यादि बन्धनों के कारण अच्छे व बुरे कई कर्म करता है और उसका दुःख सुख रूप फल पाता है और उसकी वासनाओं के द्वारा क्लेशों में जकड़ा हुआ पुनः ही इस संसार में जन्मता और मरता रहता है।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

卐 भगवान् 卐

(God : Perfect Enlightened Soul)

भगवान् का अर्थ है–छः ऐश्वर्य वाला चैतन्य पुरुष। शास्त्र में छः भग कहे गए हैं। भग नाम 'ऐश्वर्य' का है। ऐश्वर्य का अर्थ है सामर्थ्य और शक्ति। यह छः कौन से हैं ?

(१) विद्या का जानना।

(२) अविद्या को भी पूर्ण रीति से पहचानना।

(३) कर्मों की गति (कौन कर्म किस योनी या जन्म की ओर ले जाता है) और कैसे गति को प्राप्त करवाता है।

(४) कर्मों की आगति (कोई प्राणी क्या कर्म करके इस वर्तमान स्थिति, जन्म या अवस्था को प्राप्त हुआ है)।

(५) धर्म अर्थात् कि जिस जीवन के प्रकार को व अपने आप को संसार में चलाने में मनुष्य को मोक्ष या बन्धनों से छुटकारा होकर परमपद रूप नित्य सुख शान्ति प्राप्त होती है तथा सब दुःखों से एवं सब अनर्थों से छुटकारा होता है, यही सब इस छुटकारे रूपी मोक्ष का मार्ग धर्म करके कहा जाता है। यही पाँचवां ऐश्वर्य है, जो कि भगवान् में अपनी पूर्ण मात्रा में स्थित होता है। भगवान् ही उसे पूर्ण रीति से जानता है और दूसरों को चलाने का मार्ग प्रत्यक्ष रूप से दर्शाता है। चाहे किसी समय इस लोक में वह धरती पर प्रकट होकर स्वयं दृष्टांत (मसाल) बन कर दूसरों को दर्शाता हुआ चलने

卐卐

के लिए प्रत्यक्ष रूप से मोक्ष के मार्ग के लिए प्रेरित करता है।

जैसे मैं चल रहा हूँ, वैसे तुम भी चल सकते हो, वह इस प्रकार से प्रेरित करता हुआ भक्तों और साधकों को उत्साह रहित होने नहीं देता। उनकी अनुपस्थिति होने पर भी वह ध्यान में अपने भक्तों और साधकों को खोज करने पर प्रेरणा दे जाता है। यह सारे वेद आदि का इसी प्रकार ऋषियों के ध्यान में प्रकट हुआ ज्ञान है, परन्तु जो अपना जीवन स्वयं ही न साधे (कमाए), तो उस व्यक्ति को इस भगवान् के उपदेश को पूर्ण रीति से समझना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। परन्तु यदि कोई भक्त या साधक दुःख का सामना करता हुआ भी सब बुराइयों को टालता हुआ और सब अच्छाईयों को अपनाता हुआ कठिनता से भी जीवन धारण करता हुआ धर्म की खोज करता रहे, और बाहरी स्वार्थ को त्याग कर आत्म शान्ति की थोड़ी खोज करता रहे, और थोड़ा ध्यान की एकाग्रता में खोज करे कि मेरे जैसे क्लेश पड़ने पर भगवान् स्वयं मनुष्य रूप में कैसे चलते होंगे ? और क्या करते होंगे ? और किस तरह धर्म को रख सके होंगे? तो उसको ध्यान में ही जैसे :- भगवान् अपने आप को धारण करते रहे या धर्म में रखते रहे वैसा आदेश ध्यान में ही मिल जाएगा। वह साधु या भक्त धर्म की नौका को सुचारु रीति से (भली प्रकार) चलाता हुआ भवसागर से पार उतर जाएगा। इसी प्रकार से सब वेदों का अर्थ भी और धर्म के गम्भीर पदों का अर्थ मनुष्य की

卐卐

समझ में आ सकेगा। यही सर्व-धर्म, जो कि ऊपर कहा गया है, यह भगवान् में ही ऐश्वर्य रूप से बसा रहता है। इसी के कारण से भी धर्म रूप ऐश्वर्य से भी यह भगवान् नाम से कहा जाता है।

(६) मोक्ष :- यह छटा भगवान् का सामर्थ्य (भग) है। भगवान् ही मोक्ष को बहुत निकट से साक्षात् अपने में स्वाभाविक रीति से पाता है अर्थात् दर्शन करता हुआ देखता है। यह मोक्ष, बन्धनों से छुटकारे का नाम है, जो कि संसार के साथ पुरुष का संयोग हो गया है और संयोग के कारण न जाने कितने प्रकार के दृष्टि, संशय, शील व्रतों सम्बन्धी न समाप्त होने वाला परामर्श (विचार) आते हैं, जिससे कि मनुष्य के कर्तव्य सम्बन्धी विचार ही समाप्त नहीं होते और वह करने कराने की सोचों (विचारों) में ही पड़ा रहता है। इसी प्रकार जो सुख देने वाले प्राणी व पदार्थ इस संसार के हैं, वह उसकी (संसार में बहते हुए प्राणी की) स्मृति से या विचारों से कभी भी नहीं उतरते। कोई दूसरा ऐसा प्रबल कारण बन जाए, तो भले वह थोड़े समय के लिए टले हुए या दबे हुए प्रतीत होते हैं और जब अल्प काल के लिये भी वह कारण टला, तो वह पुनः संस्कार रूप से मन को घेरे रहते हैं। ऐसे ये सुख देने वाले प्राणी व पदार्थ की बहती हुई याद या चिन्तन यही राग शब्द से कहा जाता है। इसका तात्पर्य (अभिप्राय) यह है कि जिन संसार के प्राणी और पदार्थों से मनुष्य को बाहर का सुख मिलता है उन्हीं की याद मन से उतरती ही नहीं। उन्हीं की याद का

卐卐

रंग मन में बहता रहता है। यही राग नाम का बन्धन है। इसी के कारण से उन्हीं की चित्त में या मन में काम या इच्छा उत्पन्न होती रहती है। प्राणी व पदार्थों के सम्बन्ध का आकर्षण दिखा कर, इच्छा या काम और वैसे ही उसका लोभ भी जीव को बार-बार उन्हीं के सम्बन्ध के लिए प्रेरित करता रहता है। और उन्हीं की प्राप्ति के लिए उग्र और भयंकर कर्मों के जाल में मृत्यु की भी चिन्ता न करता हुआ विवेक को खोकर लगाये रखता है। यह राग का बन्धन संसार में उस प्राणी को बहुत बुरी भान्ति से जकड़े रखता है। वस्तु का आकर्षण दिखाकर उसकी बुद्धि को भी ऐसा भ्रष्ट कर देता है कि उस वस्तु का और प्राणियों के संग का जो भविष्य में होने वाला मृत्यु तुल्य भयंकर कष्ट भी है, उस पर भी आवरण (पर्दा) डाले रखता है, जिससे कि बुद्धि रखता हुआ भी मनुष्य सत्य को नहीं समझ पाता और उस थोड़े सुख की आशा को मन में बसाए रखता हुआ केवल इसी संसार में ही बहना अभीष्ट (पसन्द करता है) मानता है। और उसी राग से उत्पन्न होने वाला सुखों का काम (इच्छा) लोभ, आशा अपने सुखों की प्रतीक्षा और उसी के लिए मन की रुचि बनाए रखता है। यह सब राग का परिवार है। इससे बन्धा हुआ प्राणी कभी भी मोक्ष का सुख नहीं पा सकता। परन्तु भगवान् प्रथम इन संसार के प्राणी और पदार्थों के सुख का बन्धन, जो कि राग रूप है, इससे विमुक्त होकर अपने आप का अर्थात् पुरुष चेतन का अनन्त सुख जानता है और संसार में रहता हुआ ही जानता है।

इसी प्रकार से भगवान् द्वेष के बन्धन से भी प्रत्यक्ष रीति से विमोक्ष (छुटकारे) को जानता है। द्वेष नाम है, उस बन्धन का जो कि दुःख के अनुभव से मनुष्य एवं जीव में प्रकट होता है जैसे कि सुख देने वाले प्राणी और पदार्थों के प्रति ऊपर कहा गया राग बन्धन था, इसी प्रकार दुःख देने वाले प्राणी और पदार्थों के प्रति यह द्वेष बन्धन है। इसका विशेष अर्थ यह है कि जो प्राणी व पदार्थ दुःख देने वाले हैं, वह भी जीव के मन से कभी भी नहीं उतरते या भूलते। उनका भी सतत् (लगातार) चिन्तन या विचार उनके दुःख को दूर करने के लिए बना रहता है। ऐसे ये दुःख देने वाले प्राणी व पदार्थ, जब चिन्तन में बसे रहते है, तो यह द्वेष ग्रह मन को पकड़े रखता है। इस द्वेष से बंधा हुआ प्राणी उनको दूर भगाने के लिए या उस के दुःख को समाप्त करने के लिए केवल बुद्धि द्वारा ही नहीं सोचता, किन्तु भावाविष्ट होकर क्रोध भी करता है। और इसी का परिवार चिड़ और ईर्ष्या, मत्सर आदि बहुत प्रकार से मन को उलझाए रखता है। इसी से जीव इस द्वेष के परिवार से जकड़ा हुआ ग्रह ग्रसित के समान सब सुख के पदार्थों के होते भी सुख नहीं पाता, और कई प्रकार के उग्र या भयंकर कर्म करने को भी तत्पर हो जाता है। केवल भगवान् ही इसको अपने आप में समाप्त करके इससे भी विमोक्ष पाकर अपने नित्य सुख में स्थित होता है या इन्हीं भगवान् के आदेशानुसार भक्तजन या साधकजन इस द्वेष को क्रमशः समाप्त करके भगवान् के ही निदर्शन

(मसाल) से उत्साहित होकर अपने आप को दीप्त ज्ञान के प्रकाश से युक्त करके दुःख से भी यत्न करता हुआ इस बन्धन से छुटकारा पाता है। द्वेष प्रायः सुख की सामग्री के सहारे (आसरे) टिका रहता है। यदि साधक को इस सुख की समग्री को भी छोड़ना पड़े, तो वह द्वेष को समाप्त करने के लिए सुख की सामग्री को भी बड़ी प्रसन्नता से त्याग देता है।

इसी प्रकार से भगवान् मोह, मान, अविद्या और इन्द्रियों के क्षेत्र के विषय और अनन्त जो मन के जानने का क्षेत्र है उन सबके बन्धनों से भी विमोक्ष प्रत्यक्ष रीति से जानता है। यही ऐश्वर्य वाला भगवान् नित्य अपने पुरुष चैतन्य रूपी सुख धाम में विराजमान रहता है। जिस प्रकार धर्म का रास्ता अपनाने से या अपने आप को धार कर चलने से यह सारे बन्धन जड़ से समाप्त हो जाते हैं। इसी चलने के मार्ग का नाम धर्म है। यह धर्म प्रथम भगवान् ही प्रकट करता है। यह भगवान् का ही ऐश्वर्य है। ऐसे धर्म को अपनाकर चलने वाला साधक या भक्त भी इस संसार की अत्यन्त मुक्ति को पा जाता है। जिस धर्म से साधक मुक्ति पाता है, यह भगवान् का पाँचवां, धर्म नाम वाला ऐश्वर्य है। इन बन्धनों का निरूपण यथास्थान किया गया है।

ऊपर कहे दसों बन्धनों से विमोक्ष रूप यह भगवान् का छटा ऐश्वर्य है। यह छः ऐश्वर्य वाला भगवान् कहा जाता है। अर्थात् यूँ कहना चाहिए कि भगवान् में ये छः ऐश्वर्य होते हैं। विद्या, अविद्या को साक्षात् जानना, कर्म

卐卐卐

की गति को और आगति को प्रत्यक्ष पहचानना, धर्म और बन्धनों से छुटकारा रूप विमोक्ष को प्रत्यक्ष रीति से अपने में पहचानना। इन छः ऐश्वर्य (भग) से युक्त पुरुष चेतन का नाम भगवान् है। जिस पुरुष की काया में यंही छः ऐश्वर्य अवतीर्ण (उतरे हुए) संसार के प्राणियों को प्रतीत हुए, उस पुरुष को ही उन्होंने भगवान् के नाम से कथन किया (पुकारा) है। इसी को अवतार कहते हैं। उस पुरुष को अपनी आत्मा में अन्दर ज्योतिर्मयी मूर्तियां प्रत्यक्ष दर्शन में आईं। वही श्री राम, श्री कृष्ण आदि के स्वरूपों में प्रकट हुई हैं और उन्हीं की लीला उस पुरुष में समझी गई है।

卐 आत्मा 卐

(Consciousness-in-particular, Soul)

आत्मा के बारे में बहुत कुछ तो ब्रह्म के निरूपण में कहा जा चुका है, परन्तु थोड़ा सा कुछ विशेष यह भी समझना आवश्यक (जरूरी) है कि आत्मा नाम है मनुष्य का निकटतम या सबसे अन्तरतम, जो सदा एक रस एक रूप से प्रतीत होने वाला अपना आपा; इसी का नाम है ''आत्मा''। दूसरे शब्दों में जो पूर्व परिचित या अपने आप के स्वरूप से समझा हुआ ''मैं'' भाव है, उसी का पुनः अनुभव में आना, यही आत्मा का स्वरूप है। जैसे कि कुछ पदार्थ सेवन करने से मनुष्य को सुख व प्रसन्नता हुई, तो उसकी ''मैं'' सुखी व प्रसन्न, ऐसा अनुभव होता है। दूसरी बार यदि पुनः वैसे ही सुख और प्रसन्नता प्राप्त हो, तो उससे यह पुनः अनुभव होता है कि यह पहले वाली 'मैं' का अनुभव हो गया। इसी प्रकार निरन्तर यदि उसे समान रूप से अपने आपे का सुख स्वरूप अनुभव होता रहे, तो अपनी आत्मा का लाभ ही समझा जाता है। और जब यह सुख या प्रसन्नता ज्ञान में या अनुभव में न आए, तो उसे पुराना कल, परसों वाला अपना आपा खोया हुआ सा मालूम होता है। तो पुनः आत्मा क्या हुआ ? जो कि होते हुए सुख वाले का ज्ञान पहले के समान ही सदा निरन्तर होता रहे, जिसका स्वरूप है कि वह 'मैं' जो कल परसों का था वह आज भी मैं हूँ और ऐसे ही उसको आने वाले समय में भी उसको

अनुभव करने की कामना बनी रहती है। इस प्रकार सारे जीवन में व इससे पहले और इससे आगे भी जब निरन्तर समान रूप से अपना आपा रूप से समझा जाता है और उस का कभी भी अभाव (न होना) प्रतीत नहीं होता, वही आत्मा शब्द से शास्त्रों में अधिक रूप से समझा जाता है। वैसे आत्मा भिन्न-भिन्न शास्त्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार से बताया गया है। परन्तु वेदान्तों ने तो आत्मा का स्वरूप ज्ञान रूप ही कहा है, जो कि ज्ञान मनुष्य का अपना स्वरूप है, और अपना होता हुआ स्वरूप ही सत् कहा जाता है, जिसका कि अभाव (न होना) कभी भी नहीं प्रतीत होता। वह सुख रूप से भान होता हुआ सुख और चेतन रूप से भी कहा जाता है। सुख का अर्थ है आनन्द रूप। इस प्रकार आत्मा सत् चित्, आनन्द रूप से निरूपण किया गया है। इसका एक वाक्य में यूँ निरूपण किया जा सकता है कि ''ज्ञान में सुख रूप से या आनन्द रूप से भान होता हुआ अपना आपा''। जब इसका सुख स्वरूप का भान छुप जाए, तो आत्मा खोया हुआ सा प्रतीत होता है। यद्यपि तब ज्ञान सामान्य का न होना (अभाव) तो नहीं है, क्योंकि मनुष्य तो जी (जीवन धारण कर) ही रहा है परन्तु सुख या आनन्द के अंश पर पर्दा पड़ने से अपना आपा या आत्मा खोया हुआ सा प्रतित होता है। यदि सुख व्यक्त हो जाए, तो वही पुराना व्यतीत हुए कल परसों जैसा अपना आपा स्मृति के साथ-साथ अनुभव में आ जाता है। वह समझता है कि अब मेरी 'मैं' मिली। और भी एक दृष्टांत, जैसे कि किसी को मान मिलने पर भी कुछ उसको अपना आपा एक बार फिर रूप से मिला

卐卐

है, मीठा लगा है। आनन्द करने वाला प्रतीत (मालूम) होता है। यदि यह मान दूसरे समय में न मिले, तो पुराना पहले का प्रतीत हुआ-हुआ अपना आपा खोया हुआ सा प्रतीत पड़ेगा, अर्थात् पहले (पूर्व) परिचित अपना आपा नहीं मिलेगा। तो 'वही मैं' यह आत्मा अनुभव में नहीं आएगा अर्थात् आत्मा की प्रत्यभिज्ञा नहीं होगी। प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है कि किसी वस्तु के प्रत्यक्ष (सामने) ज्ञान के साथ-साथ उसके पूर्व की ओर वैसी स्मृति। जैसे कि कोई सम्मुख किसी मित्र को चिरकाल पश्चात् सामने देखता हुआ कहता है कि ओह 'वह मेरा मित्र'। यही प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप है कि पहली ही वस्तु का, जो कि पहले अनुभव की थी, उसी का पुनः सम्मुख अनुभव करना। आत्मा भी ऐसे ही अनुभव में आता है। सुख पाने पर व्यक्त हुआ कि 'वही मैं' अर्थात् पहले वाली। इस प्रकार आत्मा सदा एकरस अनुभव में आता है। परन्तु यदि पुनः वही मान मिल जाए, मन को सुख एवं आनन्द मिल जाए; तो ऐसा प्रतीत होगा कि वही पुरानी 'मैं' मिल गई। आत्मा पहचान में आ गई। इसी प्रकार से संसार के सब प्राणी और पदार्थों के संग से जो-जो सुख मिला है और उस सुख में, जो इसको अपने आप का सुख रूप से भान हुआ है, वह यदि बना रहे, अर्थात् प्राणी व पदार्थों का या उन के संग का सुख मिलता रहे, तो सुख रूप आत्मा भी (अपना आपा) प्रकट ज्ञान में आता रहे। परन्तु यदि उनका सुख खो जाए, तो सुख स्वरूप से झलकने वाला एक परिचित आत्मा भी नहीं मिलेगा। इसका न

卐卐

मिलना समझा जाता है कि आत्मा अज्ञान के पर्दे में छुप गया। मनुष्य इस आत्मा को पाने के लिए पुनः सब प्रकार का यत्न करता है और इन्हीं संसार के प्राणी और पदार्थों की आवश्यकता प्रतीत करता है। इसी कारण से राग द्वेष से मुक्त होकर सुख रूप आत्मा को पाना तो दूर रहा, परन्तु समय के अनुसार इनसे दुःख होने के कारण से आत्मा को मनुष्य सदा खोया हुआ सा प्रतीत करता है। इसलिए उसको कभी भी बहिर्मुख हुए-हुए को शान्ति प्राप्त नहीं होती। क्योंकि विषयों का सुख तो खो गया और सुख खोने पर सुख रूप आत्मा का भान नहीं रहा और पूर्व परिचित सुख वाली वह 'मैं' या अपना आपा न मिला, तो उसका जीने का भी मन नहीं चाहता। ऐसी अवस्था में यदि वही व्यक्ति अपने इन विषयों के वियोग द्वारा होने वाले दुःख को तपस्या रूप से स्वीकार करके, अपने मन को आसन इत्यादि पर शान्त रखता हुआ विचार द्वारा इस संसार में होने वाले जीवन को ध्यान द्वारा पहचाने और समझे कि जीवन कैसे-कैसे जन्म से यात्रा करता आ रहा है और कहाँ पहुँचता है ? इस प्रकार आसन ध्यान में इसे विवेक प्राप्त होगा जैसे कि अन्त में मेरा जीवन इस संसार के विषयों का सुख पाता हुआ अन्त में दुःख में ही पहुँचा है। सुख रूप आत्मा खो गया है। इसी प्रकार किसी भी मनुष्य का जीवन जिस किसी स्थान पर भी है, वह इसी तरह संसार के अन्त में दुर्गति ही पाता है। इसलिए विषयों द्वारा या प्राणियों द्वारा सुख प्राप्त करके, जो कोई अपना आपा या आत्मा परिचित रूप से ('वह

मैं' रूप से) मिलता है, वह कभी भी सदा बसे रहने वाला नहीं है। इन सुखों के लुप्त हो जाने पर आत्मा का अनुभव भी लुप्त हो जाएगा अर्थात् परिचित सुख वाली 'मैं' नहीं मिलेगी। यदि इसको (आत्मा को) सनातन रूप से पाना हो तो, इन दुःखों को स्वीकार करके, मनुष्य साधन सम्पन्न हो व अपनी बुद्धि को रखते हुए समय व्यतीत करना सीखना पड़ेगा। यद्यपि दुःखों के साथ समय व्यतीत करना भारी पड़ता है, परन्तु वह दुःख सदा बने रहने वाला नहीं है। जब तक यह पुराने विषयों के सुख की स्मृति बनी हुई है और इन्हीं को पुनः बिना विचार के पुनः ग्रहण करने का मन बना बैठा है अर्थात् यह विषयों का सुख मन से नहीं उतरता, तब तक ही यह दुःख बना हुआ है। और जब विषयों के बाहरी सुखों की तुच्छता समझ कर इनसे मन मुख फेर लेगा, तो उस समय इसमें यह दुःख भी ऐसे विमुक्त हो जाएगा, जैसे कि निद्रा में जाते हुए प्राणी को कोई दुःख भी अनुभव (महसूस करने) में नहीं आता। परन्तु जागते हुए प्राणी को विषय से विमुक्त हुए-हुए को यदि निद्रा अपनी लपेट में न ले, तो दुःख के विमुक्त होते ही आत्मा का सहज या स्वाभाविक सुख अपने आप में प्रकट होगा या होने लग जाएगा। इस सुख के साथ ही सुख आनन्द वाली आत्मा भी प्रकट हो जाएगी। इस के प्रकट होने पर यह भी प्रतीत होगा कि वही मेरी परिचित सुख वाली 'मैं' या 'आत्मा' मिल गई और अब यह जो आत्मा एक बार ज्ञान रूप से सुख रूप से प्रकट हुई-हुई अनुभव में आ गई, तो इस पर कभी भी

पर्दा नहीं पड़ेगा। क्योंकि यह बाहरी वस्तु या बाहरी सुख के साधनों के बिना ही केवल दुःख के टलने से अपने आप में अनुभव में आई है। दुःख तो केवल विषयों की तृष्णा का है। अब जब विषय स्वयं दुःख रूप ही हो गए और उसका सुख काल ग्रसित कर (खा) गया, तो अब विषयों में मन क्यों जाएगा ? तो उन विषयों की तृष्णा का दुःख भी क्यों रहेगा ? उधर से मुख मोड़ते ही आत्मा सदा सुख रूप से भासमान रहेगा। जैसे निद्रा अवस्था में संसार से बिछुड़ा या विमुक्त हुआ-हुआ सुख आनन्द रूप से प्रकट होता है, इसी प्रकार जागते जागते यदि वह सब विषयों को मन से उतार दे, तो वही सुख या आनन्द जागते-जागते भी प्रकट रहेगा और सुख व आनन्द प्रकट रहने पर वही पूर्व परिचित आत्मा का आनन्द रूप से भान भी बना रहेगा। जब तक यह भान बना रहता है तब तक मनुष्य को कुछ करने करवाने का संकल्प नहीं होता। जब यह छूट जाता है, तभी इसी को पुनः आनन्द रूप से प्रकट करने के लिए मनुष्य हाथ पांव पटकता है। अब यदि वह आत्मा आनन्द रूप अपने आप के बाहरी साधन के बिना संसार से मुख फेर लेने पर, जब चाहे तभी प्रकट हो जाए, तो यह आत्मा नित्य ही प्राप्त होगा। केवल शरीर के लिए आवश्यक व्यवहार काल में ही कभी छुपा हुआ चाहे रहे; परन्तु जैसे व्यवहार से विमुक्त हुआ कि पुनः आत्मा स्वयं प्रकाश रूप आनन्द रूप से प्रकट होकर मनुष्य के स्वरूप सुख को देता रहेगा और उसको कुछ करने की इच्छा भी नहीं रहेगी। व्यवहार काल में भी

जब तक दूसरों से व्यवहार करना है, यदि इस सुख स्वरूप आत्मा की स्मृति बनी रही, तो व्यवहार में भी इस प्राणी को खेद नहीं होगा। जैसे कि सुख की स्मृति (याद में) से विचरता हुआ प्राणी बाह्य कर्मों के दुःख को प्रतीत भी नहीं करता। इसी प्रकार नित्य आत्मा के लाभ को प्राप्त हुआ-हुआ प्राणी इसी की ही स्मृति से व्यवहार के दुःखों में भी चलायमान नहीं होता। वह संसार के आवश्यक कर्मों को जो कि देह धारण के लिए है उनमें सदा बिना खेद के अपना समय व्यतीत करता है। तथा जैसे ही उससे अवकाश प्राप्त किया कि वह पुनः अपने ज्ञान द्वारा अपने नित्य सच्चिदानन्द रूप आत्मा के स्वरूप में मग्न रहता है।

यह जो आत्मा ऊपर निरूपित किया गया है, इसका अभ्यास यदि अधिक बढ़ जाए, तो मनुष्य सारे संसार भर में इसका विस्तार करके सर्वत्र इसी को ही पहचानता है, तब इसी का नाम ब्रह्म दर्शन हो जाता है।

तो साधक को इस प्रकार से भावना करनी पड़ती है कि सकल इन्द्रियों से समझ में आने वाला संसार केवल ज्ञान रूप ही है। संसार को ज्ञान के द्वारा ही जाना जाता है। यदि ज्ञान नहीं, तो संसार नहीं। ज़ैसे नींद में सोए हुए के लिए संसार कहीं भी नहीं दीखता। जब इन्द्रियाँ जागेंगी तो संसार समझ में पड़ेगा। इसी प्रकार से जब संसार में स्वार्थ, तृष्णा व इच्छाएँ संसार के पदार्थों में सुख के कारणों से बनी हुई हैं, तभी तक मन संसार को

विशेष प्रयोजन वश अधिक महत्त्व देता है। यदि इन्हीं तृष्णा इत्यादि बन्धनों को और तृष्णा के पदार्थों को दुःख रूप समझ कर अपना मुँह फेर (मोड़) ले, तो यह सब ज्ञान रूप ही नज़र आएंगे। क्योंकि बाहर का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा होता है और इन्द्रियों के अन्दर बैठा हुआ ज्ञान रूप आत्मा ही जनाता है। यदि यह उनको उत्पन्न कर दे, तो यह इन्द्रियाँ संसार को बताती हैं और यदि इन्द्रियाँ बाहरी ज्ञान साधन रूप न जन्में, तो संसार कहाँ है ? परन्तु स्वार्थ वश आत्मा से ये प्रकट होती हैं। यदि इन्द्रियों का सुख या बाहरी संसार का सुख रूप स्वार्थ दुःख रूप समझ लेने पर मन से उतर जाये, तो जो भी ज्ञान होगा, चाहे वह शब्द का है, चाहे स्पर्श, रूप, रस गन्ध का हो, यह सब केवल ज्ञान का ही रूप होगा अर्थात् विषयों की अलग सत्ता (हस्ती) प्रतीत नहीं होगी। जैसे कि वन में गये हुए व्यक्ति को जो घास, जड़ी बूटी रूप से बीमारी दूर करने के लिये मन में बसा है, वह तो महत्त्व वाला प्रतीत होता है और उस पर ही उसकी दृष्टि गड़ी रहती है। वही 'है' करके प्रतीत होता है। और शेष जो व्यर्थ का घास फूस है, उसके बारे में 'है' या 'न है' के बारे में यह विचार करने का भी कष्ट नहीं उठाता। किन्तु चुपचाप उनको लाँघता जाता है और ध्यान में भी नहीं लाता। इसी प्रकार जब संसार में वस्तुओं के साथ स्वार्थ है, तो वे 'है' करके या सत् करके प्रतीत या अनुभव में आती हैं। परन्तु जब इनका दुःख समझ कर या अनुभव में लाकर इन से मन ही उठ गया तो यह घास फूस की

भान्ति (तरह) ही उपेक्षा की वस्तुएं प्रतीत होंगी। जिनको ध्यान में नहीं लाना चाहिए वही उपेक्षा की वस्तुएं कही जाती हैं। उपेक्षा का तात्पर्य है 'ध्यान में न लाना' और उपेक्षा की वस्तु का विचार (ख्याल) तक भी न लाना। इन में कहीं भी मन नहीं चिपकेगा। इनके होने या न होने से अर्थात् सत्य या असत्य के निर्णय करने में भी मनुष्य मनोयोग देने का कष्ट भी नहीं करेगा और केवल इनको ज्ञान रूप ही समझेगा। जैसे कि यदि कान में शब्द आया या आँख में रूप आया और त्वचा में स्पर्श, नाक में गन्ध और जिह्वा में रस, तो वह इन सबको पृथक सत्ता नहीं देगा। वह समझेगा कि शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध यह सब ज्ञान रूप ही हैं। ऐसा प्रतीत करेगा अर्थात् उसे ज्ञान ही ज्ञान भासेगा, चाहे शब्द रूप से हुआ व स्पर्श आदि के रूप से हुआ। शब्द, स्पर्श आदि से पृथक सत्ता (हस्ती) इनको नहीं देगा। यदि पृथक सत्ता उनको दे दी तो इनमें समझो कोई स्वार्थ है। इनको पहचानना आवश्यक है, अर्थात् इनकी दृष्टि बनाना आवश्यक है। क्योंकि इन से कोई अपने सुख दुःख हेतु व्यवहार साधना है। तो यही शब्द, स्पर्श आदि रूप से संसार की सत्ता ही भासेगी। परन्तु ज्ञानरूप ढक जाएगा। यदि ये अनुभव में आयेंगे, तो मनुष्य कहेगा कि 'यह शब्द (आवाज) है'। 'यह स्पर्श है'। शब्द आदि को तो 'है' करके या सत्य करके पहचानेगा। क्योंकि इसको (मनुष्य को) इनसे स्वार्थ (मतलब) है। परन्तु वह जो इनका ज्ञान है, उसकी कोई खबर ही नहीं। वह असत्य सा बन गया। परन्तु यदि

उस में (शब्द आदि का) स्वार्थ नहीं है, तो उनकी 'है' भी नहीं बनेगी और इनका केवल ज्ञान ही ज्ञान होगा। जब ज्ञान रूप ही प्रतीत हुआ, तो ज्ञान ही सत् रहा। उनकी (शब्द आदि की) सत्ता विलीन हो गई, या समाप्त हो गई। इसका तात्पर्य है कि यदि विषय को 'है' या सत् बना दिया, तो ज्ञान रूप आत्मा खोया सा हो गया और यदि ज्ञान ही अनुभव किया तो विषय समाप्त होंगे। इसलिए यदि मनुष्य इन विषयों से अपना स्वार्थ निकाल दे, तो विषयों में ध्यान जाएगा ही नहीं। इन्द्रियों द्वारा कोई भी जो ज्ञान होगा, वह ज्ञान रूप से ही अनुभव में आएगा। जब ज्ञान ही ज्ञान प्रकट रहा, तो विषयों के निमित्त कुछ सुख हेतु करने कराने के लिए 'मैं' या 'अहंकार' भी नहीं उठा तो यही अहंकार से विमुक्त अर्थात् छूटा हुआ ज्ञान रूप आत्मा सदा भान या प्रकाशित होता रहेगा। यह ज्ञान तो अनन्त है, नाश रहित है, चाहे जागृत अवस्था में हो या स्वप्न में हो, यदि वह चाहे सुषुप्ति में हो अथवा और भी शब्द आदि रूप में, व मन की अनन्त तरंगों के रूप में हो, उस में वह केवल ज्ञान ही ज्ञान होगा। मन को उलझाने का नहीं होगा, क्योंकि उन में 'मैं' या अहंकार उत्पन्न होगा ही नहीं। क्योंकि अहंकार तो केवल संसार में स्वार्थ वश ही उत्पन्न होता है। स्वार्थ के दो स्वरूप हैं: बाहर के सुख को ग्रहण करना और बाहर के दुःख को टालना। और इन्हीं के निमित्त संसार के प्राणियों में एक रूप बन कर कुछ 'मैं' का अनुभव करना। जब कि यह स्वार्थ रहा ही

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

नहीं, क्योंकि बाहर होना दुःख रूप है। बाहर का सुख सदा बना नहीं रहता। तो पुनः उस सुख से पूर्ण वैराग्य प्राप्त किया हुआ साधक (मनुष्य) क्यों अपने अहंकार को या 'मैं' को बाहर उत्पन्न करेगा ? वह अपने ज्ञान स्वरूप आत्मा में ही रहना चाहेगा। यदि ज्ञान रूप भान में न आया, तो अवश्य (जरूर) थोड़ा क्लेश का अनुभव करेगा, क्योंकि अविद्या पड़ी हुई है। परन्तु जब उसने भावना द्वारा सब को ज्ञान रूप पहचानते-पहचानते ज्ञान रूप से ही स्थिरता प्राप्त कर ली, तो ज्ञान का भान तो रुकता नहीं, और होता हुआ ज्ञान छुपता भी नहीं। जब ज्ञान नहीं छुपा, तो प्रकट रहा, तो प्रकट ज्ञान की तृप्ति सदा बनी रहेगी। 'मैं' या अंहकार को उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं। यही नित्य विमुक्ति है अर्थात् सारे संसार से यह जीव मुक्त होगा। किसी भी सांसारिक या बाह्य जगत की वस्तु को सत् नहीं बनाता। उसके मन से सब की सत्ता उतर गई। सत्ता सब घास फूस के समान हो गई। ज्ञान का प्रकाश मिटता नहीं है, तो ज्ञान उस को हर क्षण अपनी नव-नव झांकी (नई-नई झांकी) दिखाता हुआ सदा तृप्त रखेगा। बस यही मुक्ति की तृप्ति है। ज्ञान कभी प्रकट होगा, कभी छिप जाएगा। इसी प्रकार ज्ञान रूप परमेश्वर की अनन्त झांकियों में वह जीव अपने आपको उस के रूप में पाता है।

इस सारे का सार यह है कि यदि मनुष्य सांसारिक वस्तुओं को अपने स्वार्थ वश, 'यह है' 'वह है', 'वह है' करके सत्ता प्रदान करता रहे, तो इस में ज्ञान का

卐卐

अस्तित्व (नामोनिशान) भी नहीं प्रतीत पड़ता। लोग संसार को तो सत्य कहते हैं। परन्तु जिस चेतन की कृपा से इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्रतीत होता है, उसका अस्तित्व कहीं प्रतीत भी नहीं होता। क्योंकि विषयों में मन सुख दुःख हेतु बंधा रहता है। परन्तु यदि इन विषयों में दुःख विवेक द्वारा समझ लिया जाए, तो इन से उठा हुआ मन केवल सब को ज्ञान रूप से ही प्रतीत करता है। सर्वत्र उसे ज्ञान ही ज्ञान सूझता है, विषय करके कुछ भी नज़र नहीं आते अर्थात् वे उपेक्षा के योग्य ही प्रतीत होते हैं। ज्ञान ही ज्ञान सत्य जागता है, चाहे वह अपने आप में कैसा भी है। त्वचा (चमड़ी) का, नैन का, मन का है इत्यादि, कोई भी है वह सब ज्ञान का ही रूप होता है। जैसे कि स्वप्न में मनुष्य का अपना आपा ही सब खिला हुआ पृथ्वी, आकाश और सब वहाँ की सृष्टि स्वरूप से प्रतीत होता है और उस स्वप्न के मिटते ही कुछ भी पता नहीं लगता। इसी प्रकार से यह संसार भी केवल (कोरा) अपने ज्ञान का ही स्वरूप प्रतीत होता है। इस ज्ञान के अतिरिक्त उस सब की अपनी सत्ता (हस्ती) कुछ भी नहीं है। स्वप्न टूटते ही वह सब स्वप्न के पदार्थ दृष्टि में नहीं आते कि कहाँ चले गये। बस! यही कहने में आएगा कि एक क्षण मात्र ज्ञान का ही स्वरूप या आकार था। परन्तु जो जीव उस में दृष्टि गोचर हो रहे थे, वह स्वार्थ वश सब प्रकार के व्यवहार में इस स्वप्न के संसार को सत् सा समझ कर उस में खोए-खोए से, ज्ञान रूप से इसके तन में बैठे हुए, इसका मूल या कारण को पहचानते भी नहीं

卐卐

हैं। परन्तु जागा हुआ मनुष्य उस स्वप्न के संसार को पूर्ण रीति से तुच्छ समझता हुआ उसको एक अपनी आत्मा की झांकी को छोड़ और कुछ भी नहीं समझता। इसी प्रकार इस संसार में तृष्णा से भी रहित मनुष्य को साधन सम्पन्न होने पर संसार स्वप्न के समान ही महत्त्व शून्य दृष्टिगोचर होता है। केवल जिस ज्ञान की यह झांकी है, बस वह ज्ञान ही ज्ञान प्रतीत होता है। बस ! वह शुद्ध ज्ञान केवल कल्पना से अतीत होता हुआ मनुष्य की अन्तरात्मा अर्थात् निकटतम शुद्ध आत्मा है, जोकि सर्व यत्न से प्रकट करने योग्य है। इस के प्रकट होने पर इसी के सुख की तरंगों में बहता हुआ सब कुछ भूल जाता है और संसार का कुछ भी उसे प्रतीत भी नहीं होता और न ही उस की याद या स्मृति ही आती है। उसको संसार में पुनः कोई कर्त्तव्य नहीं रहता। उस संसार में उसकी घास फूस के समान ही उपेक्षा हो जाती है। आत्मा के बारे में थोड़ा ध्यान करने योग्य इस प्रकार भी समझना परम आवश्यक है कि आचार्यों ने इस आत्मा को ही जो कि ''अपना आपा रूप'' सबमें अपने निकट रूप से मनुष्य को अनुभव में आता है, जिसको कि वह 'मैं मैं' करके भी व्यवहार में (बर्तावे में) लाता है और परिवर्तित (बदलते) होते हुए भी शरीर मन, बुद्धि आदि के वृत्तान्तों में वह एक रूप में ही समान रूप से ही अपने आप को पाता है, यही आत्मा रूप से कहा जाता है। अब यह जैसे ब्रह्म रूप से ध्यान में अनुभव किया जाएगा, उसकी दिशा यह है कि जब से बच्चा संसार में उत्पन्न हुआ है, वह 'मैं'

का दूसरों से व्यवहार करना या बरतावे में लाना सीखता जाता है। और दूसरे माता, पिता, भाई, बन्धु इत्यादि से अलग करके अपने एक शरीर के अन्दर सब से पृथक करके एक अपनी 'मैं' समझता है, जो कि उसकी अपनी आत्मा का ही व्यक्त भाव या प्रकाश है। अब यह जो 'मैं' है, अब जैसे-जैसे उसका देश बढ़ता जाता है और संसार का ज्ञान भी बढ़ता जाता है, तो वैसे-वैसे उस की यह 'मैं' भी अपने ही ढंग से प्रकाशित होती है। जैसे कि बचपन में शंका, भय से मुक्त होकर प्रकट होती है, इसी प्रकार पुनः इच्छा, क्रोध इत्यादि से मुक्त होकर नाना प्रकार की क्रियाओं में या कर्मों में प्रकट होती है। पुनः जैसे-जैसे वह और संसार को समझता जाता है, वैसे-वैसे उस की 'मैं' बुद्धिमत्ता युक्त होकर प्रकट होती है। इन सब में पुनः वृद्ध अवस्था तक वह बदलती 'मैं' अनेक रूपों में प्रकट होती हुई भी उसके अन्दर एक 'मैं' रूप से वही सदा समान रूप से ही अनुभव में आती है। कभी भी उसको यह नहीं होता कि मैं पीछे व्यतीत हुए-हुए (बीते) समय से भिन्न कोई दूसरा हूँ या हो गया। इसका कारण यह है कि चाहे वह आज का है, चाहे व्यतीत हुए-हुए कल परसों व और किसी भी व्यतीत हुए-हुए समय का है, उसमें उसके पीछे सारे संस्कार इसमें सदा हर समय बसे हुए ही रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जो वह आज प्रभात में निद्रा से जागता है, उसमें सारा अतीत का चित्र (पिछला रिकार्ड) बसा हुआ है। वर्तमान में भी निहित (स्थित) रहता है। कभी भी उस में पिछली कोई

अनुभव में या ज्ञान में आई हुई वस्तु का अभाव (घाटा या टोटा) नहीं होता अर्थात् वह पूर्ण का पूर्ण ही प्रकट होता है, या प्रकाश में आता है। अर्थात् वह कहीं भी बोलता है कि 'मैं यह करता हूँ' 'वह करता हूँ' तो उसकी यह 'मैं' पिछला सारा अपना आपा संस्कार से मुक्त पूर्ण ज्ञान को लिए हुए ही बोलती है, और करती है। यद्यपि उसके अन्दर वह पुराना सब कुछ पहले के समान तो नहीं झलकता, क्योंकि वह तो उसी समय का था, परन्तु उस समय की जो 'मैं' या आत्मा थी, वह ज्ञान रूप से अभी भी उपस्थित (विद्यमान) ही है। उसका अभाव नहीं है। यदि अभाव हो, तो पुराने संस्कार याद कैसे आएँ ? यदि वे संस्कार बसे हुए हैं, तो उसका वह आत्मा भी या 'मैं' भाव भी पुराना अभी भी वही है। अतः वही 'मैं' वह कभी भी नहीं भूलता, चाहे कब के भी वे संस्कार हों, वे इसी एक के हैं और इसी 'एक' में ही रहते हैं। चाहे यह आत्मा 'मैं' रूप से एक क्षण के लिए भी किसी व्यक्ति में 'मैं' रूप से प्रकट हो, तो भी यह पूर्ण पुरुष ही सारा आगे पीछे वाला पूर्ण रूप से ही व्यक्त होता है। अतः इसको पुराण पुरुष भी कहा जाता है। अर्थात् सारा पुराना काल, पुराना समय, इसी 'मैं' रूप से प्रकट होने वाली 'मैं' में पूर्ण रीति से बसा रहता है। केवल इस अनन्त आत्मा के ध्यान की आवश्यकता है। ध्यान करे तो इसमें सब कुछ देखने में आएगा। क्योंकि यह अपने आप में पूर्ण है और पूर्ण ही क्षण-क्षण प्रकट होता है। यद्यपि समय का व्यवहार आवश्यक होने से समय की बातों में मनुष्य भूला

हुआ सा दृष्टिगोचर होता (नज़र में पड़ता) है। यद्यपि उसके अन्दर वही आत्मा पूर्णतः सारा पिछला काल, और देश भी लिए हुई बैठी हुई है। देश का अर्थ यह है कि जहाँ तक लम्बा चौड़ा संसार विस्तृत (फैला हुआ) है। परन्तु वे सब थोड़ा सा ध्यान करने पर जैसे कल की बातें स्मृति में आने लगती हैं और वैसे ही पिछले मास,वर्ष और बहुत से पीछे व्यतीत हुए वर्षों की बातें भी या वृत्तान्त भी, मनुष्य यूँ के त्यों अपने आप में स्मरण (याद)कर लेता है और यदि अधिक एकाग्र अवस्था या समाधि में चिन्तन करे, तो ध्यान में वैसे ही चित्रपट (सिनेमा) की तरह अपनी आत्मा में प्रकट (दृष्टिगोचर) होते हैं। इस लिए ही धार्मिक इतिहास में ऐसे लेख मिलते हैं कि कई ऋषियों ने अपने कई पूर्व के जन्मों को भी प्रत्यक्ष रूप से देख लिया जैसे कि वे उनके सामने अभी की ही घटना है। इसका तात्पर्य क्या है ? कि यही जो अपने अन्दर 'मैं मैं' करके क्षण-क्षण आत्मा रूप या अपना आपा रूप से व्यक्त हो रहा है यह पिछले सारे इतिहास को लिए हुए है। और इसी प्रकार आगे भविष्य में इस में क्या होना है ? उसकी योग्यता को भी अपने अन्दर लिए बैठा हुआ है। अतः कहा जाता है कि भूत, वर्तमान व भविष्य, तीनों कालों वाला यह आत्मा अनन्त है अर्थात् अन्त या नाश रहित है या सीमा से भी रहित है। इस में न तो देश का कोई माप है कि कितने देश तक फैला हुआ है और न काल का ही माप है कि कितने काल या समय तक रहता है। इसलिए यह देश और काल इन दोनों की सीमाओं से

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

या बन्धनों से बहुत परे है। आगे यह भी अनुभव में लाया जाएगा कि सर्वव्यक्ति रूप में भी यही भासता है। इस प्रकार यह देश, काल और व्यक्ति इन सब के बन्धन से अतीत है। इसलिए इसी आत्मा को सर्वव्यापक सब जगह (स्थान) विस्तार को प्राप्त हुआ-हुआ, होने से ब्रह्म कहा जाता है। इस लिए ऋषियों ने आत्मा को ही ब्रह्म रूप से कहा है। अब यह आत्मा ही पीछे कही हुई रीति से पूर्ण रूप होने से क्षण-क्षण 'मैं' रूप से व्यक्त होता है। इसलिए 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा भी कहा है और यह निकटतम होने वाले या भासने वाले 'मैं मैं' रूप में आने वाली 'मैं' रूप आत्मा ही ब्रह्म है यह भी कहा गया है। परन्तु इसका सार यह है कि यही जो प्रज्ञान जो अपने आपे का बचपन से या इससे भी पूर्व अनुभव में आता जा रहा है वह प्रज्ञान रूप ब्रह्म है। यदि इसमें व्यक्ति का अपना मिथ्या अहंकार निकाल दिया जाए, जो कि दूसरों के संग से ही होता है, तो केवल उसका शुद्ध ज्ञान रूप किसी भी दूसरे व्यक्तियों के अन्दर होने वाले शुद्ध ज्ञान रूप से भिन्न नहीं है। इसलिए यही शुद्ध प्रज्ञान जिस में कोई देश, काल और व्यक्ति या व्यक्ति के अहंकार का बन्धन नहीं है, तो केवल (कोरा) यह ज्ञान ही प्रज्ञान रूप से कहा जाने वाला और क्षण-क्षण सब में 'मैं मैं' करके व्यक्त होने वाला सब भेद भाव से शून्य है और यह पूर्ण एक रूप ब्रह्म से समझा जाता है। इसी में यदि स्थिरता या टिकाव प्राप्त हो जाए, तो यह अपने आप में सदा ज्ञान प्रज्ञान रूप से भासमान अपनी आत्मा की तृप्ति का हेतु बना रहता है। अविद्या का

卐卐

पर्दा प्रज्ञान पर या आत्मा पर नहीं पड़ेगा। आवरण या पर्दा आत्मा में पड़ने पर मनुष्य के अन्दर एक ऐसा कष्ट या क्लेश उत्पन्न हो जाता है कि जिससे वह ज्ञान शून्य सा अपने आप को प्रतीत (महसूस) करता है। ज्ञान ही मनुष्य का जीवन (जान) या आत्मा है। ज्ञान से शून्य होने पर उसे अपना विनाश सा प्रतीत पड़ता है। वह इस दुर्गति या दुरावस्था से निकलने के लिए झट समीपस्थ (निकटवर्ती) साधन से ज्ञान को दीप्त करके अपने आप को प्रतीत करना चाहता है या अपने आप को पाना चाहता है। यह सब पुनः इसी में भी अनन्त रूप से छिपे हुए में पुराने संस्कारों को जगा कर ज्ञान तो प्रकट कर देता है, परन्तु ये संस्कार संसार में एक रूप से भटकने के लिए ही हैं। यद्यपि थोड़ी देर के लिए ज्ञान पा जाने के कारण से विनाश की शंका से तो यह जीव मुक्त हो जाएगा, परन्तु संसार के स्वप्न के दृश्य में भटकने से कैसे बचेगा ? क्योंकि संस्कारों में तो यही सब कुछ है। यदि साधन वश (चिन्तन, ध्यान, विचार आदि द्वारा) शुद्ध ज्ञान ही ज्ञान प्रकट हो और सदा प्रकट रहे तो विनाश की शंका कैसे आएगी ? साथ ही साथ संस्कारों द्वारा भटकना भी मिट जाएगी और संस्कारों से संसार में कई प्रकार से होने का क्लेश भी नहीं रहेगा। यदि इसी जीव को अपनी अन्तरात्मा में ही ज्ञान न प्रकट हुआ या न जागा तो ज्ञान रूप आत्मा या अपना आपा पाने के लिये संसार के संस्कार जगा कर संसार में ही जन्मेगा, तो पुनः इसे किसी को माता, किसी को पिता आदि-आदि

बना कर अपने आप को बेटा, किसी का मित्र आदि अपने आप को बना कर तब अपनी 'मैं' (आत्मा) पायेगा। और कुछ समय के पश्चात् यह मरेगी और मरने के पश्चात् पुनः इसी रास्ते से पुनः जन्मेगी भी। क्योंकि उसने संसार की इस 'मैं' या आत्मा के बिना शुद्ध अनन्त रूप जो पीछे बताई गई है उस को यदि जानने का साधन नहीं किया, चिन्तन और ध्यान के द्वारा अन्तर्दृष्टि नहीं खोली, पापों और संसार की व्यर्थ तृष्णा को दुःख रूप समझ कर टालने का अभ्यास भी नहीं किया, तो इसलिये उसको अपने अन्तर की शुद्ध आत्मा अनन्त ज्ञान रूप प्रकट होने में तो आएगी नहीं और उसी प्रकार उसी आत्मा का आनन्द रूप का प्रकाश भी नहीं होगा, तो इस आनन्द के झलके बिना उस की असली आत्मा (मैं) जो ऊपर कही गई है, वह आत्मा तो खोई रहेगी। परन्तु इस आत्मा (अपने आपा) का नाश भी कोई चाहता नहीं। बस इसको पुनः पाने के लिये पुनः संसार के संस्कार जगा कर पुनः स्वप्न जैसे संसार में ही जन्म कर बेटा, बाप, मित्र, वैरी आदि कई प्रकार की उजड़ने वाली 'मैं' ही पाएगा अर्थात् सदा जन्मता मरता रहेगा और जो शुद्ध, अनन्त और आनन्द रूप और सर्वरूप 'मैं' है वह उसके लिये छुपी हुई या खोई हुई ही रहेगी और यह जीव सदा संसार प्रवाह में ही बहता रहेगा। और जो कोई शुद्ध मन को करके संसार की सत्ता को विचार, ध्यान, ज्ञान द्वारा तुच्छ समझ कर अन्दर ही अन्दर या मन में अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा पापों और काम क्रोध आदि विकारों को जीत कर और

थोड़ा अनावश्यक (बिना प्रयोजन का) निद्रा का भी बन्धन टाल कर शास्त्र में सुनी हुई आत्मा के बारे में विचार करेगा तो उसी का पुनः मनन और ध्यान करता हुआ ऐसे सत्य को प्रकट करेगा जिसका आनन्द कभी समाप्त ही नहीं होता। ऐसी अवस्था पाने पर उसको अपने आप अन्दर ही या अपनी बुद्धि में यह विद्या प्रकट होगी या यह सत्य अनुभव में आएगा कि जो मेरे अन्दर ध्यान की शुद्ध अवस्था में आनन्द रूप सत्य प्रकट हो रहा है यह आनन्द कभी भी सब प्रकार के दुःखों से परे है। ऐसी अवस्था में संसार की कहीं याद तक भी नहीं आएगी और उसको (साधक को) या मुमुक्षु को यह अनुभव में आएगा कि, 'जो पाना था सो पा लिया' और 'उस के लिये जो कुछ करना था वह भी कर लिया, अब, कुछ करने का बाकी भी नहीं रहा'। ऐसी अवस्था वाले को किसी देश या काल की स्मृति या याद करने की इच्छा तक नहीं रहती। यह पूर्ण पुरुष सदा अपनी आत्मा रूप ब्रह्म में स्थित या टिका रहता है। यही परम मुक्ति है और यही ब्रह्म की अनुभूति है और अन्त में परम पद रूप निर्वाण है।

इसके विपरीत है भवसागर। भवसागर का अर्थ यूँ समझने का है कि भव नाम है होने का अर्थात् संसार में जन्मने का अर्थात् कभी किसी रूप में जन्म गया, कभी किसी दूसरे रूप में जन्म गया; तो यूँ जन्मने मरने का कहीं भी समाप्त न होने वाला सागर ही कभी कुछ हो गया, कहीं बेटा, कहीं बाप, कहीं मित्र, कहीं वैरी, कहीं

धनवान, कहीं बुद्धिमान्, कहीं दरिद्र, कहीं दुःखित। यही है सब संसार, यही भवसागर, अर्थात् होने का सागर, जिसकी कोई समाप्ति ही नहीं। जैसा कोई व्यक्ति सामने आ गया या पड़ गया, वैसे ही कुछ उसको देख कर या प्रतीत करके, महसूस करके, संवेदन में लाकर अवश (बिना वश के) इस व्यक्ति को भी कुछ होना पड़ेगा। कभी कहीं कामी, क्रोधी, कहीं शंका-भय युक्त, कहीं मान, मोह युक्त, अपने वश के बिना ही पुनः कई कर्म करने वाला भी होना पड़ेगा। पुनः कर्मों के तनावों का अशान्त रूप अनुभव करके उनसे निवृत्त होने के लिये न जाने पुनः और भी क्या-क्या कुछ होना पड़ेगा। कैसे-कैसे स्वप्न देखने पड़ेंगे, कैसे-कैसे संसार देखना पड़ेगा ? क्योंकि जैसा कुछ मनुष्य दूसरों के प्रति या दूसरों के सम्मुख होता या बनता जाता है उसी के अनुसार फिर पुनः बाहर से भी दूसरों से ऐसा बर्ताव पाता है, चाहे वह सुख रूप हो, चाहे वह दुःख रूप हो। यह सब न चाहते हुए भी होता है और यह सब जो कुछ आगे भी होना है वह सब इस आत्मा में इसी प्रकार से बैठा हुआ है जैसे कि भविष्य में सब कुछ घटा हुआ, या संस्कार रूप से हर समय विद्यमान है। जिस प्रकार ध्यान में बैठ कर पीछे का सब वृत्तान्त मनुष्य समझ लेता है, इसी प्रकार वह अपने भविष्य के भी योग्य होकर ध्यान में बैठ कर समझ सकता है। यही कहा गया है कि आत्मा में भूत अर्थात् पीछे का सब कुछ, वर्तमान जो कि उपस्थित या चल रहा है वह सब कुछ, और जो भविष्य या आगे आने वाले समय में

अनुभव करने में आएगा, वह सब कुछ इसी में हर समय रहता है। आत्मा तीनों कालों को अपने में लिए हुए है। यदि मनुष्य थोड़ा साधना द्वारा, साधना का दुःख उठाकर अपने आप को काम, लोभ या कामना के संसार से निवृत्त करले और इसी आत्मा का ध्यान करता हुआ, इसी के सत्य ज्ञान को अपने आप में 'जैसा यह है' ऐसा ही पा ले और कभी भी अविद्या या अज्ञान का आवरण या पर्दा इस पर न पड़े और हर क्षण जैसा भी प्रकट हो इस को ज्ञान रूप से ही देखे। कुछ करने कराने के ढंग से न समझे, तो काम लोक से या कामना के जगत् से प्राणी निवृत्त होकर इसको अनन्त रूप से अपने आप में हर समय प्रकट पाएगा। यदि यह प्रकट रहा तो अविद्या कहाँ? अज्ञान कहाँ ? तो पुनः ज्ञान से शून्य अवस्था का भी अवकाश कहाँ ? कभी भी ज्ञान शून्य अवस्था के दुःख और विनाश की शंका न रहने से सदा प्रकट, भासमान ज्ञान अपने आप में मुक्त कहा जाएगा। यही अनन्त ज्ञान बसा तो सब में समान रूप से है, परन्तु जिसने इसको केवल ज्ञान रूप ही समझा तथा संवेदन (महसूस) करने में पाया, वह अनन्त पीछे कहे गये संस्कारों की दृष्टि में क्यों बहेगा ? उसके लिए स्वप्न जागृत आदि सारा संसार केवल ज्ञान रूप ही दीखेगा।

यह ज्ञान रूप से ही सब में बसा हुआ होता है। जैसे कि जब से किसी देह में प्राणी इस संसार में प्रथम प्रकट होता है, तो वह नहीं जानता कि कौन सी वस्तु (चीज) क्या है ? वह सब कुछ "है" के बिना ही जानता है अर्थात्

अमुक वस्तु अमुक है, जैसे पृथ्वी है, जल है यह सब कुछ नहीं जानता है; यह सब उसके ज्ञान में ही क्षण-क्षण प्रविष्ट होते हैं। ज्ञान रूप से ही धरती को जानता है, जल का भी उसे ज्ञान ही होता है। ऐसे गर्मी और बहती हुई पवन और अनन्त दिशाओं में विस्तीर्ण आकाश, सूर्य, चाँद और अनन्त जीवन यह सब उसके ज्ञान में ही होते हैं। यह सारा ज्ञान ही अनन्त रूप से उसमें बैठता है। जैसे बच्चा बढ़ता है, ऐसे और भी कई प्रकार से इसका ज्ञान इसमें बैठता जाता है। उस ज्ञान के अनुसार ही इस जीव में भावों के बन्धन बढ़ते जाते हैं और लक्ष्मी इसमें बैठ जाती है, अधिकार इसमें बैठ जाता है। कई जीवों का सौन्दर्य, कहीं कुरूपता, कहीं बल, कहीं विद्या और कहीं दूसरे जीवों में भी यह सब ज्ञान में बैठे हुए दूसरे जीवों में भाव रूप से उनमें ज्ञान को प्रकट करके कई प्रकार से इस जीव को मोहित करते हैं तथा मोहित हुआ न जाने वह जीव भी अपने आपको किन्हीं चक्करों में उलझा हुआ कर्मों द्वारा इस शरीर में क्या-क्या पाता है। यह सब इस जीव के ज्ञान में ही तो है। ज्ञान के बाहर तो इसको अनुभव करने का यही संसार है और संसार का ही बन्धन है। और पुनः यदि उस बचपन से लेकर सारे (सकल) ज्ञान के इतिहास को मनुष्य अपने आप में ध्यान द्वारा खोजे, तो उसको यह प्रतीत होगा, कि वह भी इन सब में ज्ञान रूप से ही बना है और दूसरों में ही केवल ज्ञान ही ज्ञान देख रहा है। चाहे धरती है, चाहे जल आदि कुछ भी, यह सब ज्ञान में ही थे। इस धरती पर विचरता

卐卐

हुआ यह देह भी ज्ञान में ही है। अब यदि ज्ञान ही ज्ञान दृष्टि में बसा रहे तथा कामना का जगत् मन से उतर जाए, सुख दुःख सम करने पर पुनः किसी में भी 'है-है' की दृष्टि भी न रहे, तो कोई भी वस्तु बाहर जगत् में "सत्" करके या 'है' करके प्रतीत नहीं होगी, तो उस जगत् मात्र का अस्तित्व (हस्ती) ही ज्ञान में उड़ गया। केवल उसका ज्ञान ही ज्ञान रह गया। जैसे कि आरम्भ में बच्चे में या उस बच्चे में ही उस समय इनके बारे में कुछ करने कराने का संकल्प ही नहीं था। इसी प्रकार ही शुद्ध ज्ञान को ही सब कुछ देखने पर इस ज्ञानी या सुख-दुःख को सम करने वाले साधक में कुछ करने कराने का भाव भी नहीं रहेगा; यही सब अनन्त ज्ञान रूप से अनुभव में आयेंगे। इस प्रकार यही सब अनन्त ज्ञान कभी भी छिपेगा नहीं, कभी भी पर्दे में नहीं पड़ेगा अर्थात् अविद्या से कभी आवृत्त (ढका) नहीं होगा, तो आत्मा कभी खोएगा भी नहीं, विनाश की शंका भी नहीं होगी। इसलिए ज्ञान को पाने के लिए संस्कारों को प्रादुर्भूत करके (जगाकर) संसार में ज्ञान को प्राप्त करने के लिए जाना ही नहीं पड़ेगा। सदा अपने आप में ही ऐसा ज्ञानी पुरुष अनन्त मुक्त रहेगा।

बच्चे में तो ज्ञान अपनी ही रीति से विस्तीर्ण होता हुआ कामना को जगाकर और सुख-दुःख में उलझा कर इस संसार को पृथक सत्ता (हस्ती) देता है अर्थात् इस सत्ता का आरोप करता है, क्योंकि इसमें उसका स्वार्थ है। हर एक में अपना-अपना स्वार्थ का वह पृथक-पृथक

जीव बैठता है। सब संसार को 'है' करके मान कर न जाने किन-किन कर्मों को करता हुआ क्या-क्या बनता जाता है। और पुनः सब कुछ बनने का दुःख सुख रूपी फल भी पाता है। परन्तु साधक ज्ञानी, तत्त्व को जानने वाला, इस संसार से विचार, वैराग्य द्वारा मन और मुख मोड़ लेता है। और इसके सुखों में अनन्त दुःख ही साक्षात्कार करता हुआ इसमें सुख की कामना ही नहीं रखता। अब कामना हेतु जो-जो विचार होते हैं, उनको ध्यान में शान्त करता जाता है। और जब पुनः सब शान्त करने पर उनकी तृष्णा सूक्ष्म रूप से बसी रहती है, तो यही सूक्ष्म रूप से अविद्या बनकर अभी होते हुए ज्ञान को देह में अपने शुद्ध स्वरूप में प्रकट नहीं होने देती। यही अविद्या रूप आवरण (ढ़क्कन) है। इससे आवृत्त (ढ़का हुआ) आत्मा भासमान नहीं होता। न भासने पर ज्ञान रूप से अपने होने को संवेदन (महसूस) करने वाला प्राणी अपने विनाश की शंका करता है और उस शंका से निकलने के लिए पुराने संस्कार जगाकर संसार के चक्र में पड़ जाता है। इसी से प्राणी अपने नाश की शंका करता हुआ, तब दुःखी, अपने आप को प्रतीत करता है। और दुःख सहन करने में दुर्बल यह मन झटपट इस दुःख को दूर करने के लिए पुराने सुखों के रास्ते ही अपनाता है व पुराने संस्कार ही जगाता है, और इसका संसार तो समाप्त (खत्म) होता ही नहीं। यदि यह उस विनाश की शंका के दुःख में ही अपने आप में साक्षी रूप से साक्षी रह करके देखने का अभ्यास करे, तो इस दुःख को

सहते-सहते वह सूक्ष्म तृष्णा जो कि अविद्या रूप से ज्ञान का आवरण (ढक्कन) है, वह भी अपना दुःख रूपी ज्ञान दिखा-दिखा कर अस्त हो जाएगी अर्थात् समाप्त हो जायेगी। अविद्या का ढक्कन हटते ही देह में जीता जागता देह के सब प्रकार से जीवन दान देने और देह रूपी मशीन को चलाने का काम करता हुआ ज्ञान अपने आप में प्रकट होकर आनन्दित करेगा और विनाश की शंका कभी भी नहीं हो पायेगी। इससे सदा के लिये मुक्ति हो जायेगी परन्तु वह दुःख को सहन करने का अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाया जाए। दुःख हो, परन्तु मन उससे बचने के लिए न कुछ सोचे और न कुछ करे और न ही अपनी बुद्धि को जानने की व निश्चित करने की शक्ति को कुण्ठित (खुण्डा) होने दे अर्थात् जानने की शक्ति को दुर्बल न बनने दे। दुःख में यह शक्ति क्षीण हो जाती है। मनुष्य की समझने की योग्यता नहीं रहती । इसे समझने की शक्ति को बनाए रखना, और जैसे कुछ सत्य है उसी को वैसे ही समझना, यही बुद्धि बल है। जैसे कि विषय अन्त में दुःखदाई ही होंगे, यह सत्य ज्यूँ का त्यूँ ही समझना। यदि यह बुद्धि बल बना रहा और विचार से भी उस दुःख से प्रेरित होकर मन दुःख को हटाने के लिए विषय के लिए न लपके, और विषय तक का विचार भी न करे, केवल अन्तरात्मा को क्षण-क्षण जैसा वह प्रतीत होता है, वैसा केवल दर्शन मात्र ही करता रहे। कुछ करने कराने वाला न बने, तब कहा जाता है कि साक्षी रूप से मनुष्य इस की लीला को

देखता है। ऐसा ही साक्षी रहने का अभ्यास करे, तो यह केवल साक्षी ही साक्षी प्रकट रहेगा। ज्ञान क्षण-क्षण व्यक्त होता रहेगा। वह अपने आप में अपने आप को ही देखता हुआ रहने से स्वयं प्रकाश अविद्या का पर्दा पड़ने ही नहीं देगा। ज्ञान की तृप्ति सदा बनी रहेगी। जब ज्ञान की तृप्ति नहीं होती, तो ही ज्ञान की शून्य अवस्था या ज्ञान के विनाश की शंका होने से ज्ञान की तृप्ति पाने के लिए संसार के ही ज्ञान के संस्कार जगाए जाते हैं। यदि ज्ञान अपने आप में ही तृप्त रहे, तो संसार में भागने की इच्छा तो क्या, याद (स्मृति) भी नहीं आएगी।

इस सब आत्मा के विवरण का सारांश यह है कि यह आत्मा भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल और अनन्त देश और सब व्यक्ति अपने में ही समाये बैठा हुआ अनन्त रूप में क्षण-क्षण पूर्ण होता हुआ पूर्ण रूप से व्यक्त होता रहता है। परन्तु इस में अविद्या आकर इस को संसार में चलायमान कर जाती है। यदि यह अविद्या न आए और अविद्या के कारण से काम आदि प्रकट न हो, तो यह अपने आप में ही सब देश कालों से रहित और सब व्यक्तियों के भेदों से रहित केवल शुद्ध ज्ञान रूप से, बिना किसी दूसरे की सत्ता के अपने आप में प्रकट रहता है। यही इसका पूर्ण आनन्द अपने आप में तृप्ति है। दुःख रूपी संसार का नामोनिशान भी नहीं रहता। यही निर्वाण का पद है, जिसमें कि संसार का मन सदा के लिए बुझ जाता है। संसार में कुछ भी बने रहने की इच्छा ही नहीं रहती। जो संसार में कई प्रकार से होना बताया था, वही

भव सागर की तृष्णा, हमेशा के लिए टल जाती है।

इसी भव तृष्णा के साथ-साथ ही दूसरी विभव तृष्णा भी है, जो कि भव तृष्णा के समान ही बनती है। संसार में 'कुछ भी होना' जो भव तृष्णा है यह दुःख रूप है। इसको पहले तो सुख रूप देख कर मनुष्य अपनाता है। परन्तु जब इसका दुःख सामने आता है, तो इससे बचने के लिए इससे मुख (मुँह) फेरना शुरू कर देता है। इससे मन मोड़ता है। बस ! इससे मुँह फेरना या मन को मोड़ना ही आलस्य, निद्रा, और मृत्यु आदि रूपों में सुख दिखाकर इस को जकड़ता है। 'भव तृष्णा' रजोगुण रूप है और 'विभव तृष्णा' तमोगुण रूप है। जब शुद्ध ज्ञान अपने आप में प्रकट होकर आनन्दित कर दे, तो इन दोनों तृष्णाओं से सदा के लिए छुटकारा मिल जाता है। क्योंकि संसार में कुछ होने की तृष्णा का नाम भव तृष्णा है। जब वह ही नहीं रही, तो इस के दुःख से छूटने के लिए ही दूसरी विभव तृष्णा चाहिए थी। जब आत्मा प्रकट हो गया और उसका आनन्द अपने आप में अनुभव में आ गया, तब तृष्णा तो रही नहीं, तो उसका दुःख भी नहीं रहा और उस दुःख को मिटाने के लिए विभव तृष्णा को भी अवकाश नहीं रहा। इस प्रकार दोनों तृष्णाओं से छूटा हुआ साधक विवेक, ज्ञान के द्वारा अपने आप में, वही अनन्त, जो पीछे दर्शाया गया, हर क्षण प्रकट ही रहेगा; वह भी शुद्ध रूप में ही, न कि संसार के उन पिता, पुत्र, मित्र, वैरी इत्यादि वाली 'मैं' रूप या अशुद्ध रूप में। इसका अर्थ यह हुआ कि केवल ज्ञान ही ज्ञान के रूप में

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

प्रकट होगा और न कि संसार के किसी अन्य रूप में।

यदि कोई ध्यान में व स्मृति में मन की उपस्थिति रखता हुआ जीवन को उचित रीति से साधने का अभ्यास करेगा, तो उसे प्रतीत होगा कि उस की आत्मा में ही बैठा हुआ कोई एक तत्त्व बड़ी शीघ्रता से बाहर सत्ता को रचने के लिए प्रस्तुत (तैयार) रहता है। यदि वह ध्यान में बैठा हो, या रात्री में कहीं एकान्त में वास कर रहा हो, तो उसे घर या कुटी के बाहर अल्प (जरा सा) भी शब्द सुनाई पड़े, तो झट उसका मन दृष्टि बना लेता है कि 'कोई है', यद्यपि वहाँ कोई हो व न हो। इसका तात्पर्य यह है कि सर्व प्रथम मनुष्य को या प्रत्येक जीव को, सदा बने रहने की इच्छा रूपी (अभिनिवेश) क्लेश इतना तनाव में रखता है कि अल्प सी भी अपने विनाश की शंका, व भय, विनाश करने वाले व क्षति पहुँचाने वाले की दृष्टि बना कर उसको सत्ता या अस्तित्व (हस्ती) प्रदान कर देता है। वह समझने लग जाता है कि 'कोई है'। इस प्रकार उस शंका या विनाश के भय वाला प्राणी बाहर किसी को रच कर अपने आप में आगे कुछ करने के लिए विचारों में संलग्न हो जाता है। तो सबसे बड़ा यह क्लेश जो कि मनुष्य काया, या जिन अपने देह के रूपों को देखता है, उनसे विमुक्त कभी भी होना नहीं चाहता। चाहे घर के बाहर कोई न भी हो, परन्तु मन ने तो होने वाले की दृष्टि करके उसकी अपने भीतर सृष्टि कर ही ली, और उससे शंका और भय से ग्रसित होकर और न जाने क्या-क्या करेगा। यदि कोई साधक मुमुक्षु इस देह आदि के राज

को भी छोड़कर ही ध्यान आसन में विराजमान हो और बुद्धि बल का सहारा लेकर इस अभिनिवेश (बना रहने की इच्छा) क्लेश को विदाई दे दे, तो अनावश्यक मन 'है, है' की सृष्टि नहीं रचेगा। जैसे राग, काम आदि से सुख में लुब्ध व्यक्ति कामना के संसार का 'है पन' (अस्तित्त्व) प्रतीत करता है और द्वेष क्रोध के प्रभाव के अन्तर्गत प्राणी 'वैरी' आदि के जगत् को अपने ही मन से रचता है। इसी प्रकार देह आदि द्वारा सदा बना रहने के राग वाला जन जिन-जिन से उसे क्षति की शंका, भय है, उन-उन की दृष्टि द्वारा सृष्टि क्षण भर में रच देगा। थोड़ा मन पर, एकान्त आसन पर स्थिर होने पर दृष्टि डालेंगे, तो इस सत्य का प्रकट भान होगा। इससे समझा जा सकता है कि बाँधने वाला जगत् जीव स्वयं अपनी दृष्टि से आप ही रचता है। जब आप ही रचता है, तो मुक्त भी तो अपने आप के यत्न से ही होगा। शेष जो ईश्वर का बनाया जगत् दिखाई पड़ता है, वह तब तक ही है, जब तक अपनी जीव के संसार की तृष्णा बनी बैठी है। जब वह न रही तो केवल कोई मिट्टी, पानी, वायु आदि से खेलने के लिए नहीं बना रहेगा। इन से भी विमुक्त होने का अवकाश प्राप्त कर लेगा। तब रूप राग आदि का बन्धन टल जायेगा, तो शेष भी नष्ट होने के मार्ग पर जायेंगे। जब तक देह है जो दिखाई पड़ता है, इसका राग है। पुनः इस देह से यह विहार किया जाएगा। उस खुले स्थान रूप से अनन्त आकाश की भी तो आवश्यकता है। इसीलिए अन्तरात्मा, अन्तर्यामी

आकाश की भी सृष्टि करता है। यह अरूप है। रूपों वाली काया अरूप से ही विचरने का अवकाश पायेगी। जब रूपों का राग छूटे तो पुनः अरूप आकाश का राग भी छूटने के मार्ग पर आ जायेगा। इसी प्रकार बन्धने वाला मन भी अपने लोकों से छुटकारा क्रमशः पाकर अत्यन्त मुक्ति के क्षेत्र तक अपनी यात्रा कर ही लेगा। लोकों का निरूपण इसी ग्रन्थ में यथा स्थान पर दिया गया है।

इस सब का तात्पर्य यही है कि इन सब बन्धनों से छूटने पर ही आत्मा मुक्त स्वरूप से भासता है। इस सब ऊपर कहे का सारांश (सार) यूँ भी समझा जा सकता है कि भव नाम होने का है, किसी का मित्र होना, किसी का शत्रु होना, किसी से बदला लेने वाला होना, मान आदर वाला होना, कहीं इन्द्रियों को कई प्रकार की तृष्णा को पूर्ण करने वाला होना। यह 'होना-होना' सब भव तृष्णा है। यह सदा एक जैसी होने की तृष्णा सुख रूप तो रहती नहीं, परन्तु थकावट (श्रम) पैदा करके, इन सब कुछ होने की तृष्णा से टलने का भाव जीव में उत्पन्न करती है। अब जब टलने का भाव उत्पन्न हो गया तो यह टलने का भाव निद्रा रूप में उत्पन्न होगा। यही ज्ञान शून्य का प्रकट होना भी इस जीव के अन्दर उसके भाव में बना रहता है। तो यह सब जो तृष्णा संसार से होने की तृष्णा से विपरीत दूसरी तृष्णा है। परन्तु संसार में कुछ न कुछ सुख रूप से अपनी आत्मा को पाने के लिये जो कुछ भी संसार में होना है, यह भव तृष्णा है। और जब संसार में

卐卐卐

होने से दुःख प्रकट होने लगा तो इस संसार से बुझने की तृष्णा होगी, यही विभव तृष्णा है। जो पहली भव तृष्णा है वह संसार में जन्म देती है। जब जन्म के पश्चात् वह जन्म के सुख न मिले तो दूसरी तृष्णा अर्थात् विभव तृष्णा मृत्यु को लाती है या मृत्यु को बुलाती है। यह दोनों तृष्णा के अधीन प्रत्येक प्राणी या जीव मात्र बन्धा हुआ है। अब इन दोनों के जो भाव में न बहता हुआ, शुद्ध चेतन रूप सदा ज्ञान रूप से बसा हुआ अपने अन्दर साक्षात्कार द्वारा पहचान ले तो वह उसके स्वरूप में टिका हुआ इन दोनों तृष्णा से पार हो जाएगा तथा उसका जन्म मरण का चक्कर सदा के लिये शान्त हो जाएगा। परन्तु यह सब कर सकेगा वही उद्योगी पुरुष जो कि संसार में होने का या संसार के सुखों को पाने का भाव न रखे और इन संसार के सुख और सुख के भाव को भी दुःख रूप समझे और उस संसार के सुख की खींच में भी अपने आप को सावधान रखके और उनके विवेक द्वारा उन सब सुखों की तुच्छता समझता हुआ साक्षी भाव से अपने आप में समाहित रह कर उनका स्वयं अपने आप में टल जाने का साक्षात्कार करे और जो उस कुछ संसार की दिशा में बहने का सुख सा नज़र में आता है; उसको तुच्छ समझ कर अपने आप को सम्भालता हुआ उसकी दिशा में बह न जाए; न बहने का भले (थोड़ा) दुःख ही हो। यह दुःख भी बना नहीं रहेगा। साक्षी की दृष्टि रखता हुआ मनुष्य देखते-देखते इस को टाल देगा और इसके टलते ही आनन्द रूप आत्मा का

सुख प्रकट हो जाएगा। बस ! इसको अपने अन्दर ही अन्दर साधक सदा बने रहने वाला भी पहचान जाएगा तथा हमेशा के लिये इसी में टिका रहेगा या टिक जाएगा और संसार की ओर जाने की तृष्णा का भाव कभी बनेगा भी नहीं। यही अनन्त मुक्ति है।

माया
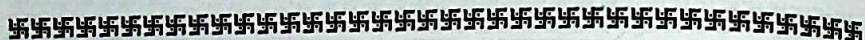
(Divine Dynamism)

माया वह शक्ति है जो सब कुछ करती कराती नज़र आती है। एक रूप में टिकी हुई नहीं दीखती। जैसे एक क्षण जो दिखी, दूसरे क्षण नहीं दिखेगी। जैसे बच्चा जब से उत्पन्न हुआ, वृद्ध अवस्था तक उसमें प्रवाहित्त होती हुई, देह आदि को उत्पन्न करना, बढ़ाना, फिर घटाना फिर समाप्त कर देना यह सब एक धार में प्रतीत हो रहा है। इसमें "है" करके या बन करके रहने वाला कुछ भी नहीं दिखता है। जो जब दिखा, तब ही दिखा, पीछे पाने को कुछ भी नहीं। ऐसे ही कीट पतंग, पेड़, पौधे आदि भी जो कुछ है, जिस काल में (वक्त) दिखा, उसी काल में ही दिखा। आगे पीछे विचार करने पर कुछ भी नहीं मिलता, यही सब माया है। "है", करके तो कुछ दीखता नहीं, पर "न है" करके भी नहीं। जो भाव भी कहीं दिखा, प्राणियों में व कुछ और पदार्थों में, वह भी न तो "है" ही और न "न है" ही। 'है' और "न है" दोनों भी नहीं हैं। बस इसका नाम ही अनिर्वचनीय है। जो किसी लक्षण और प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं होता, उसका नाम अनिर्वचनीय है (which can not be defined and also can not be proved)। जिसको कुछ कह ही नहीं सकते, यह माया है। इतना अवश्य है कि यह माया सत्त्व, रज, तम रूप है। कुछ समझ में पड़ता है, यही ज्ञान रूप सत्त्व है। उस ज्ञान से पुनः कुछ प्रवृत्ति या करने कराने की

अन्दर बाहर की चेष्टाएं होती हैं, यही रजोगुण है। फिर इसी प्रवृत्ति या करने कराने का निरोध या खात्मा दिखता है, यही तमोगुण है। यही लीला इस माया में चल रही है। इसी माया के साथ ही ज्ञान देव भी इसमें दिखता है। जानना रूप ज्ञान या समझना रूप विज्ञान शास्वत (लगातार) तीनों रूपों में होता है। इन तीन गुणों को भासित करता रहता है। यदि इस कोरे ज्ञान को ही पहचानता हुआ कोई तीनों गुणों की अवहेलना या उपेक्षा कर दे, तो यह परमात्मा की शरण हो गई और उसके शुद्ध स्वरूप में, इन ज्ञान रूप में, विचार द्वारा टिकाव या स्थिति प्राप्त हो जाएगी और माया के जाल से मुक्ति मिल जाएगी। यही भगवान् की शरणागति है कि केवल ज्ञान रूप का ही चिन्तन करना और माया के तीनों गुणों की उपेक्षा कर देना। जैसे कि निद्रा में जाता हुआ प्राणी सब प्रकार से अपने मन को मोड़ कर और सबको ठुकरा कर शान्त अवस्था में निद्रा को अनुभव करता है। इसी प्रकार चिन्तन द्वारा इस ज्ञान में मनुष्य सबको ठुकरा कर ज्ञान में प्रतिष्ठा पाकर परम शान्ति को अनुभव करता है। यह माया की शक्ति ज्ञान रूप परमात्मा के साथ ही विद्युत के समान कुण्डलाकार से प्रवाहित होती रहती है और सारे संसार को उत्पन्न करती रहती है। जैसे विद्युत प्रकाश रूप में भी है और सारे कर्म भी करती है। इसी प्रकार बड़ी मशीनों एवं यन्त्रों को चलाती है। इसी प्रकार यह ज्ञान की शक्ति रूप विद्युत, ज्ञान के साथ-साथ ही चेतित होती हुई सारे जगत् को उत्पन्न करती है, स्थित

卐卐卐

रखती है और नाश कर देती है। यही सब माया का खेल है। इसी से मुक्त होकर शान्ति पाई जाती है।

एक जीव के अन्दर उसकी आत्मा के साथ पर्दे रूप में बैठी हुई अविद्या रूप से कही जाती है। इसमें भी वही सत्त्व, रज, एवं तम यही तीन गुण होते हैं और सब जीवों की समष्टि रूप में एक दूसरे के साथ गुथे गुथाए रूप में, परमात्मा का स्वरूप कहा गया है। उन सबमें बैठी हुई और अपने गुणों द्वारा शक्ति रूप से सबको चलाती हुई माया रूप से कही जाती है। इसलिए इसको ईश्वर (परमात्मा) की उपाधि कहा जाता है। जो अपनी अविद्या से और व्यापक परमात्मा की माया से पार होकर शुद्ध स्वरूप में अपने व्यापक ज्ञान रूप विस्तार वाले ब्रह्मरूप में प्रतिष्ठा पाएगा, वही परम मुक्त कहा जाता है।

सारांश यह है कि जब साधक अपने विवेक द्वारा इसी एक रूप को सब जगह समझकर जैसे-जैसे पुराने संस्कार स्फुरित होते जाएं और टलते जाएं, वह साधक उन में चलायमान न होता हुआ उन संस्कारों या वासनाओं का केवल उत्पन्न या निरोध अर्थात् उनका उत्पन्न होना या शान्त होना ही देखता जाए और कुछ करने कराने वाला न बने, तो साक्षी रूप दर्शन ही प्रतिष्ठित हो जाएगा, तो अनन्त ज्ञान रूप विभूति में साधक प्रतिष्ठा पाएगा। संस्कार आते जाएंगे और मिटते जाएंगे। परमात्मा के सत्त्व को पहचानने वाला उनमें कुछ बने बनाएगा नहीं। अपने स्वरूप में ही शान्त रहेगा और

卐卐卐

दूसरों को कुछ बनना बनाना यह सब संस्कारों का ही बल है। क्योंकि बार-बार (बारम्बार) कर्म करने से यह संस्कार भी बल पकड़ गए हैं। परन्तु उनका बल साक्षी रूप से संस्कारों का उत्पत्ति निरोध देखते-देखते समाप्त हो जाएगा। जब तक उनका बल बना है, तब तक साधना में, और साक्षी रूप से टिके रहने में थोड़ा कष्ट या दुःख अनुभव में आएगा। इस कष्ट और दुःख को सहन करता हुआ या झेलता हुआ साधक मन में इसी दुःख के तेज को धारण करके तेज के ही बल को प्राप्त करेगा और इस तेज से पुनः संस्कारों का बल क्षीण हुआ सा दीखने लगेगा। संस्कारों के क्षीण बल होने पर आत्मा का सुख व्यक्त हो जाएगा। उसमें साधक का मन, प्रीति, प्रसन्नता और स्वभाव से ही उनकी उपेक्षा से युक्त होकर नित्य रूप से अपनी साक्षी स्वरूप में बिना "मैं", "तूँ" के प्रतिष्ठित रहेगा। यही ब्रह्मानन्द की अनुभूति है कि संस्कार आते जाएं और मिटते जाएं और साक्षी भाव का आनन्द मलीन न हो। क्योंकि संस्कारों के बल का, दुःख सहन करके, और शक्ति उपजा करके और दुःख के तेज को धारण करके, साधक ने इतना क्षीण कर दिया है कि वह आत्मा के सुख को ढक नहीं सकते। वह सुख सदा प्रकट व व्यक्त रहेगा। जैसे कि जिसने तीव्र वेदना (दुःख) का लम्बा अनुभव किया, अब यह यदि तीव्र वेदना अल्प मात्रा में भी कम होती जाए, तो मनुष्य अपने आप को सुखी अनुभव करता है। इसी प्रकार थोड़ा संस्कारों

卐卐卐

के बल के दुःख को सहन करके अतीत चेतन हुआ-हुआ ज्ञान (खूब) और ऊँची मात्रा तक जागा हुआ मन संस्कारों के बल का दुःख नगण्य (न के बराबर) सा कर देगा और आत्मा के सुख की अभिव्यक्ति स्वरूप से हो जाएगी। यही सब माया, अविद्या और उससे प्रकट होने वाले संस्कार को क्षीण करके परम पद में प्रतिष्ठा पाने का मार्ग है।

माया का खेल, यदि जगत् में होता हुआ अनुभव में लाना हो तो मुमुक्षु साधक को उद्योग के साथ ध्यान में प्रविष्ट होना पड़ता है। ध्यान में दृढ़ आसन पर स्थित होकर अपनी "मैं" से छूटने पर जब सब जीवों में समान रूप से एक ही तत्त्व का दर्शन होने लगे, तो ही माया सब में खेल करती हुई ध्यान में आती है। मुमुक्षु साधक अपनी इच्छाओं को अल्प करता हुआ प्राणियों के राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है। जब मनुष्य की आवश्यकता अल्प (कम) हो गई, और वह अल्प आवश्यकता (जरूरत) भी बिना किसी एक दो चार से बन्धे ही पूर्ण हो जाए, तो फिर राग, द्वेष या व्यक्ति में भेद करने का कोई कारण नहीं रह जाता। भेद का कारण है, बढ़ा-चढ़ा काम, इच्छा, यही स्वार्थ भाव करके समझा जाता है। अधिक सुख की इच्छा व दुःख से भीरुता से ही यह काम व्यायाम करता है, प्रबल बन जाता है, इसी कारण सुख दुःख देने वाले भिन्न-भिन्न (न्यारे-न्यारे) से दीखते व मन में प्रतीत होते हैं। जो मुमुक्षु काम, इच्छा को अतीव

(अत्यन्त) अल्प (कम) करके, सुख-दुःख में सम रहने का अभ्यासी व आदि हो गया तो तब उसे ध्यान के लिए भी पर्याप्त (काफी) समय मिल जायेगा। एकान्त में रहने का भी सुअवसर प्राप्त होगा। तब वह यूँ ध्यान में विचार करेगा कि जैसे प्रगाढ़ रात्री में सोए हुए प्राणी होते हैं, तो उनमें अपनी समझ और बूझ से कोई भी प्राणी श्वास प्रश्वास को नहीं चलाता हुआ दीखता, न देह के अन्य कार्य ही करता हुआ कोई दीखता है। जैसे कि अन्न को जीर्ण करना, रक्त द्वारा सारे देह को भोजन का रस पहुँचना, व हृदय आदि की धड़कन करना इत्यादि-इत्यादि। परन्तु यह सारे नियम तो, बड़े व्यवस्थित प्रकार से होते रहते हैं। देह पुष्टि वृद्धि आदि भी इसी में सम्मिलित हैं। तो यह सब काम या कार्य करने वाली कौन शक्ति है ? क्या यह सब देहों में भिन्न-भिन्न (अलग-अलग) है या सबमें एक ही है। जैसे मशीनें पृथक-पृथक ढंग की, पृथक-पृथक कार्य करने वाली, छोटी-बड़ी सब प्रकार की होती हैं, और उनको विद्युत की एक ही शक्ति चलाती है, इसी प्रकार इन सब देहों को, व वनस्पति, औषधियों को भी एक ही कोई शक्ति अपने नियमों के अधीन उत्पन्न करती है, बढ़ाती है और पुनः समाप्त कर देती है। इसमें भेदभाव कहीं भी प्रतीत नहीं पड़ता। परन्तु यह शक्ति ज्ञान विज्ञान से शून्य नहीं है। जैसे कि बाहर विद्युत प्रवाह में हमें ज्ञान का कोई चिन्ह नहीं दीखता, इस प्रकार जीवों के देह को बढ़ाने, व जीवित रखने वाली शक्ति तो

卐卐

ज्ञान के बिना कहीं भी नहीं दीखती और अधिक विशेष और आश्चर्य का विषय (बात) क्या है कि जैसा ज्ञान देव का स्वरूप, वैसे ही उसके साथ बसने वाली माया की क्रीड़ा या खेल। यदि ज्ञान देव ने कहीं भय प्रतीत किया तो उस ज्ञान देव के अनुसार उसी की माया ने भय की दशा के ही परिणाम प्रकट कर दिये। जैसे कि पशु भय से भागना आदि क्रिया करता है, पक्षी उड़ जाता है या बल होने का भय वाला प्राणी दूसरे पर आक्रमण भी करता है। यह सब भय के ज्ञान की लीला है। ज्ञान रूप से तो एक ही ज्ञान; परन्तु भय का ज्ञान होने पर अपने ही ढंग से वह अपनी माया को सब जीवों में प्रेरित करता है। कहीं परिचित सुख देने वाले व्यक्ति का ज्ञानदेव मुख पर प्रसन्नता की विद्युत को प्रवाहित कर देता है। कहीं दुःख के ज्ञानदेव रोदन के शब्द के साथ मुख पर विषाद खेद आदि की मलिनता विद्युत बिजली को प्रवाहित करता जाता है। और न जाने क्षण-क्षण परिवर्तित होता हुआ ज्ञानदेव (बदलता हुआ ज्ञानदेव) भी अपनी न्यारी-न्यारी यूँ ही जीवों के अन्दर भावों की लीला और चेष्टाओं के खेल की विद्युत (बिजली) रूप जैसी या शक्ति को प्रवाहित करता रहता है अर्थात् बहाता रहता है। जब यह माया की विद्युत केवल ज्ञान के साथ है, तभी इसका स्वरूप सत्त्व शब्द से कहा जाता है। यही सत्त्व के कारण ही ज्ञान देव नई-नई झांकी दिखाते हैं। क्षण में कुछ अगले क्षण में कुछ और एक रूप में कभी नहीं दीखते।

जैसे-जैसे ज्ञान देव अपने रूप बदलते गये, वैसे रजोगुण वाली विद्युत अपनी चेष्टायें करती हुई कई एक रूपों में दीखने लगती है। यदि बच्चा हुआ तो उसकी चेष्टा न्यारी, पुनः बालक, युवा, वृद्धादि अवस्था वाला होकर उन्हीं में उन्हीं के ढ़ंग की चेष्टाएं। यह सब ज्ञान और उसी की शक्ति का मिला मिलाया खेल है। इन दोनों को पृथक नहीं किया जा सकता। यह सब लक्ष्मी नारायण की लीला है। केवल ध्यान में ही इस ज्ञान देव को ज्ञान मात्र ही समझ कर माया शक्ति की उपेक्षा की जा सकती है। एक दूसरे के आमने सामने पड़ने पर, एक दूसरे में जैसे-जैसे ज्ञान, सुख व दुःख का होता है वैसे ही उन व्यक्तियों में प्रत्यक्ष रूप से, अज्ञात रह कर यह माया शक्ति, काम, क्रोध आदि विकार भी उपजाती है। प्रीति, द्वेष के भाव रूप भी बनाती है। आलस्यादि तमोगुण के सुखरूप, प्रिय लगने वाले परिणामों को भी धारण करती है। है सब परन्तु ज्ञान देव के ही अधीन। जैसे-जैसे व्यक्तियों के ज्ञान व्यक्त होते हैं, वैसे-वैसे ही माया सृष्टि उपजाती है। यह सब कोई प्राणी व मनुष्य अपने संकल्प व इरादे से नहीं कर सकता। हँसना, रोना आँखों में अश्रु और सब देहों में विविध प्रीति आदि के भाव, यह किसी ''मैं'',''तूँ'' कहे जाने वाले प्राणी व जीव के अधीन नहीं हैं। कोई इन को इच्छा से नहीं रच सकता। यह सब वह और उसकी माया ही है। माया क्यों कहा जाता है ? माया इसलिए कि उसी समय तक ही यह कहीं दीखती है, जब

तक कुछ करती कराती रही, पीछे इसका निशान तक भी रहा नहीं मिलता। ''माया'' शब्द में ''मा'' व ''या'' यह दो ही वर्ण हैं। ''मा'' का वर्ण ''निषेध'' को सूचित करता है। ''या'' का वर्ण ''जोकि'' अर्थ को बताता है अर्थात् जो नहीं अर्थात् जो कुछ भी कहने योग्य नहीं (अनिर्वचनीय)। जब दो व्यक्ति कहीं मिले तो एक दूसरे के सम्बन्ध से उनमें कुछ ज्ञान देव, सुख वाला, व दुःख वाला जन्मा; या तो प्रीति प्रेम का बर्ताव हुआ या पुनः लड़ाई झगड़े का। बस ! जब तक हुआ, वह तब तक ही की माया थी। अब वे दो वहाँ से निवृत्त हुए, कहीं दूसरे के सम्मुख पड़े, तो वहाँ माया दूसरे ढंग से परिवर्तित हो (बदल) गई। पहली प्रीति व झगड़े वाली कहीं दीखती ही नहीं। यह सब माया का खेल है। क्षण में कुछ और, दूसरे क्षण में कुछ और। बस ! इसके खेल में वैराग्यवान्, अल्प इच्छा वाला, इसके सुख में व दुःख में कहीं भी किसी चक्कर में नहीं पड़ता और क्षण-क्षण की बदलती माया के जीवों को मिथ्या, व्यवहार तक ही सीमित समझता हुआ, केवल ज्ञान देव व चेतन की ही शरण ले, अपने आप में स्मृति वाला ही जीवन मुक्त रहता है। इस माया के बदलते खेलों में मन को नहीं भ्रमाता। इस माया की शक्ति और बाध्यता (विवशता या लाचारी) को साधारण जीवों के अन्दर पहचान करके; उनको परवश जानकर, उनको कर्ता व कराने वाले भी नहीं समझता। इसलिए अच्छा बुरा करने के दोष वाले भी उनको नहीं मान कर

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

उनसे राग द्वेष भी नहीं करता और उनके साथ मैत्री आदि और क्षमा के साथ ही व्यवहार करता हुआ अपने को माया के चक्र में नहीं पड़ने देता। यही सब माया की संज्ञा का विवरण है। जिसको जानकर, समझ कर मनुष्य अपने कल्याण के उपयोगी ढंग से अपने में चिन्तन करके इसके चक्र, व जाल से निकल कर परम पद को प्राप्त करे और इस माया की कल्याण के हेतु, तुच्छता समझ कर इसके कार्यों को कोई महत्त्व न दे।

卐卐卐

卐 प्रकृति 卐

(Nature)

प्रकृति इस संसार की उस शक्ति का नाम है जो कि बिना किसी यत्न के संसार को उत्पन्न करके स्थिर रखती हुई बहती जाती है और समय पर संहार करती है अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और संहार की वह शक्ति जो कि बिना किसी प्रत्यक्ष प्राणी के यत्न के अपने आप अपने ही नियमों और अधिनियमों (Principles) के अधीन संसार को चलाती रहती है। यद्यपि इस प्रकृति के तल (तह) में छुपी हुई चेतन शक्ति इसको क्रिया युक्त करती है, किन्तु यह चेतन शक्ति को ढकने वाली (आवृत) यह प्रकृति शक्ति ही सब कुछ करती कराती हुई दृष्टिगोचर (नज़र) होती है। इस में सत्त्व गुण ज्ञान रूप से और रजोगुण क्रिया रूप से, और तमोगुण अन्धकार या जड़रूप में जानने में आते हैं। चेतन तो ढका रहता है। कार्य करती हुई स्वयं यही प्रतीत होती है। इसलिए इसका नाम प्रकृति है अर्थात् प्रकर्ष (ऊँचे ढंग) के साथ कृति (करने की प्रवृत्ति) जो कि बड़े व्यवस्थित प्रकार से, नियमों के अधीन, अपने आप ही होती जाती है, चलती जाती है; और काम करती जाती है। समय पर सूर्य का उदय, अस्त, ग्रहों का उदय, अस्त और ऋतुओं का प्रवेश, और उसी के अनुसार शनैः-शनैः परिवर्तन, बिना किसी यत्न के होता हुआ दीखता है, यही सब प्रकृति का खेल है। इसका बन्ध इतना कठोर है कि मनुष्य को

इसकी लीला प्रिय प्रतीत होकर बाँधती है और उत्पन्न (पैदा) करती जाती है और संसार में बसाये व बनाये रखती है और दुःख दिखा कर मारती है और नष्ट करती है। इस प्रकृति के जन्म, मरण, कर्मों के फल भोग और सब प्रकार के दुःखों और बन्धनों से छूटने का रास्ता (मार्ग) केवल ऊपर कहे भगवान् का ही सहारा या शरण हो सकता है, नहीं तो यह अपने तीन गुणों के अन्दर बन्धे हुए, मनुष्य या किसी भी जीव को कभी भी छूटने की इच्छा नहीं करने देती। प्रकृति का अर्थ स्वभाव भी है, जैसे कि यह कहने में आता है कि किसी मनुष्य की प्रकृति ऐसी है या किसी की वैसी है इत्यादि। इसका तात्पर्य यह है कि उस रूप में उसके जाने बूझे बिना ही कोई काम या कर्म बनते हैं जो कि स्वभाव रूप में ही किये हुए कहे जाते हैं। स्व शब्द का अर्थ है ''अपना'', भाव का अर्थ है ''होना'' अपनापन से तथा अपने आप से ही बिना किसी दूसरी प्रेरणा के हुआ-हुआ कर्म इत्यादि। इसी प्रकार यह जो जगत् की मूल प्रकृति, इसका भी यही तात्पर्य है कि किसी भी दूसरी जानी बूझी, प्रेरणा के बिना ही स्वयं अपने भाव से ही करती कराती, चलती चलाती सारे जगत् में एक व्यक्ति से लेकर अनन्त व्यक्तियों में उत्पन्न करना, स्थित रखना और मारना या नाश करना रूप कार्य कर रही है। यही प्रकर्ष अर्थात् स्वयं में अपने आप करने की प्रवृत्ति यही स्वाभाविक बन्धन है, जो कि एक व्यक्ति में भी सत्त्व, रज, तम रूप से बुद्धि, अहंकार और दस इन्द्रियाँ, मन और शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध यह

पाँच तन्मात्राएँ और इन के द्वारा पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँच भूतों को उपजाती हुई सकल (१) अण्डज (२) जरायुज (जेरज़) (३) स्वेदज (४) उद्भिज।

(१) अण्डज वह है जो कि अण्डों से उत्पन्न होते हैं और आकाश में उड़ने वाले सभी पक्षी अण्डज कहलाते हैं।

(२) दूसरे जेर से उत्पन्न होने वाले हैं। मनुष्य और पशु इसी श्रेणी में आते हैं।

(३) तीसरे जो स्वेदज हैं वह पसीने से उत्पन्न होते हैं जैसे कि जूँ आदि।

(४) चौथे उद्भिज हैं जो कि पृथ्वी से उत्पन्न होने वाले हैं, जैसे वृक्ष आदि। सभी प्रकार की वनस्पति इसी श्रेणी में सम्मिलित है। चार प्रकार की सृष्टि को उत्पन्न करती है और फिर स्थित करके अन्त में विनाश करती हुई सदा बहती रहती है। जिस व्यक्ति के कर्म बिना उसके बहुत सोचे विचारे दुःख सुख देने वाले बन जाते हैं, उनको भी लोग यह कह देते हैं कि इसकी तो ऐसी ही प्रकृति है। इसका ऐसा ही स्वभाव है। इस बेचारे के वश की है ही नहीं। इस सारे का तात्पर्य यह है कि बिना किसी के वश के अपने आप को करने कराने वाली शक्ति वही एक में, व सब जगत् में प्रकृति कही जाती है। जो सब जगत् का काम चलाने वाली है उसका नाम परा-प्रकृति है। इसको ग्रन्थों में अव्यक्त भी कहते हैं। जो एक व्यक्ति में या छोटी मोटी वस्तुओं में है या कार्य रूप है, वह अपरा है।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

卐 धर्म 卐

(Right Faith, Noble Religious way of life)

साधारण भाव से धर्म शब्द का अर्थ यह है कि अपने आप को नाना प्रकार के दोषों में बहते हुए समझता हुआ सब दोषों से अपने आपको बचाता हुआ चले। काम, क्रोध, अहंकार, आदि-आदि कई प्रकार के मिथ्या कर्म करवाने में मनुष्य को धकेलते हैं; परन्तु उन की प्रेरणा से प्रायः मनुष्य उधर बह भी जाता है और पीछे महादुःखी भी होता है। ऐसी अवस्था में जो कोई व्यक्ति अपने मन में जागता हुआ और बुद्धि को उपस्थित रखता हुआ उन प्रकृति के धक्के से अपने आपको बचाता, समझाता या उधर उन में अपने आपको बह जाने से सम्भालता हुआ या अपने आप को धारण करता हुआ सम्भल-सम्भल कर चलता है, बस ! यह सब मार्ग धर्म का ही है। सरल (सादे) भाव में धर्म शब्द का तात्पर्य (अभिप्राय) है कि अपने आपको धार-धार के चलना, न की बुराईयों के धक्कों से ऐसे मार्ग पर चल पड़ना जिससे कि पीछे पश्चात्ताप (पछतावा) में रो-रो कर समय बिताना (व्यतीत करना) पड़े, जैसे कि मिथ्या तृष्णा के कारण अधिक या विपरीत भोजन जो कि अपने स्वास्थ्य के विपरीत हो, तो उसका सेवन करना, थोड़े आवेश से क्रोध का वचन बोलना और नाना प्रकार के मिथ्या क्रोध, अहंकार आदि मन के भावों में बहते रहना इत्यादि-इत्यादि इन सब प्रकार के दोषों से अपने मन को धार-धार कर सम्भाल-सम्भाल कर चलाना,

ऐसे और भी मन में बहने वाले मिथ्या विकार और भाव भी हैं उन सबसे अपने मन को धार-धार कर सही मार्ग पर चलाना, यही धर्म का साधारण अर्थ है। ऐसा धर्म का मार्ग धारण करता हुआ मनुष्य एक दिन सब बुराईयों से और दुःखों से अर्थात् राग, द्वेष आदि सब बन्धनों से मुक्त होकर सदा बनी रहने वाली सुख और शान्ति को जीवन काल में ही पा सकेगा। और अन्त में नित्य सदा आनन्द रूप सबका आत्मा रूप परब्रह्म उसमें भी स्थित होकर सनातन शान्ति को पाएगा। निर्वाण शब्द की व्याख्या पूर्ण रीति से पीछे कही जा चुकी है।

धर्म नाम है धारण करने का, जैसे कि मनुष्य को जो कुछ अपने जीवन में अपनी भलाई के लिए अर्थात् अपने कल्याण के लिए या अन्तिम भले के लिए व सनातन (सदा बने रहने वाला) सुख के लिए जो कुछ भी देह इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि द्वारा करने योग्य है उसको ही करना और वैसे ही अपने जीवन को संसार में धारण करना। इसका नाम है धर्म अर्थात् वह मार्ग जो कि परमेश्वर या परम पद तक पहुँचाने वाला है।

भावार्थ :-थोड़े में यह कह सकते हैं कि सब शुभ कर्मों को करना और सब अशुभ कर्मों को छोड़ना और मन को पवित्र रखने के लिए अपने विचार को सदा जगाते रहना या प्रदीप्त करते रहना, इसी का नाम धर्म है। इससे सब बन्धनों से रहित होने का यत्न करना और सब वैराग्य, सन्तोष, तप, त्याग आदि गुणों को यथा शक्ति अपनाते जाना और मैत्र्यादि बल को बढ़ाते जाना

卐卐卐

इत्यादि सम्मिलित है। जैसे मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, क्षमा, शील, दान, वीर्य, ध्यान-समाधि एवं प्रज्ञा।

ऊपर कहे गये वाक्यों का सारांश यह है कि संसार में बंधा हुआ प्राणी जो कुछ भी इससे मुक्त होने के हेतु यत्न करेगा और यत्न करता हुआ इस भव बन्धन से मुक्त होकर अपने आप में सदा बने रहने वाली शान्ति को पायेगा और अपने शान्त आत्मा का साक्षात्कार करके अविद्यादि बन्धनों से मुक्त हुआ हुआ, सब जीवों के अन्दर उसी आत्मा को व्यापक ब्रह्म रूप से पहचान कर सब प्रकार की मित्र, वैरी आदि दृष्टियों से मुक्त होकर परमानन्द को प्राप्त होगा, उसी सब उपाय का नाम है ''धर्म''। चाहे वह बाह्य संसार में शुद्धाचार रूप कर्म हो व इन्द्रियों का संयम और मन को सब प्रकार से वशीकरण और बुद्धि की शुद्धि, ये सब धर्म नाम से कहे जाते हैं।

卐 तृष्णा 卐

(Insatiable Worldly Passion)

तृष्णा का अर्थ प्यास का (पियासा) ही है। जैसे जिस वस्तु से सुख होता है; सुख क्या है ? जो मन व सब इन्द्रियों को भाता है, जिसमें मन और इन्द्रियाँ अपने आप में अपनी स्थिति का अनुभव करती हैं। अपने आप में बढ़िया प्रतीत होती हैं। इससे उल्टा दुःख कहा जाता है। जिसमें इन्द्रियाँ और मन बुरी हालत में होते हैं। उस वस्तु को मन नहीं भूलता, क्योंकि सुख उसको चाहिए। सुख के निमित्त और सुख देने वाली वस्तु व पदार्थ एवं प्राणी इन्हीं को याद करता है अर्थात् चिन्तन उन्हीं का ही करता है। यह राग चित्त है। इसमें जो उस राग की वस्तु आदि का न होना है, वह उसे खटकता है या दुःख देता है। यही तृष्णा का दुःख है। यही तृष्णा ही दुःख की जड़ है। यदि यह तृष्णा न हो मन में, तो वह प्राणी आनन्द से निद्रा की अवस्था के समान अपने आप आनन्दित रहता है। जागते ही इन्द्रियों के बाहर प्रवृत्त होने पर, बस ! पदार्थों व प्राणियों की खोज होने लग जाती है, क्योंकि इन्हीं के सहारे पहले सुख हुआ है। इसलिए उसी सुख को पाने के लिए मन उनका न होना (अभाव) महसूस करके उन्हीं ही की कामना से उन्हीं की ही खोज में लगा हुआ न जाने क्या-क्या कर्म कर बैठता है, जो कि भविष्य के लिये उसी को अत्यन्त दुःख देने वाले भी बन सकते हैं। ऐसे ही कर्मों के चक्कर में न जाने किस-किस प्रकार

के जन्मों को प्राप्त होगा और ऐसे ही किसी को पुनः बाप बनाएगा, किसी को बेटा, किसी को मित्र, किसी को शत्रु, पुनः न जाने किन-किन भय तथा शंका में पड़ा-पड़ा सुख के स्थान पर दुःखों की श्रृँखला ही बनाएगा।

इस प्रकार जो दुःख देने वाली वस्तु है वह भी मन से नहीं उतरती और हर समय चित्त में बहती रहती है अर्थात् स्फुरित होती रहती है। मन उसको बार-बार टालने के लिये याद करता रहता है। टालने के उपायों को सोचता रहता है। इस प्रकार द्वेष से बन्धा हुआ बहता रहता है। आत्मा का ज्ञान या साक्षात्कार विघ्न बना रहता है। इससे भी न जाने संसार में मनुष्य क्या-क्या बनता जाता है या होता जाता है और क्या-क्या दूसरों को बनाता जाता है। कहीं झूठा, धोखेबाज, कहीं हिंसक इत्यादि-इत्यादि यह भी सब भव तृष्णा है। संसार में ही होने की या संसार में ही बने या बहते रहने की, यह सब तृष्णा का ही परिवार है।

सारांश यदि समझना हो तो यह जानना चाहिए कि सुख देने वाली वस्तु में या प्राणी में जो प्रीति, प्रेम या राग या उसी का चिन्तन मन में बहता रहता है यह राग रूप तृष्णा है। और दुःख देने वाली वस्तु या प्राणी, उसके प्रति उसको हटाने या दूर करने के लिए जो मन में द्वेष, घृणा और क्रोध आदि बहते रहते हैं और वह वस्तु याद से नहीं उतरती है, यह द्वेष रूप तृष्णा है। राग, द्वेष ये दोनों ही तृष्णा का रूप हैं। इन दोनों के होते हुए प्राणी या मनुष्य अपने आपको कहीं घाटे या टोटे में पाता है।

जैसे कि उसकी कोई वस्तु खोई हुई है और पाने की उसको चाह (प्यास) होती है। उसी का नाम "तृष्णा" है। इस चाह या पाने की प्यास में मनुष्य का मन और कहीं भी नहीं लगता, सिवाए उसको पाने को। इस मन के न लगने को अरति (मन का न लगना) कहते हैं। यह अरति तृष्णा के साथ ही बसी रहती है। तृष्णा की ही सखी है। अरति और तृष्णा दोनों मनुष्य को अकेले में आसन पर या ध्यान में टिकने नहीं देते और तृष्णा के पदार्थों के लिए संसार में ही ले जाते हैं। यह तृष्णा ही दुःख की जड़ है। इसको पहचानने का ही नाम अन्दर की दृष्टि है। इसको देखने के लिये अथवा पूर्णतः समझ कर पहचानने के लिये मन को न चाहने पर भी लगाए और जब काफी समय तृष्णा में ही मन लगे-लगे इसको पहचान गया और इसके दुःख को सह गया, तो सहते-सहते यह समाप्त होने लग जाएगा। ज्यों-ज्यों वह तृष्णा टलती जाएगी वैसे-वैसे दुःख भी कम होता जाएगा। दुःख कम होते-होते बिल्कुल पूर्णरूप से टल जाएगा। इसके टलते ही ज्ञान स्वरूप आत्मा जो कि इसी से ही ढका हुआ था, प्रकट हो जाएगा और प्रकट होते ही मन, पाने की वस्तु अपने में सुख स्वरूप से पाकर सदा के लिए सन्तुष्ट हो जाएगा। इससे उसे आनन्द रूप आत्मा प्रत्यक्ष रूप में मिल जाएगा और वह निर्भय हो जाएगा।

जब तक तृष्णा की वस्तु की याद मन में बनी रहती है, तब तक तो यह वस्तु की तृष्णा ही कही जाती है। परन्तु जब तृष्णा की वस्तु मन में याद न आए, और मन

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

कोई घाटा या अभाव महसूस करता है और जानने के लिए लपकता है कि किस वस्तु का अभाव होना महसूस हो रहा है ? ऐसी अवस्था में वह तृष्णा ही अविद्या की अवस्था में आत्मा पर ढक्कन (आवरण) डाले रखती है अर्थात् आत्मा को आनन्द रूप से प्रकट नहीं होने देती। इसी कारण से आत्मा के ज्ञान को तथा आनन्द को ढक करके मनुष्य को संसार में ही जानने के लिए और वस्तुओं को पाने के लिए और उनके सुख द्वारा अपने को सन्तुष्ट करने के लिए संसार में धकेलती है और सांसारिक वस्तुओं के संस्कारों को ही जगाती रहती है। उन्हीं की ओर उनके सुख को पाने के लिये कई प्रकार से प्रेरित करती रहती है। इसी से मनुष्य खोया-खोया अपने कर्तव्यों को भी नहीं समझता और सत्य को तो समझना दूर ही रहा अर्थात् तृष्णा ही अविद्या रूप हो जाती है। तृष्णा का ही परिवार काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, मत्सर (दूसरों के सुख को न सहना) इत्यादि सब विकार हैं, जोकि मनुष्य को ध्यान आदि में टिकने तक भी नहीं देते।

अपनी आत्मा को छोड़ बाह्य संसार में मन का भागना ही तृष्णा का स्वरूप है। पुंनः यदि मनुष्य इस संसार को भूल कर आत्मा में जागता हुआ प्रवेश पाना चाहे, तो मन का बाह्य जगत् छोड़ने को आनाकानी करना व बाह्य संसार भूलने और छोड़ने में दुःख मानना, या तृष्णा के राग और मोह आदि बन्धन इस मनुष्य को मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर नहीं होने देते। यदि ध्यान में बैठकर साधक (मुमुक्षु) इन बन्धनों को पहचाने और

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

समझने का यत्न करे कि पुनः मन मुक्ति को न चाहता हुआ और फिर क्या चाहता है ? और जो चाहता है, वह सदा बना रहेगा क्या ? तो मुमुक्षु साधक को सत्य का ज्ञान होकर प्रेरणा मिलेगी कि केवल बन्धन मिथ्या ही हैं। जब कि जगत् का सुख कभी भी सदा बना रहने का नहीं, तो इसे पुनः क्यों स्मरण किया जाए। इससे तृष्णा से मुक्ति पाने के लिए प्रेरणा मिलेगी। यदि विनाश रहित चेतन पर दृष्टि टिक गई और अविद्या चल बसी, तो यह तृष्णा मूल (जड़) सहित ही नष्ट हो जायेगी।

तृष्णा के बारे में जो कुछ भी प्रतिपादन किया गया है, इसका सारांश यह है कि प्राकृतिक स्वभाव से जीव का बहिर्मुख या संसार में इन्द्रियों का खुलना और सांसारिक विषयों का उपादान (ग्रहण) करना है और कारण रूप इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्बन्ध होने से जो सुख दुःख का प्रतीत व वेदन (महसूस) करना है; इसी कारण से मन से ये विषय कभी उतरते ही नहीं और इन्हीं विषयों से जो सुख दुःख का अनुभव किया जाता है उसी से मनुष्य अपनी "मैं" को प्रतीत करता है अर्थात् उन्हीं के संग से ही "मैं सुखी हूँ" व "मैं दुःखी हूँ", ऐसा अपना आपा पहचानता है। इसी कारण से इन्द्रियों का बाहर की ओर झुकाव सदा बना रहता है। क्योंकि इन्हीं के सहारे मनुष्य अपनी सत्ता या अस्तित्व (हस्ती) प्रतीत करके सदा इन्हीं के सहारे बाहर बना रहना चाहता है। जब इनको न समझे, तो ऐसा प्रतीत होता है कि "मैं ही खो गया"। 'मैं' रूप से उजड़ना कोई कभी भी नहीं

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

चाहता और "मैं" रूप से बना रहना ही चाहता है। इसलिए यही जो बाहर की तृष्णा अर्थात् सदा निरन्तर (लगातार) बाहर की ओर जगत् में ही बने रहने की प्यास व झुकाव व मन का बाहर ले जाने का बल, यही सब तृष्णा का स्वरूप है। इसमें जिससे सुख हुआ, उसमें रागरूप से यह सदा मन में बसी रहती है, उस पदार्थ का संग करने के लिए। जिस से दुःख हुआ, उस पदार्थ से छूटने के लिए भी उसकी स्मृति मन में बसी रहती है और उधर हटाव रूप का बल भी इस प्राणी को द्वेष रूप में बाँधे रखता है। यही तृष्णा का तत्त्व काम, क्रोध उपजाकर संसार में कई एक प्रकार से मनुष्य को बाँधता है। अब यदि इसे प्रकृति स्वभाव से चलने दिया जाए, तो इसका बल बढ़ता रहेगा। अपने आप तो यह ज्ञान व सत्य को पहचान में आने देगी नहीं। सब दुःखों की जड़ या मूल तो यही है। इसका विरोध करने से दुःख होता है। जो इसके दुःख में स्थिर रहकर इसके बारे में पूर्ण, इसको पूर्णतयाः तल (जड़) तक जाने और अपने आप को स्मृति द्वारा प्रेरित करे, तो इससे मुक्त होकर नित्य सुख पायेगा। परन्तु यदि इसके विरोध के दुःख से भयभीत हुआ, तो पुनः इसके बन्धन से छूटना कभी भी नहीं हो सकता।

मुक्ति
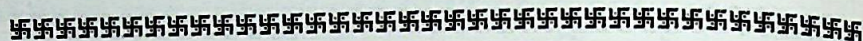
(Freedom From Wordly Bondage, Deliverance)

मुक्ति नाम है छुटकारे का। किस से छुटकारा ? सब प्रकार के बन्धनों से छुटकारा। मानसिक, बौद्धिक, ऐन्द्रियक एवं देह आदि के मिथ्या कर्मों से भी छुटकारा। जैसे कि तृष्णा के व मन आदि के तनाव में अवशीभूत हुआ प्राणी देह से भी विविध मिथ्या व पाप कर्मों को करके उन्हीं पापों के कारण पीछे (पश्चात्) दुःख रूप दण्ड को पाता है। इन सबसे छुटकारा पाकर अपने आप में या केवल आत्मा में ही स्थायी शान्ति प्राप्त करने का नाम है ''मुक्ति''।

थोड़े में ही इसका यह भाव है कि अविद्या से लेकर मान, मोह, राग एवं द्वेष इत्यादि दस बन्धनों से छुटकारा पाना और छुटकारा पाकर नित्य अपने आत्मा में होने वाले सुख का साक्षात्कार करना और तृष्णा के दुःख से सदैव काल के लिए छुटकारा पाना। मुक्त आत्मा (छूटी हुई आत्मा) का अपने आप में साक्षात्कार करके पुनः इसी शुद्ध चेतन रूप आत्मा को सबके अन्दर अनुभव करना। यही सबमें व्यापक है और इसके अतिरिक्त कोई सत्य नहीं और इसी को पुनः ब्रह्म का नाम दिया गया है या यही ब्रह्म रूप से समझी जाती है। इसी के साक्षात्कार का नाम ब्रह्म साक्षात्कार है।

संसार में रमण करने वाला प्राणी संसार के जीवों व पदार्थों के सहारे से ही सुख अनुभव करता है। यदि वह

卐卐卐

उस सुख को समय अनुसार वृद्ध अवस्था या रोग आदि द्वारा प्राप्त करने की शक्ति से रहित हो जाता है, तो उनकी तृष्णा इसे दुःख रूप में क्षण भर भी चैन या सुख लेने नहीं देती। उसी के दुःख से ही पुनः मृत्यु के पश्चात् भी उसे संसार में आना और भटकना पड़ता है। इससे जैसे प्राणी अपने सुख हेतु संसार की या अन्य किसी की दासता से मुक्त होकर कोई अन्य सहारा (अवलम्बन) नहीं खोजता। इसी प्रकार ऊपर कही मुक्ति पाने पर, अपनी आत्मा में ही सुख अनुभव करने पर, उसके निमित्त अपने दुःख की निवृत्ति के लिए पुनः संसार में नहीं आएगा, यही जन्म मरण से मुक्ति है।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

卐 अविद्या 卐

(Ignorance/Spiritual Nescience)

वस्तु के स्वरूप को ढकने वाली शक्ति का नाम "अविद्या" है। अपने आप में आनन्द स्वरूप जो आत्मा नित्य बना रहने वाला है उसके स्वरूप को ढकने वाली या प्रकट न होने देने वाली जो अन्दर जड़ शक्ति है उसका नाम अविद्या है। इसको अज्ञान भी कहते हैं अर्थात् ज्ञान के विपरीत शक्ति, जोकि ज्ञान हो जाने से तुरन्त हट जाती है या नष्ट हो जाती है। धार्मिक जन के लिए जैसे उसकी आत्मा या आत्मा का स्वरूप, आत्मा-अज्ञान से ढका हुआ है अर्थात् उसकी खबर नहीं पड़ रही है, इसी कारण से वह दुःखी हो रहा है। जब श्रवण करने से (आत्मा के बारे में सुनने से) व मनन, निदिध्यासन करने से (ध्यान इत्यादि) उसका साक्षात्कार हो गया तो उस प्रत्यक्ष ज्ञान से वह आत्मा को ढकने वाली शक्ति नष्ट हो जाती है। यही जो नष्ट हुई है, उसी का नाम "अविद्या" है। यह अनादि शक्ति है। संसार के आरम्भ से ही चेतन पर ढक्कन रूप से पड़ी हुई है। चेतन स्वरूप अर्थात् ज्ञान का स्वरूप जो कि अपना या सबके अन्तरात्मा का स्वरूप है, जिस के प्रकट होने से मनुष्य अपने आप को बसा हुआ या बना हुआ समझता है; उस चेतन स्वरूप पर या ज्ञान के स्वरूप पर पर्दा डाल कर यह अविद्या उस जीव का स्वरूप ढक लेती है। जिसके कारण से मनुष्य उसका स्वरूप पाने के लिये पुनः न

जाने क्या-क्या सोचता है। अभी अन्तरात्मा में इस आत्मा का शुद्ध चेतन आनन्द रूप प्रकट है नहीं, और शीघ्र होता भी नहीं, तो आनन्द रूप को पाने के लिये कोई छोटा-मोटा साधन संसार के ढंग का विचार कर मनुष्य उस के पीछे भागता रहता है। सुख रूप से यदि उसे अपना आपा प्रकट हो जाए तो वह समझता है कि 'मैं बना, बसा बैठा हूँ'। तो जिस सुख वाली आत्मा को पाने के लिये तड़फता है यदि उस अपनी आत्मा का सुख केवल अपने आप में ही प्रकट हो गया, तो पुनः उसका संसार में किसी सुख की तरफ जाने का भाव नहीं रहेगा। और जब तक यह प्रकट नहीं हुआ तब तक तो वह सुख वाली आत्मा को पाने के लिये तड़फता है और सुख वाली आत्मा तो संसार के साधनों से थोड़ी देर के लिये प्रकट हो जाती है परन्तु वह सदा बनी नहीं रहती। तो एक के पश्चात् दूसरे साधनों में संसार में ही उसे सुख रूप से खोजना पड़ता है। अपने आप में सुख रूप प्रकट नहीं होता। यह सुख रूप अविद्या ने ही ढक रखा है। यदि इस आत्मा के स्वरूप को ढकने वाली अविद्या को अन्दर अपने आप में इसी अविद्या को पहचान कर और इसी का साक्षी रूप से दर्शन करता हुआ क्षण-क्षण टालता जाए तो एक दिन यह जड़ मूल से टल कर आत्मा के आनन्द को ढकने योग्य नहीं रहेगी। आत्मा का स्वरूप सदैव काल के लिये आनन्द रूप से प्रकट रहेगा या आनन्द रूप में अनुभव में आता रहेगा। ऐसी अवस्था में कभी भी मनुष्य को उस आनन्द को पाने के लिये संसार के किसी

卐卐

भी साधन की याद तक भी नहीं आएगी। यही संसार से सदा के लिये मुक्ति समझी जाएगी। इसी चेतन के विद्या रूपी ज्ञान से जो कि साक्षात् साधक के मन में उत्पन्न होता है उससे टल जाती है और हमेशा के लिए नष्ट हो जाती है। यही अविद्या से मुक्ति है। यही अविद्या की मुक्ति से चेतन आनन्द रूप से अपने आप में प्रकट हो जाता है, तो संसार में साधक को जाने व उत्पन्न होने की इच्छा ही नहीं रहती। जब तक यह चेतन प्रकट नहीं हुआ तो समझो अविद्या से ढका हुआ है। पत्थर जैसा पड़ा है। इसी अविद्या के कारण अपने स्वरूप को जानने के लिए तड़फता है। उस आत्मा का अपना आनन्द तो प्रकट होता नहीं। तो वह इन्द्रियों द्वारा अथवा मन द्वारा बाह्य विषयों से सुख प्रकट करके थोड़े समय के लिये सुख वाली अपनी 'मैं' पाता है। यह 'मैं' सदा एक जैसी बनी नहीं रहती। इस 'मैं' के लिये पुनः इसे संसार में ही बहते रहना पड़ता है। इसी का नाम मरना व जन्मना है। जब आत्मा (चेतन) पर से यह अज्ञान रूप या अविद्या रूप ढक्कन उठ जाए, तो वह आनन्द रूप सदा प्रकट रहता है। वह मनुष्य पत्थर जैसे जड़, अपने को नहीं समझता और आनन्द रूप में मग्न किसी भी इन्द्रियों के विषयों के व मन के सुख को पाने व दुःख को टालने के लिए मिथ्या रूप से खिन्न व दुःखी नहीं होता। अन्त में सार रूप से विद्या का स्वरूप इस आत्मा या चेतन के प्रत्यक्ष साक्षात् ज्ञान का है और अविद्या का स्वरूप इसी चेतन का शक्ति रूप से ढकने का है। विद्या द्वारा यह अविद्या नष्ट हो

जाती है और इससे सदा के लिए मुक्ति मिल जाती है। और मुक्त आत्मा सदा के लिए अपने अ।५ में (आत्मा में) कृत्य (जो करना था वह कर लिया) हो जाता है। उसको फिर पाने की कोई वस्तु नहीं सूझती। वह अपने में सदैव सन्तुष्ट हो जाता है। यह सब विद्या का महत्त्व है। जोकि अविद्या रूप ब्रह्म को ढकने की शक्ति है, वह ब्रह्म का साक्षात्कार करने से नष्ट हो जाएगी। आत्मा का ही विस्तार रूप से सर्वत्र अनुभव करना ही ब्रह्म का साक्षात्कार है।

इसी अविद्या के कारण से ही मान, मोह, राग, द्वेष, संशय आदि सब बन्धन बाँधने वाले मनुष्य को पीड़ित करते हैं। अब साधन द्वारा प्रकट अपने आप में इन बन्धनों को पहचान कर छोड़ने के लिए उत्साहित होना और अन्त में अविद्या रूपी बन्धन को भी छोड़ देना, यही मुक्ति रूप परम पद की प्राप्ति है। इन्हीं बन्धनों से बंधा हुआ प्राणी बद्ध (बंधा हुआ) कहा जाता है। इसी से छूट जाए, तो छूटा हुआ (मुक्त) कहा जाता है।

अविद्या नाम अन्धकार का है। जब अविद्या मन में बहती है तो किसी वस्तु को जानने के लिये ही बहती है। जानना उसका है कि जहाँ इस व्यक्ति को सुख का अनुभव हो। सुख का अनुभव हो, तो व्यक्ति को अपने आप के बसे (बने) रहने का अनुभव होता रहता है। जब यह मन अड़चन में पड़ जाता है या अनुभव में नहीं आता तो सुख रूप या सुख वाली 'मैं' खोई-खोई सी रहती है। बस ! इसी 'मैं' की खोज करता हुआ प्राणी अन्धकार की

अवस्था अपने आप में अनुभव करता है। यही अविद्या का स्वरूप है कि जिस सुख का अनुभव करना है, वह खोया हुआ, छुपा हुआ या ढका हुआ सा है। बस जब इसी की खोज बहती रहती है तो वही अज्ञान या अविद्या की अवस्था है। अब इस अविद्या ने कई पुराने संस्कार जगा कर सुख देने वाली वस्तु को याद कराना है या सुख देने वाले कोई भी कर्म को प्रकट करवा के उसी की इच्छा करवा कर, उस सुख को प्राप्त करने के लिये धक्का देना है; और वह सुख तो संसार का ही होना है और सांसारिक साधन से ही मिलना है। संसार के ढंग से संयोग से मिलना है। तो बस ! इस अविद्या ने किसी भी प्राणी को संसार में ही बहाते रखना है अर्थात् जन्माना है और पुनः मरवाना है, और जब तक जीवन है तो उसी की वस्तुओं को और उसी जीवन के ही सम्बन्धियों से सुख प्रकट करवा-करवा कर संसार में 'मैं' को रखे रखना है। इसी प्रकार संसार में ही यह जन्म मरण के प्रवाह की दिशा है।

अब जो व्यक्ति इस अविद्या के बहने पर और इसके धक्कों में बुद्धि जगा कर उस संसार के सब प्रकार के सुख को अनित्य अर्थात् सदा न रहने वाला समझ कर और अन्त में दुःख रूप में समाप्त होने वाला पहचान गया, तो वह उन अविद्या के सांसारिक सुख को पाने के या उसकी दिशा में बहाने के अविद्या के धक्कों को पहचान गया; उन में बहने के दुःख को अपने मन में अनुभव करता हुआ और उनके सुखों की अनित्यता और

तुच्छता समझता हुआ धैर्य को रख कर उन धक्कों के प्रवाह में न बह पाया और ज्ञान जगा कर उनके बिछोड़े के दुःख को भी बुद्धि जगा कर सहन कर सका और धैर्य रखा और धैर्य से टिके-टिके उस बहती हुई अविद्या की धार को बहते हुए पानी के प्रवाह के समान अविद्या को भी बहता हुआ पहचान कर अपने आप में टिका रहा; उस अविद्या के प्रवाह में बह कर सांसारिक कोई भी पुराने संस्कारों के सुख की इच्छा को भी दुःखदाई तुच्छ समझ कर अपने आप में देखने वाला द्रष्टा रूप से धैर्य से टिका रहा, तो समय पाकर यह अविद्या जब संसार में पटकने की भूख धीरे-धीरे क्षीण होती जाएगी और क्षीण होकर अन्त में अत्यन्त टल जाएगी; इसके टलते ही चेतन स्वरूप ज्ञान आत्मा या अपना आपा आनन्द रूप से प्रकट होने लगेगा। आनन्द के प्रकट अनुभव में आने पर संसार का या संसार के किसी भी सुख का या किसी भी वस्तु या व्यक्ति के संग की इच्छा तक प्रकट नहीं होगी और जो प्रकट हुई-हुई अपनी आत्मा का आनन्द है वह कभी भी समाप्त होने का नहीं है; क्योंकि वह आत्मा का सुख किसी दूसरी वस्तु या किसी भी दूसरे के संग से तो हुआ नहीं। केवल सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने पर या छूटने पर ही प्रकट हुआ है। इसी लिये यह सदा बने रहने वाला ही अनुभव में आएगा और इसके अनुभव में आने पर किसी वस्तु की खोज तक भी नहीं रहेगी और न किसी वस्तु को जानने या पाने की आवश्यकता रहेगी; क्योंकि आनन्द के लिये ही उन वस्तुओं के या सम्बन्धियों

के पीछे-पीछे भागते थे। जब यह ज्ञान हो गया कि इन सब वस्तुओं का या सम्बन्धियों का सदा आनन्द बने रहने वाला है नहीं, प्रत्युत (वरण) सब दुःखों को ही अन्त में देने वाला है तो पुनः इन सुखों के पीछे-पीछे कौन भागेगा? और सुख भी जब अपनी आत्मा में ही सदा बने रहने वाला मिल गया तो उनकी याद भी कैसे आएगी ? और करेगा भी कौन ? बस ! ऐसी अवस्था में ही अविद्या अपने सब धक्कों के सहित टली हुई समझी जाएगी। जब कोई खोज ही नहीं रही और खोज का मन भी बहने से रुक गया तो अविद्या का नामोनिशान ही नहीं रहा। ऐसी अवस्था की तृप्ति किसी काल में भी समाप्त होने वाली नहीं है। इसी लिये अनन्त है, परम पद रूप है, परम निर्वाण है और परम मुक्ति स्वरूप से समझी जाती है।

किसी चीज के बारे में भी जब उस को जानने की प्रेरणा या मन में उत्कंठा (इच्छा) रहती है, तो समझना चाहिए कि जिस को जानना है वह अविद्या से ढका है। ऐसी हालत में अविद्या भी पुनः उस वस्तु को जानने के लिए मन को परेशान करती रहती है। इस अविद्या को टाल कर मन को सुखी बनाने के लिए इस वेग को सहन करता जाए और इतना मन में विचार द्वारा धैर्य बनाए रखे कि वहाँ जानने की कोई वस्तु ही नहीं है। यह अविद्या अपने आप ही अपने तनाव के सहित धीरे-धीरे नष्ट हो जाएगी और इससे मुक्त हुआ मन सुख पाएगा। इसको किसी दूसरी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करके नष्ट करने की आवश्यकता नहीं। समझ लिया कि जिस वस्तु

को मन समझने के लिए उत्सुक हो रहा है या अविद्या से ढका हुआ है, उस वस्तु को जानने की कोई जरूरत ही नहीं है। क्योंकि वह किसी भय से ही उसको जान कर छोड़ने के लिए उत्सुक है और बाकी अपना स्वरूप ही स्वरूप है। इस अविद्या को, साक्षी रूप रह कर धीरे-धीरे टाल देना चाहिए। अविद्या के टलते ही वह अपना ज्ञान रूप आत्मा आनन्द रूप से प्रकट हो जाएगा। ऐसे अविद्या ही सर्वत्र बहुत परेशान करती रहती है। इसको व्यर्थ समझ कर इसके तनाव को सहन करते-करते टाल देना चाहिए। जैसे मनुष्य खुजली को बिना यत्न के मिटाए उसका दुःख सहन करते टाल देता है अर्थात् यह नहीं कि खुजली वाले स्थान को रगड़-रगड़ कर उसकी खुजली मिटाए; परन्तु उस खुजली के दुःख को धैर्य रख कर सहन करता जाए तो समय आने पर वह खुजली अपने आप ही मिट जाएगी और रगड़ कर मिटाने का मन ही नहीं रहेगा। इसी प्रकार इस अविद्या का दुःख सहन करते-करते टाल देना चाहिए। अविद्या का दुःख यही है, यह कहती है कि जानो, कि कहीं दुःख देने वाली चीज तो नहीं ? यह कहीं सुख देने वाली वस्तु खो तो नहीं रही ? बस ! इस जानने के चक्कर में उलझाए रखती है और संसार में ही जानने की वस्तुओं में फँसाए रखती है। इस से छुट्टी पाने नहीं देती। छुट्टी पाने का नाम ''मुक्ति'' है। तब केवल इतना ही समझ ले कि जानने का तो केवल, इस अविद्या से, और इसके परिवार रूप सब बन्धनों से छूटा हुआ या मुक्त हुआ-हुआ अपना

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

'आपा' या आत्मा ही है। जब यह छूटा हुआ समझ में आ जाएगा तो यही सब जीवों में शुद्ध परमात्मा रूप से भी देखा जाएगा; तो यह आनन्द रूप से भी प्रकट होगा। अविद्या का तनाव नहीं रहेगा जोकि आनन्द रूप को ढकने वाली है। जब अविद्या होती है, तभी आनन्द रूप ढकता है। जब अविद्या खुजली के उदाहरण के तरह ही देखते-देखते साक्षी रूप से सहन करते-करते क्रमशः धीरे-धीरे खुजली के समान ही मिट गई, तो जैसे खुजली के स्थान पर सुख हो जाता है, ऐसे ही साक्षी रूप से अविद्या को देखते-देखते टल जाने पर आत्मा में सुख प्रकट होकर साधक सदा के लिए आनन्दित हो जाता है। यही सब विद्या अविद्या का वृत्तान्त है। इसको ध्यान में बैठ कर और थोड़ा नींद को जीत कर और स्वयं अपने अन्दर के चक्षु द्वारा साक्षात् प्रकट रूप से देखे पहचाने और पहचान कर इस अविद्या को क्रमशः सजग (जागरूक) रह कर टालता जाए। टालते-टालते जब अविद्या पूर्ण रूप से टल जाएगी तो आत्मा का ज्ञान स्वरूप आनन्द के साथ प्रकट हो जाएगा। अविद्या का स्वभाव है कि सांसारिक सुख वाली 'मैं' को पाने के लिये खोज करना। उस खोज में बहना ही अविद्या का स्वरूप है। जब उसकी खोज का तनाव शान्त हो जाए तब आत्मा का आनन्द प्रकट होगा। अविद्या के सांसारिक सुख के खोज के तनाव को दूर करने के लिये मनुष्य को अपने अन्दर जागरूक होकर विवेक, ज्ञान उपजाना पड़ेगा। जो सुख अविद्या खोज रही है, वह अन्यत्र

(दूसरी जगह) ही होगा। सदा बने रहने वाला तो होगा नहीं; तो मैं इस सुख की खोज में न पड़कर अविद्या को ही टालने के लिये साक्षी रूप से स्थिर रहूँ और इस बहती हुई अविद्या के प्रवाह को देखता जाऊँ; देखते-देखते जबकि इसके रास्ते पर तो पड़ना नहीं; अन्यथा जिस वस्तु या सुख के लिये किसी भी पदार्थ के सुख की याद दिला कर उसकी इच्छा करवा कर उसकी प्राप्ति का यत्न करवा कर व्यर्थ संसार में ही घसीटती रहेगी; क्योंकि वह सुख सदा संसार का तो रहना नहीं, इसलिये मैं अविद्या की दासता ला करके और इसके अनुकूल किसी सांसारिक चक्कर में न पड़ कर इसी अविद्या को, जो अन्दर का ज्ञान साक्षी रूप से पहचान रहा है, उसी में स्थिर रहूँ। जब अविद्या की खींच नहीं रहेगी, उसकी खींच का बल समाप्त हो जाएगा तो आत्मा का ज्ञान रूप आनन्द प्रकट हो जाएगा। उसका मन अनुभव करके पुनः संसार की किसी वस्तु की याद तक भी नहीं करेगा। यही मुक्ति का अनुभव है।

इसी विषय में थोड़ा विचार में रखना पड़ता है कि यदि अविद्या के धक्के के अनुसार मनुष्य उसी तरफ बहता जाए तो यह अविद्या इतना बल पकड़ जाती है कि झट-पट संसार की वस्तु की या किसी प्राणी की और उनसे होने वाले सुख की याद करवा-करवा कर उधर ही धकेलती रहती है। बस ! यह अविद्या का धक्का तब तक ही बल रखता है जब तक प्राणी या किसी भी जीव का मन उस सुख की तृष्णा के प्रवाह में बहता रहे और यदि

वह विवेक और ज्ञान जगा कर उस तृष्णा के सुख की तुच्छता मन में बसा ले और उस ध्यान द्वारा अनुभव करके उस सुख के सदा न बने रहने के सत्य को भी परख (परीक्षा) ले और अन्त में इसी सुख के विपरीत (विरुद्ध) प्राप्त होने वाले दुःख का भी मनोमन अनुभव करे तो तृष्णा के रास्ते पर बहने का मन अत्यन्त बुझ जाएगा और इसके बुझते ही तृष्णा का बल अत्यन्त क्षीण हो जाएगा और बल क्षीण होते ही जहाँ कि पहले तृष्णा के बल का धक्का प्रतीत होता था वहाँ अपने अन्तरात्मा का आनन्द प्रकट हो जाएगा। आनन्द को पाकर साधक कृत-कृत्य हो जाएगा अर्थात् कुछ भी उसको करने का नहीं रहेगा और अपने अमृत स्वरूप में सदा टिका रहेगा और अन्दर के प्रीति पूर्वक आनन्द में स्थिर रहेगा। यही परम पद है। अविद्या की कई शाखाएँ हैं। जब भी कहीं मन किसी वस्तु के बारे समझने व जानने के लिए उत्सुक होता है, तो समझना चाहिए कि उसके अन्दर अविद्या ही तनाव पैदा करती है और मनुष्य का ज्ञान जो कि चेतन स्वरूप सर्व व्यापक है, उसको ढक लेती है। उससे उस का सुख भी ढक जाता है। सुख और ज्ञान ढकने से वह सुख और ज्ञान के लिए उतावला हुआ-हुआ झटपट (शीघ्र ही) ज्ञान व सुख पाने के लिए नाना प्रकार के पुराने संस्कारों को जगाता है। ये संस्कार उसके समीप (नजदीक) ही बैठे रहते हैं। इनको जगाकर वह ज्ञान पा जाता है और उससे अपने आप को महसूस करके पुनः पुराने सुखों की कामना करने लग जाता है। और उन

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

सुखों को पाने के लिए पुनः संसार में ही बह जाता है। यदि इस अवस्था में अन्दर ही चेतन का ज्ञान प्रकट हो जाए, तो पुनः संसार में क्यों भटकना पड़े, जिसका कि सुख क्षणिक है ? परन्तु यदि ऐसा अन्दर का सुख पाना है, तो जब अविद्या के प्रकार (भेद) किसी भी चीज को जानने के लिए उकसाते हैं और उनका सुख पाने के लिए कर्म भूमि की ओर प्रेरित करते हैं, तो ध्यान द्वारा इनकी तुच्छता की ओर अनन्त दुःख (न समाप्त होने वाला) का पता ध्यान में चिन्तन करता हुआ और प्रकट रूप से बुद्धि में महसूस करता हुआ और इनसे भय को प्रत्यक्ष रूप से महसूस करे। इस अविद्या को जो कि उनकी याद दिलाती है, धीरे-धीरे खुजली के उदाहरण के समान ही इसका दुःख अनुभव करते हुए टालता जाए न कि इसकी भावनाओं में बहता जाए। इस अविद्या के बहाव या प्रवाह में बहते रहने से कई प्रकार की बाहर के सुख की कामना होगी। कई कर्म करने के लिये प्रेरणा होगी और उसी प्रकार संसार के प्रवाह जो कि दुःख रूप हैं उसी में बहता रहने का भाव बना रहेगा। अर्थात् जो वस्तु जानने के लिये तनाव है, वही दुःख रूप है उसको सहन करते-करते खुजली के समान ही समाप्त कर दो। उस दुःख को खाली देखते जाना और जो उस दुःख में मन के भाव, इच्छा, चिढ़ संशय, परेशानी इत्यादि हो, उन को टालते जाना और देखते-देखते ही इन को बिना ही अन्तरात्मा में बोले चाले समाप्त कर देना और जिस ओर इनके प्रवाह की प्रेरणा हो उसमें अन्त में दुःख का

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

विवेक जगाकर अपने आप को सम्भाले रखना; उनके अनुसार कुछ करने को प्रवृत्त न होकर केवल साक्षी भाव में ही या द्रष्टा रूप में ही टिके रहना। अब यह अपने आप ही समय पर टलते जाएँगे। यदि उन अविद्या के परिवार की वस्तुओं के बारे में कुछ जानने के लिये या उनको समझने के लिये तथा उनका सुख पाने के लिये यदि जानने की इच्छा का तनाव ज्यादा हो, तो विवेक के शब्दों द्वारा चिन्तन जगाकर अपने धैर्य को दुःख में खोने नहीं देना। जैसे खुजली की हालत में इसको खुजला कर मिटाने की इच्छा होने पर यदि पुनः इस इच्छा का विरोध किया जाये तो मन भावाविष्ट होकर चिढ़ भी सकता है कि इस दुःख को क्यों मिटा नहीं रहा ? अपने आप को ही कोसना इत्यादि-इत्यादि भाव पैदा होते हैं। इन सबको विचारता हुआ भी मनुष्य धैर्य द्वारा डटा हुआ खुजली न करता हुआ उसको देखते-देखते शान्त कर देता है। वह तो मिटने ही वाली है, केवल धैर्य की ही आवश्यकता है। इस धैर्य को चाहे विचार द्वारा, चाहे बिना विचार के केवल चुप्पी के साथ रखता हुआ खुजली को अतीत कर दे, तो उस खुजली के स्थान पर सुख का अनुभव होगा। इसी प्रकार अविद्या चाहे किसी भी वस्तु को जानने के लिए प्रेरणा करे, तो इस जानने की इच्छा को भी खुजली के समान ही धैर्य रखता हुआ दुःख में बसा हुआ अर्थात् स्थिर रह कर व्यतीत कर दे। ये इच्छाएँ भी खुजली के समान ही टल जाएँगी और टलते ही जैसे खुजली के टलने से सुख होता है, ऐसे ही इनके

टलने से अन्दर सुख आनन्द रूप चेतन प्रकट हो जायेगा। यह बिना किसी उपाधि के सुख है और बिना बाहर के कारण का अन्दर का सुख है। बहुत अधिक करके इसका चिन्तन भी आत्मा के सुख का बाधक है। इतना समझना तो आवश्यक है कि ज्ञान रूप आत्मा का अभाव (न होना) कभी भी नहीं। यह समझ कर पुनः चिन्तन भी बन्द कर देना चाहिए और मौन मन से रह कर चिन्तन त्याग का दुःख और समझते रहने की बुद्धि की प्रेरणा को भी खुजली के समान ही सहन करके टाल देना चाहिए। इससे निर्विकल्प आत्मा का सुख प्रकट होगा। जिसमें मनुष्य सदा बना रह सकता है। यह आत्मा का साक्षात्कार का सुख भी कहा जा सकता है। यह ही सुख रूप आत्मा जो प्रकट हुआ है, इसी को ही साधक सब में समझे तथा पहचाने, यह केवल मेरा ही स्वरूप नहीं है परन्तु सब में समान रूप से है। मुझे तो केवल अविद्या की उपाधि टलने से प्रकट अनुभव में आ गया है, परन्तु दूसरों के अन्दर भी है; परन्तु उनकी उपाधि न टलने के कारण प्रकट रूप में नहीं है; छुपा हुआ है, पर है समान रूप से ही। इसी लिये इसी को ही सब में देखे या समझे, किसी अन्य रूप की दृष्टि (नजर) न बनाए। दूसरी दृष्टि क्यों बनाए ? दूसरी दृष्टि बनायेगा तो मित्र वैरी ही नजर आएँगे, तो उससे प्रेम और वैर ही होगा। वह साधक इसी आनन्द रूप से प्रकट हुए नन्द लाल को ही सब में देखे और संयम युक्त हो, सब से शील रख करके सही व्यवहार करे। स्मृति में रहे और वीर्य द्वारा

क्रोध आदि को शान्त करता रहे। यही उसका आध्यात्मिक जीवन हो जाए। सारांश यह है कि एकान्त में बैठे या बसे हुए जन के मन में यह अविद्या संसार के बारे में ही कुछ न कुछ जानने के लिये ही उकसाती रहती है। जैसे कि उसको कुछ न कुछ इसकी खबर पाने के लिए मन लालायित रहता है। तो ऐसी अवस्था में समझना कि सब जगह या सबके अन्दर सत् चित् आनन्द रूप आत्मा ही है। यही आत्मा आनन्द रूप से प्रकट हो जाए तो सब जगह यही नन्द लाल रूप है। और वह तो सब के अन्दर ही बसा हुआ है। पर क्योंकि ढका हुआ है, इसलिए सारे चींटी से मनुष्य तक प्राणी उसको पाने के लिए हल्ला गुल्ला कर रहे हैं। क्या सुनना व क्या देखना? सुनने और देखने से क्या मिलेगा ? दूसरों के बारे में कुछ भी मन में जानने से भी क्या मिलेगा ? कुछ भी हो, इसके जानने की प्रेरणा। बस ! इसको खुजली के समान ही धैर्य से सहन करते-करते समाप्त कर दे। समाप्त होते ही, नन्द लाल मिल जायेंगे। जिनके लिए संसार तड़फ रहा है और मन भी अविद्या या अज्ञान के कारण से उनकी ओर जा रहा है या कुछ शंका समझ करके या डर के कारण से उनसे भय समझ कर कुछ जान कर टालने के लिए या कर्तव्य सम्बन्धी (या करने योग्य) करने की समझ के लिए उनको जानने के लिये भागता है। यही सब अविद्या का परिवार है। निर्भीक मनुष्य अपने आप में बना रहे और इन बन्धनों के सारे तनाव को सहन करके खुजली के समान समाप्त कर दे।

卐卐

इसके बारे में कुछ पाने और टालने का भी, कुछ समझने का भी नहीं है। इसलिए सारी समझने की इच्छा टलेगी, तो समझो कि अविद्या खुजली के समान ही अपने आप में दम घुट कर मर गई। अविद्या के टलते ही नन्द लाल आनन्द रूप भगवान् प्रकट हो जायेगा। इसमें मान, मोह भी रास्ते में अड़चन डालते हैं और सोचों में डाल देते हैं। इनकी सोच भी विवेक द्वारा दूर करता हुआ और इनके तनाव को भी सहन करता हुआ किसी प्रकार की जानने की इच्छा को भी टालता जाए। जब सब इच्छा टल जाएगी, तो भगवान् प्रकट हो गया। ऐसा प्रतीत हुआ कि जानने का कुछ है ही नहीं। मैं काहे को बाहर को लपकूँ ? इससे मन, बुद्धि इन्द्रियाँ व देह इत्यादि हलके हो जाऐंगे और हलके मन में भगवान् नन्द लाल प्रकट हो जायेंगे। यह सब अविद्या और उसके बन्धनों के समाप्त करने का वृत्तान्त है।

आत्मा के बारे में, व परमात्मा के बारे में विचार केवल बाह्य बन्धनों को टालने के लिये ही है। जब विचार द्वारा बन्धन, बुद्धि से टाल दिये तो पुनः बाद में बिना विचार के भी मन को शान्त टिकाये और टिके मन में आत्मा का सुख अनुभव होगा और इसी आत्मा को समान रूप से सबमें अनुभव करता हुआ परमात्मा या ब्रह्म को प्राप्त होगा।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

卐 विद्या 卐

(Practical Wisdom or Right Knowledge)

किसी वस्तु को भी मन बुद्धि द्वारा समझना कि 'यह वस्तु यह है' इस का नाम "विद्या" है। इसी प्रकार जो अन्तरात्मा ज्ञान विज्ञान रूप से सब में वर्तमान है, उसको उसी रूप में (ज्ञान विज्ञान रूप से) पहचान लेना यह परम विद्या है। इसी प्रकार संसार में विषयों को सुख रूप से जो मनुष्य समझते हैं, वह तो मिथ्या ज्ञान है। परन्तु उनको दुःख रूप समझना या अनुभव करना, यह भी 'विद्या' है। इसका सारांश (सारे का सार) यह है कि जो पहले छुपी हुई वस्तु होती है, वह अविद्या से ढकी है। जब वह प्रकट ज्ञान द्वारा "जैसी है वैसी" जानने में आ जाए, तो इसका नाम विद्या है।

प्राणी संसार में अविद्या से आछन्न (ढका हुआ) उत्पन्न होता है। कुछ वह संसार के बारे में माता पितादि गुरुओं से सीखता है। वह भी संसार की विद्या ही है। कुछ पुनः स्कूल कालेजों में अध्यापकों द्वारा विद्या रूप से पाता है। वह सारा केवल संसार का ही ज्ञान है। परन्तु इस सबमें जीवन विज्ञान या उसी प्रकार व्यापक जीवन रूप समष्टि परमात्म विज्ञान के बारे में कुछ भी पता नहीं लगता। ये सब बाह्य विद्याएँ (आयुर्वेद विज्ञान, शिल्प विज्ञान आदि) भी सब प्रकार से अध्यात्म विज्ञान को दृष्टि में रखते हुए तो अविद्या रूप ही प्रतीत होती हैं। इस सब का तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिक ज्ञान अपनी अन्तरात्मा के बारे में पूर्ण सत्य का ज्ञान है। वास्तव (असलीयत) में मोक्ष

के शास्त्र में तो आध्यात्मिक विज्ञान को ही विद्या शब्द से कहा गया है। अब इससे अतिरिक्त जो कुछ बाहर के विज्ञान हैं जैसे कि आयुर्वेद का ज्ञान या शिल्प विज्ञान इत्यादि, और भी बाहर के कई विज्ञान यह तो मोक्ष शास्त्र के अनुसार अविद्या रूप ही हैं। केवल आध्यात्मिक विज्ञान ही अर्थात् अपनी आत्मा का और आत्मा रूप सर्वव्यापक परमात्मा का जो ध्यान में अनुभव रूप ज्ञान है, वास्तव में मोक्ष शास्त्र में तो विद्या इसी का नाम है; शेष इसके अतिरिक्त सब अविद्या का ही रूप हैं। क्योंकि यह सब शिल्प विज्ञान आदि बाहर की विद्याएँ तो मनुष्य के बाह्य ज्ञान द्वारा आत्मा को और भी अधिक पर्दे या आवरण में छुपा लेती हैं। क्योंकि यह बाहर की विद्याएँ मनुष्य को बाह्य मुखी बनाती हैं। अन्तर्मुख तो केवल आध्यात्मिक विद्या ही है। परन्तु जो शास्त्रोक्त (शास्त्र में कहा गया) विज्ञान द्वारा आत्मा को और जीवन को सत्य रीति से समझना और पुनः व्यापक रूप से जीवन को समझ कर बिना किसी बाह्य निमित्त के अपने आत्मा में नित्य शान्ति पाना और उसके निमित्त अन्तरात्मा में सब क्लेशों, बन्धन विक्षेपों को अन्तर्दृष्टि से पहचान कर त्याग देना, पुनः त्यागने की विद्या या रास्ते के बारे में समझना और वैराग्य, तप, क्षमा, तितिक्षा इत्यादि-इत्यादि, जो-जो गुण इस अपने कल्याण में आवश्यक हैं; उनको भी समझना तथा धारण करना। यह सब आध्यात्मिक विद्या का ही अंग है। अध्यात्म विद्या का अर्थ है 'आत्मा' के बारे में सब कुछ जानना और अन्त में उसकी मुक्त अवस्था का साक्षात्कार अर्थात् प्रत्यक्ष विज्ञान पाना, यही

शास्त्रों में विद्या रूप से कहा गया है।

इसी शुद्ध, सब बन्धनों से विमुक्त आत्मा को सर्वत्र सब प्राणियों में अनुभव करना ही ब्रह्म विज्ञान व ब्रह्म विद्या है। जो इस ब्रह्म विद्या के लिये आवश्यक है, उस सबको जानना इत्यादि भी विद्या के स्वरूप में ही सम्मिलित (शामिल) है।

प्राणी अपने-अपने स्वार्थ के वशीभूत हुए-हुए विविध प्रकार के कर्मों में सदा लगे रहते हैं। किसी को इस सत्य की खबर नहीं कि उनके देह की मशीन (यन्त्र) को कौन चला रहा है ? यहाँ तक कि निद्रा, मूर्च्छा आदि अवस्था में मनुष्य को अपनी होश तक भी नहीं, वहाँ भी उसकी देह के यन्त्र (मशीन) को कौन क्रियायुक्त (हरकत में) रख रहा है ? यह सब कुछ माया या अविद्या के आवरण (पर्दे) में छुपा हुआ है। इसी काया के अन्दर ही ज्ञानयुक्त होता हुआ सब प्रकार की क्रियाओं को अपने शक्ति के साथ करता हुआ सबमें समान रूप से बिना भेदभाव के विद्यमान है। परन्तु अज्ञानाछन्न (अज्ञान से ढका) प्राणी मात्र इसे तो पहचानता नहीं। परन्तु एक दूसरे के सम्मुख मैं, तूँ के जाल में उलझा हुआ है; जो निद्रा अवस्था में साँस देह में चला रहा है; अन्न खाया हुआ पाचन करता है; अंगों प्रत्यंगों में धड़कन देता है; हृदय, पेट और फुस-फुस (फेफड़े) आदि को अपना-अपना कार्य करने के लिए शक्ति देता है, वह सब प्राणियों के सर्व देहों में समान है। देह को चलाने हेतु अन्नादि के स्वार्थों में ही भूला हुआ प्राणी, सुख और दु:ख के चक्र में पड़ा हुआ, दूसरों से न्यारा (पृथक) और भिन्न रूप से अपने को ही

जानता है, परन्तु सर्व में समान रूप से बैठे को नहीं पहचानता। यदि उसे थोड़ा स्वार्थ से छुट्टी या मुक्ति पाकर खोजे तो उसकी खबर पड़ेगी। ध्यान द्वारा वह अपना आत्मा रूप से या अपना अन्तरतम अपना आपा रूप से प्रत्यक्ष जानने में या अनुभव करने में आयेगा, यही आत्मा का विज्ञान है। और इस सबको जानने के लिए जो-जो भी समझा बूझा जायेगा, यह सब अध्यात्म विद्या का ही अंग (हिस्सा) है।

इसी प्रकार इसी परम सत्य को जब सबमें समान रूप से देव, मनुष्य, कीट, पतंग, पशु, पक्षी और पेड़ पौधों में भी उनके कायादि को उत्पन्न करता बढ़ाता और धारणादि करता हुआ रूप से अनुभव किया जायेगा, तो यही ब्रह्म दर्शन, ब्रह्म विज्ञान रूप से समझा जाता है। इस हेतु सब कुछ समझने और जानने को ही "ब्रह्म विद्या" कहते हैं। इसमें इसके बारे में श्रवण, मनन और ध्यान रूप से निदिध्यासन आदि सम्मिलित हैं। इसी विद्या के साधन स्वरूप, विवेक, विचार, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा समाधान और मुमुक्षुता आदि उपाय वेन्दान्तों में कहे गये हैं। मैत्री आदि बल भी इसी के हेतु हैं। बाह्य पापों से निवृत्ति, सब भले कर्मों का करना और मन की पवित्रता और विचार को दीप्त करके सांसारिक स्वार्थ के बन्धनों से निकलना आदि साधन भी इसी ब्रह्म विद्या व आत्म विद्या के हेतु बतलाये गये हैं। इसी विद्या से संसार से विमोक्ष प्राप्त होकर परम पद की प्राप्ति होती है।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

卐 प्रज्ञा 卐

(Knowledge or The sight of the truth, Truth bearing knowledge)

प्रज्ञा नाम सत्य के ज्ञान का है। सत्य का वह ज्ञान जो सामान्य रूप से साधारण जन के लिए छुपा हुआ रहता है। परन्तु इन्द्रियों के क्षेत्र को पार करके मनोयोग द्वारा ध्यान में काफी छानबीन करने पर पाया जाता है। इस सत्य के ज्ञान का नाम "प्रज्ञा" है। जैसे कि, उदाहरण :

विषयों का सुख ऊपर से प्राणी को साधारण रूप से शुभ (बढ़िया) प्रतीत होता है परन्तु ध्यान में इस सुख के बारे में छानबीन (विश्लेषण) किया जाए, तो यह सब दुःखों की जड़ (मूल) प्रतीत होता है।

यह सत्य का ज्ञान, कि विषयों का सुख सब दुःखों का मूल है। यह प्रज्ञा या शोधा हुआ ज्ञान ही बताता है।

प्रज्ञा का अर्थ है "शोध कर निकाला गया ज्ञान"। ऊपर से कुछ मालूम होता है; परन्तु सम्यक् (भली प्रकार से) विचार करने पर ध्यान द्वारा कुछ अन्य ही निकलता या प्रकट होता है, यह प्रज्ञा है।

संसार में उत्पन्न होकर प्राणी बालपन से ही संसार के ही प्राणी व पदार्थों के बारे में ज्ञानवान रहता है। जब तक जागता रहता है तब तक उन्हीं के संग उलझा रहता है। जब निद्रा में शान्त होकर प्रवेश करता है, तो भी उन्हीं के बारे में ही सोचता हुआ सो जाता है। इस प्रकार उन्हीं के संग सोना और उन्हीं के धन्धों के लिए जागना।

卐卐卐

उसे जीवन के संसार में उलझन व उसका अपना सही हित समझने का कभी अवकाश ही नहीं मिलता। यदि वह प्राणी व पदार्थों की उलझन से थोड़ा अपने मन को मुक्त करके पुनः निद्रा की अन्धकारमयी अवस्था से भी मन को जगा सके, तो उसे ध्यान प्राप्त होता है। उसमें यह सब जीवन के सत्य अर्थात् किस प्रकार व्यक्ति सुख के रूप में दुःख उत्पन्न करता है ? और किस प्रकार क्या-क्या बन्धन इसे बाँधते हैं ? और उनसे कैसे छुटकारा भी मिलता है ? इत्यादि-इत्यादि सब ज्ञान। और भी बहुत से छुपे रहस्य मनुष्य को केवल ऊपर कही गई प्रज्ञा ही दर्शाती है। जैसे-जैसे मनुष्य के अन्तःकरण की शुद्धि होती जाती है अर्थात् बाह्य सुखों से छुटकारा पाकर मन एकान्त में जाग सकता है। जैसे-जैसे ध्यान की वृद्धि व सफलता साधित होती जाती (सधती जाती) है और उससे प्रज्ञायें भी सारे विश्व के सत्य को दर्शा कर मनुष्य को भव सागर से पार ले जाती हैं।

卐卐

卐 ज्ञान 卐

(Knowledge)

किसी भी वस्तु को जानना "ज्ञान" कहा जाता है। जैसे ब्रह्म को पहचानना या अपनी आत्मा को जानना, यह ब्रह्म ज्ञान या आत्मा का ज्ञान कहा जाता है। जब आत्मा को या सर्वव्यापक ब्रह्म को अपने अन्दर प्रत्यक्ष रूप से पहचाने, निकट से पहचाने, यही ब्रह्म (आत्मा) का विज्ञान है।

ज्ञान तो किसी वस्तु का सुनने या पढ़ने से भी हो सकता है; परन्तु प्रत्यक्ष साक्षात्कार अपने सामने निकट रूप से जो ज्ञान होता है, वह विज्ञान है। जैसे कि आसन पर स्थिर होकर मन को बाह्य विषयों से निवृत्त करके, पुनः सारे संसार की तृष्णा का निरोध करने पर पुनः मन जब जगत् को केवल इसलिए ही नहीं भूलना व छोड़ना चाहता कि यदि उसे भूलें, तो पुनः ज्ञान शून्य सा हुआ-हुआ अपना आपा घोर अविद्या के अन्धकार में पड़ा हुआ प्रतीत होता है। ज्ञान शून्य अवस्था में मन का रमना दुष्कर है। या तो निद्रा ही आ जाए तब शान्त अवस्था की अनुभूति चेतन में होती है या पुनः संसार की वस्तुओं के संस्कार जाग्रत करके पुनः सांसारिक श्रवण दर्शन इत्यादि के ज्ञान द्वारा अथवा वस्तुओं के चिन्तन द्वारा ज्ञान को पाकर अपने आप में रमण करता है। परन्तु ज्ञान शून्य या ज्ञान ढका रहने से तो मन का रमण करना दुष्कर प्रतीत पड़ता है।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

ऐसी अवस्था में प्रगाढ़ (गहरा) अविद्या का साम्राज्य होता है। यदि कोई उद्योगी साधक निद्रा को जीतता हुआ और सांसारिक विषयों की तृप्ति को क्षणिक और दुःखपूर्ण समझता हुआ ध्यान में इनके चिन्तन बिना स्थिर रहे और बाह्य चिन्तन त्यागने से जो दुःख की अवस्था प्रकट होती है, उस दुःख में मन को स्थिर रख कर साक्षी रूप से देखता रहे, तो उसे इस ज्ञान शून्य अवस्था के टलने का क्रमशः अनुभव अपने आप ही हो जाएगा। जब मन बाह्य चिन्तन से शून्य होगा, तो ठीक है ! ज्ञान शून्य अविद्या की दशा में अरमण (मन के न लगने की दशा) का शिकार हो जाता है और झट बाहर जगत् के संस्कार ही जगा कर रमण करता है। परन्तु जो इस देह को जीवन दान दे रहा है और सारे देह में प्राण और रक्त संचार की शक्ति प्रदान कर रहा है जिससे कि सब अंग अपने आप में कार्य करते हुए दृष्टि में आते हैं वह कहीं शून्य या नाश को प्राप्त नहीं हुआ। केवल अविद्या की रात्रि से ढका (आवृत्त) अवश्य है। बाह्य तृष्णा के संस्कारों के कारण उसका मन्द-मन्द आनन्दयुक्त ज्ञान आविर्भूत नहीं हो रहा, यही कहा जाता है कि अविद्या से आवृत्त (ढका) हुआ है। परन्तु विचार द्वारा निद्रा जीतने पर, ध्यान में प्रकट विवेक के जागने पर, जब तृष्णा के सुखों से मन उपेक्षायुक्त (बेखबर) रहे और उस अनन्त सब जीवों के समान रूप से अपनी ज्ञान और क्रिया शक्ति के साथ बसे हुए को अपने आपको अपने आपे में ही प्रकट होने का अवकाश दे। यह बात नहीं कि

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

वह जो निद्रा में अपना सुख रूप प्रकट सबके लिए करता है, परन्तु जाग्रत ध्यान में वह अपना सुख आनन्द स्वरूप प्रकट न करे। हाँ ! धैर्य की आवश्यकता है। अविद्या के तनाव की (ज्ञान शून्य) अवस्था को टलने दे। ज्ञान शून्यता का दु:ख क्षण-क्षण अनुभव करता हुआ जाग्रत रहे। विषय चिन्तन व बाह्य शब्दादि विषयों को सुनने में मन को न लगाये। सुनने पर भी उनकी उपेक्षा करता जाए और यह प्रतीक्षा भी न करे कि कब वह प्रकट आनन्द रूप से साक्षात् अपने ज्ञान की झलक दिखाता है ? पर्याप्त (काफी) चिरकाल के अभ्यास द्वारा सत्कार पूर्वक ज्ञान के साथ अपने को जो संयम में रखकर एकान्त में अभ्यास करेगा, उसे वह अपने आप निरावृत्त (ढक्कन शून्य रूप से) (अविद्या से रहित रूप से) अपनी झांकी दिखायेगा। यही सच्चा साक्षात्कार है। यही सत्य का ज्ञान परम महत्त्व का है। पुनः काल क्रम (साधन करते-करते समय बीतते रहने पर) से यही सब में समान रूप से दीखने या अनुभव में आने पर, मनुष्य को बाह्य जगत से पूर्ण रीति से मुक्ति मिल जायेगी। पुनः संसार में रमण का मन नहीं रहेगा। जैसे किसी को घर के कोने में मधु (शहद) मिल जाए, तो वह वन में क्यों भटके? इसी प्रकार अपने आप में प्रत्येक अवस्था में, वृद्धावस्था में भी यदि आत्म ज्ञान से परमानन्द या सदा बसे रहने वाला आनन्द और तृप्ति मिल जाए, तो दूसरों की दासता, विषयों की व प्राणियों की कोई क्यों करेगा ? प्रत्युत (विपरीत इसके) दासता से विमुक्ति का धन्यवाद

卐卐卐

ही करेगा। यही सच्चा ज्ञान है। जोकि सबमें इसी अपने निकट में अनुभव हुए-हुए आत्मा को सब में पहचान कर शेष सब पिता, पुत्र, मित्र, वैरी आदि दृष्टियों को केवल व्यवहार तक ही सीमित रखना; सत्य में तो उसी एक को सब में जान समझ कर, आत्मा में निवृत्ति का सुख अनुभव करते हुए शान्त रहना, यही ज्ञान धन्य है।

ध्यान

(Meditation, spiritual contemplation)

किसी भी दिशा या पदार्थ में मन को एक टक, निरन्तर अर्थात् अटूट रूप से जोड़ रखना इसका नाम "ध्यान" है अर्थात् जिस वस्तु का ध्यान करे उसको छोड़ दूसरी ओर मन न जाए और न ही दूसरी वस्तु की दृष्टि बने और न ही उसके मध्य कोई संशय आए और न इच्छा, न काम, न क्रोध, न चिढ़ ही आए और सुस्ती आलस्य आदि भी उसके ध्यान वाले मन के ज्ञान को कमजोर न बनाए। जागता हुआ मन, जिस वस्तु का ध्यान कर रहा है, उसी का लगातार चिन्तन करता रहे। जहाँ मन अटूट रूप से टिका रहेगा, उस वस्तु के बारे में पूर्ण सत्य का ज्ञान होगा। इसी ज्ञान का नाम "प्रज्ञा" है। जैसे कि पीछे बताया गया है, तृष्णा के मन में होने पर तृष्णा की वस्तु की याद मन में बहने लगती है और उस वस्तु की अनुपस्थिति या उसका घाटा या न होना दुःख रूप से प्रतीत होता है। इस दुःख को ध्यान का विषय बना ले और इसका ही ध्यान करे अर्थात् तृष्णा के दुःख में मन को एक टक अटूट रूप से जोड़ दे, और तृष्णा का ही ध्यान करे कि यह क्या है ? जब एक टक रूप से अर्थात् अटूट रूप से कहीं भी दूसरी दिशा में या दूसरे पदार्थों में मन जाए बिना, और निद्रा, सुस्ती आलस्य के बिना जागता हुआ मन उस तृष्णा के दुःख को महसूस करता हुआ जागता रहे और उसमें संशय, इच्छा, क्रोध

आदि के बिना अर्थात् इन से रहित होता हुआ उस तृष्णा की दुःख की तरंगों में जागता हुआ टिका रहे तो यह तृष्णा के दुःख का ध्यान हो जाएगा। यदि तृष्णा के द्वारा या उसके दुःख के द्वारा चलायमान व विचलित होकर कभी तृष्णा की वस्तु को याद करने लग गया, और उस वस्तु की सुख की इच्छा पूरी करने व न करने के संशयों व कामनाओं में ही पड़ा, तो तृष्णा के दुःख का ध्यान नहीं रहेगा। ध्यान का समय तो निकल ही जाएगा अर्थात् व्यतीत हो जायेगा। इसी प्रकार यदि आलस्य, सुस्ती या पीछे किसी सहारे से पीठ टेक कर (ढासना लगा कर) आराम में ही रहा, तब भी वह ध्यान न हुआ। इन सब से रहित होकर जैसे कोई मनुष्य ज्योति पर अपनी आँख बिना पलकें मारे एक टक टिकाए रखता है, ऐसे ही जागते हुए मन को दृष्टि, संशय, इच्छा, क्रोध, आलस्य और निद्रा से रहित होता हुआ जागते हुए मन को उस तृष्णा के दुःख में टिका दे, चाहे यह तृष्णा नींद लेने की ही हो। ऐसी अवस्था में नींद को भी रोक कर इस नींद की तृष्णा में और इसके दुःख में मन को डटा दे और इस दुःख को अनुभव करता जाए और इसी के बारे में अपने मन को समझाता जाए कि यह क्या-क्या वस्तु और किन-किन विकारों को सम्मुख ला कर मनुष्य को अपने चक्कर में डालकर कैसे भटकाती है ? और अन्त में मृत्यु के समान सुला देती है और लालच दिखाती है सुख का। इस का नाम ''विभव तृष्णा'' है। जैसे कि संसार की तृष्णा का नाम भव तृष्णा है, जिसमें तृष्णा की पूर्ति के

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

हेतु न जाने पुत्र, मित्र, वैरी आदि क्या-क्या होना या बनना पड़ता है। यही होने हवाने की तृष्णा का नाम भव तृष्णा है यह रजोगुण रूप है; और दूसरी विभव तृष्णा इसके विपरीत तमोगुण रूप। ये दोनों तृष्णाएँ सुख दिखा कर बाँधती हैं। इन दोनों प्रकार की तृष्णा में मन को टिका दे और यह तृष्णा का ध्यान हो जाएगा। ध्यान करते-करते आसन पर स्थिर रहे। ये दोनों प्रकार की तृष्णा आकर सुख का प्रलोभन दिखला कर या तो खाने पीने और बाहर की संगत की ओर ले जायेगी; अथवा आसन का दुःख दिखा कर उसे छोड़ कर निद्रा में जाने की प्रेरणा करेगी। ऐसी अवस्था में तृष्णा विरोध करने में दुःख जैसा प्रतीत तो अवश्य होगा। और तृष्णा का विरोध करने पर संशय, इच्छा, क्रोध आदि भी मन में आएंगे। उन को भी ज्ञान द्वारा बुद्धि को चेतन रखता हुआ टालता जाए। इस प्रकार निद्रा भूल जाने पर और काम लोक अर्थात् संसार की तृष्णा शान्त होते ही तृष्णा के दुःख का भी परिहार हो जायेगा। जब तृष्णा के दुःख की शान्ति हो जायेगी तो शान्त सुखी जागता हुआ मन बुद्धि को भी जगा पायेगा। तब समझने की जागृत हुई-हुई शक्ति अर्थात् बुद्धि सत्य की खोज करती हुई अपने आप इस निश्चय पर पहुँचेगी। जब तक तृष्णा के पदार्थों में, व उनके क्षणिक सुख में मन था, तब तक ही आसन स्थिर नहीं हुआ, और उसका सुख भी नहीं था। परन्तु जब तृष्णा का सुख ज्ञान दृष्टि से अनुभव किया कि वह केवल दुःखों से लदा हुआ है और दुःख भी इतना

卐卐

कि कभी समाप्त न होने वाला; जैसे विनाश की शंका से निद्रा भी उड़ जाए और विषैला स्वादिष्ट भोजन भी त्याग दिया जाता है, ऐसे ही तृष्णा के दुःख का जड़ से ही साक्षात्कार करने वाला मन भयंकर दुःखों का उनमें दर्शन करता हुआ उन सब से मुख फेर लेता है। उनसे मुख फेरते ही वैराग्य नाम का गुण मन को शान्त कर देता है। शान्त मन में आत्मा स्थिर हो जाती है और तृष्णा के दृष्टि, संशय, काम, राग, द्वेषादि के बन्धनों के भार से हल्की हुई-हुई अपने आप में प्रकाशित तथा आनन्दित अनुभव में आ जाती है। इस प्रकाशमय, आनन्दमय स्वरूप के झलकने पर अपने आप का अस्तित्व (सत्ता) न खोने का अनुभव होता है। पुनः सब प्रकार के दुःखों से छुटकारा हो जाता है। अनन्त ब्रह्म सब में भी वैसा ही पहचाना जाता है। यही अन्तिम धर्म की सेवा का परम फल है, जो कि परम पद रूप से समझा जाता है। तृष्णा का साक्षात्कार दुःख का मूल रूप समझ कर उद्योग द्वारा, ध्यान द्वारा उसका परिहार करना ही आत्म साक्षात्कार तथा ब्रह्म साक्षात्कार रूप होगा और अन्त में परम शान्ति स्वरूप भी। घन्टों तृष्णा को रोकने का ध्यान लगाए। रोक कर दृढ़ आसन पर बैठा रहे और दुःख को देखता रहे और मन को सम अवस्था में रखता रहे, बुद्धि को जागृत रखे। नया-नया जैसे ज्ञान होता रहे, उस ज्ञान में मन को रमाये। उसको खबर (सूझ) ही नहीं रहेगी कि संसार कहाँ है। यह सब एक प्रकार का अन्दर का योग साधन है। जीवन काल में

卐卐

ही सफल होने पर पूर्ण परमार्थ सुख या आनन्द अनुभव में ला देगा। इस सविकल्प समाधि में उसका मन बड़े आनन्द में रहेगा और अन्त में तृष्णा का दुःख टलने पर तृष्णा भी जीती जायेगी। उसी मन में तृष्णा से मुक्ति का सुख भी मिल जायेगा; और उस सुख में टिका हुआ मन शून्य में भी आराम पा जाए, बिना कोई सोचने और समझने में आनन्द में बना रहे, तो यही निर्विकल्प समाधि या निर्विकल्प अवस्था है। यही पूर्ण फल रूप है। परन्तु साधक को विशेष यत्न करके रोज की तृष्णा जोकि संसार के पदार्थों की व सोने आदि के आराम की अनुचित रूप से बनी रहती है इनको क्रम से धीरे-धीरे बुद्धि को इनमें व्यस्त न करते हुए जीतने का यत्न करना चाहिए। यह सब उद्योगी साधक का काम है। उद्योग करना पड़ता है। उद्योग में आराम जो आदत का है उसमें विघ्न तो पड़ेगा, पर अभ्यास से संसार से निवृत्त हुआ प्राणी इसको जीतने में सफल हो जाता है।

इस ऊपर कहे हुए का भाव इस प्रकार समझना चाहिए कि जब संसार में ही कुछ होने या पाने की या दूसरों के संग की, सुख के लिये तृष्णा होती रहती है, तो यह संसार की ओर ही धकेलती है और धकेल-धकेल कर दुःखी करती रहती है। कभी भी पूर्ण रीति से पूर्ण तो होती नहीं और अन्त में इसी में पड़ा हुआ मनुष्य दुःख का अनुभव करने लग जाता है। अब उस दुःख से टलने के हेतु शीघ्र उपाय तो उसे निद्रा में खो जाना रूप विभव तृष्णा है अर्थात् किसी प्रकार भी संसार के चक्करों के

दुःख को भूलने के लिये कोई भी शरण लेना, चाहे निद्रा की ही या किसी भी नशे के सेवन या संग से अपने आपको एक दम भूल जाना, यह सब विभव तृष्णा है। यह दोनों तृष्णा वाला मन सदा संसार में ही जन्मेगा और जन्म करके मरेगा और यह जन्म मरण तो उसका कभी भी समाप्त नहीं होगा। निद्रा के टूटते ही बाह्य विषयों में सुख के लिये खोया-खोया समय बिताएगा और जब उनसे दुःख होने लगेगा तो उनको भूलने के लिये या तो निद्रा की शरण लेगा और अन्त में मृत्यु की शरण लेगा।

यह दोनों तृष्णा उसकी कभी भी समाप्त नहीं होंगी। हाँ ! यदि पहले कहे गये के अनुसार तृष्णा के दुःख को साक्षी रह कर देखते-देखते टालता गया और उस तृष्णा के प्रवाह में बहते हुए तृष्णा के विषयों की शरण न ली; तो एक समय तृष्णा अपने आप में ही समाप्त हो जाएगी और उसके समाप्त होते ही अन्तरात्मा का सुख प्रकट हो जाएगा।

हाँ ! यदि तृष्णा के दुःख में बहते रहने पर निद्रा उस दुःख को शान्त करने के लिये आए तो उसमें भी यदि गर्क अर्थात् यदि निद्रा के सुख में नहीं खोया अर्थात् उसको पाने के लिये नहीं लपका और अपने आप को स्थिर दृढ़ आसन पर टिकाए रखकर उस निद्रा को भी पार कर गया तो यह साधक पुरुष भव और विभव दोनों तृष्णाओं को पार कर जाएगा। इसके पार पाते ही अनन्त शान्त आनन्द अनुभव में आने लगेगा। जिससे कि साधक पुरुष अपने आप को कृत-कृत्य समझने लगेगा अर्थात्

जो कुछ करना था वह कर लिया; अब करने का शेष कुछ नहीं रहा और अनन्त शान्त पद को पा जाएगा।

यह ध्यान का क्षेत्र बहुत व्यापक है। अब साधक थोड़ा तृष्णा के चक्कर से या उसकी उलझन से मुक्त होता है तो यह ध्यान विविध क्षेत्रों से होता हुआ परिपूर्ण मुक्त अवस्था में पहुँच जाता है; जैसे कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँच भूतों के ध्यानों को भी करता हुआ इससे पार निकल जाता है। ऐसे ही शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध यह भी मनुष्य के ध्यान को उलझाते हैं। इनको भी अपने ध्यान में समझ कर और इनका सार पाकर साधक आगे बढ़ जाता है और पुनः इनकी उपेक्षा कर देता है। इन शब्द आदि को जानने को साधक, रूप और इन्द्रियों के क्षेत्र में भी उलझ सकता है। इनके क्षेत्र में भी पुनः साधक का ध्यान अटक जाता है। इनके भी सार का साधक अपने ध्यान में समझ कर इनसे विरक्त होकर आगे बढ़ता है। फिर पुनः मन बुद्धि, चित्त, अहंकार या प्रकृति इनके क्षेत्रों में भी बंधता हुआ प्रतीत करता है। परन्तु उद्योगी साधक अपने ध्यान द्वारा इनके बन्धनों को भी पहचानता हुआ ज्ञान की तृप्ति लेता हुआ आगे बढ़ता जाता है और अविद्या, मान, मोह, रूपराग, अरूप राग, राग-द्वेष, शीलव्रत परामर्श, संशय, दृष्टि आदि सब बन्धनों को प्रत्यक्ष रूप से मन में साक्षात्कार करता हुआ और दुःख रूप जानता हुआ और इनके तनावों के दुःख को अनुभव करता हुआ ध्यान में बना रहता है और इनको साक्षी रूप से देखते-देखते ही

卐卐

या निरीक्षण करते-करते ही क्षण-क्षण इनकी तरंगों को टालता हुआ इनसे पार जाकर शुद्ध ज्ञान और आनन्द रूप में टिका रहता है। यही शुद्ध आत्मा का स्वरूप है और यही परम पद है। जब तक ये बन्धन संसार का सुख दुःख दिखा कर संसार में ही बाँधने की ओर या उधर ले जाने के लिए ही प्रेरणा करते रहते हैं, तब तक तो ध्यान में ही चिन्तन द्वारा ज्ञान उपजा कर इनके सुख की तुच्छता पहचान कर इनसे बचता रहे। अन्त में जब ज्ञान पूरा कर लिया, तो बिना सोचे विचारे भी केवल स्मृति द्वारा ही इन बन्धनों के वशीभूत होने पर स्मृति द्वारा ही बिना समझे टालता जाए। बस टालने के लिए धैर्य की आवश्यकता है। यह बन्धन दुःख दिखाकर मनुष्य को अधीर बनाकर झट तृष्णा की वस्तु या प्राणी की ओर ले जाते हैं। उस समय उनके दुःख को नहीं समझने देते, क्योंकि दुःख का ढक्कन (आवरण) रहता है। ध्यान द्वारा इस ढक्कन (आवरण) को हटाए और दुःख को दृष्टि में लाए और मन को संसार में न जाने दे। यही भव तृष्णा का टालना है। इस तृष्णा के दुःख को देखने में ही डटा रहे। साक्षी रूप से बना रहे और उनमें तंगी न माने। इस दुःख को औषधि जैसा समझे। यदि यह दुःख न ओटा (सहा) गया तो संसार के सुख के बहाने में अनन्त दुःख प्राप्त होगा। ऐसा ज्ञान मन में जागता रहे। ऐसे साधक यदि एकान्त में अपने मन को इस संसार के प्राणी व पदार्थों के बन्धनों से हटाकर मन को अकेले में निद्रा, सुस्ती आदि से बचाकर तृष्णा के दुःख को अनुभव करने

में और अपना समय इनका अनुभव करते-करते बढ़ाने में लगा रहेगा तो काल क्रम से सब ध्यान के क्षेत्रों को समझता हुआ पार करके अपनी आत्मा में ही आनन्द और शान्ति को अनुभव करेगा और इसी आत्मा को इसी के सत्य स्वरूप में सब में देखता हुआ परब्रह्म स्वरूप परम पद को प्राप्त होगा। इस में और भी अधिक प्रकार के ज्ञान होंगे। काया का योग मिल जाता है। अर्थात् संसार में विविध रूप भटकता हुआ मन अपने शरीर में जुड़ा हुआ कई प्रकार के अन्दर के अनुभव करता है। मन काया में ही नाना प्रकार के ध्यान द्वारा सदा संसार से अलग रहता हुआ भी अपने आप में सुख पाता है। संसार का पता ही नहीं, कहाँ चला जाता है। अन्दर के सर्वव्यापक ज्ञान, विज्ञान रूप परमात्मा का साक्षात्कार हो कर मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है। अनन्त लोकों का ज्ञान होता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश इत्यादि इन देवों के लोकों का ज्ञान होता है और अन्त में तृष्णा और उसके दुःख को ध्यान में ही त्याग द्वारा शान्त करने पर अपने अन्दर के आनन्द में अप्रयास (बिना प्रयास के) शान्त हो जाता है। तब यह ज्ञान होता है कि पाना था सो पा लिया, अब पाने को कुछ नहीं रहा। जानना था सो जान लिया, जानने को शेष कुछ नहीं रहा। करना था सो कर लिया, शेष करने को अब कुछ नहीं रहा। इस तरह उसकी प्रज्ञा, बुद्धि, ज्ञान परिपूर्ण हो जाता है। केवल यह साधक ज्ञानी (अनुभवी) संसार में मैत्री इत्यादि दस बलों द्वारा ही अपने आप को संयम में रखता हुआ सब में सबके

समान ही रहता है। उसको किसी प्रकार से भी संशय आदि बन्धन नहीं बाँधते। यह सब ध्यान की महिमा है।

केवल तृष्णा जीव के सम्मुख उपस्थित हो करके अपने थोड़े से सुख द्वारा ही जीव को भरमाती है। वह क्षण भर का ही सुख है। प्रकृति या तृष्णा का सुख तो थोड़े समय के लिये ही है। परन्तु इस सुख के चक्कर में बहने वाले प्राणी को बाद में (पश्चात्) अत्यन्त दुःख की जो प्राप्ति होती है उसको तो ध्यान द्वारा सत्य की बुद्धि उपजा कर ही समझा जा सकता है।

केवल तृष्णा पूरी करने का सुख जोकि तृष्णा के विषय का संग करके तृष्णा के सुख को ही पाना चाहता है, वह केवल अल्पकाल का ही होगा; क्योंकि तृष्णा एक प्रकृति की शक्ति है जो जीव के सम्मुख उपस्थित हो कर उसको प्रलोभन में डाल कर भरमाती रहती है। परन्तु यह सुख क्षण भर का ही है। प्रकृति की तरंगें ही अपने विकार काम, क्रोध आदि उपजा कर जीवों को संसार में ही प्रवाहित्त होने के लिये धकेलती हैं। प्रकृति का विरोध करने से दुःख प्रतीत होता है। यदि इस थोड़े दुःख से कोई डर गया (भयभीत हो गया), तो पुनः संसार में ही अल्प काल के सुख के प्रलोभन से इस उस वस्तु या प्राणी के संग में आयु खो देगा और कभी भी सत्य को नहीं पायेगा। और परिणाम स्वरूप उन सुखों के स्थान पर रोग, वृद्धावस्था और मन की खिन्नता, शोक आदि ही उपलब्ध होंगे। सुख तो वह समयानुसार वियुक्त होगा ही, परन्तु उनकी तृष्णा बढ़ने पर और न पूरी हो सकने

पर अर्थात् अधूरी रहने पर समय व्यतीत होना अति कठिन प्रतीत होगा या असम्भव ही होगा। केवल मृत्यु की ही प्रतीक्षा करता हुआ प्राणी नव जन्म को ही प्राप्त करने को चाहेगा। अर्थात् संसार में ही जन्म मरण के प्रवाह में बहता रहेगा। इसलिए व्यक्ति को यत्न से यही सत्य का ज्ञान सुनकर, शास्त्रों से पाकर, श्रद्धा करके पुनः यत्न द्वारा अपनी बुद्धि द्वारा प्रज्ञा (सत्य का ज्ञान) पाकर साक्षात्कार करके अपने मन को ऐसे तैयार करे कि वह तृष्णा के दुःख को पीछे कहे अनुसार ध्यान में सहन कर सके और ज्ञान द्वारा अपने आप को संयम और वश में रखे और तृष्णा के दुःख को साक्षी भाव से रहकर देखता-देखता टालने की शक्ति प्राप्त करे। जब तक तृष्णा का सुख पाने का मन है, तब तक तृष्णा की वस्तु मन से नहीं उतरती, न ही भूलती है। तब तक ही तृष्णा की वस्तु में बंधा हुआ मन दुःख पाता रहता है। जब तृष्णा की वस्तु से मन उसका परिणाम (नतीजा) भयंकर दुःख देखकर ध्यान, प्रज्ञा (सत्य का ज्ञान) द्वारा उससे मुख फेर ले तो वह वस्तु मन से उतरते ही मन आत्मा में समाहित हो जाता है। सुख पाता है और वह तृष्णा से मुक्त हुआ-हुआ मन आत्मा में ही टिका रहता है।

जो सांसारिक (दुनियावी) विषय सुख की तृष्णा अधूरी रहने का दुःख है उस दुःख को केवल साक्षी रूप में स्थिर होकर जो देखता रहेगा और उस सुख की तृष्णा के धक्के से संसार में नहीं बहेगा तो यह जो तृष्णा अधूरी छोड़ने का दुःख प्रतीत हो रहा है यह सदा टिके

रहने वाला नहीं है। वह पानी के प्रवाह के समान क्षण-क्षण बदलता हुआ बहता जाता है; समय पाकर धैर्य रखे हुए व्यक्ति के अन्दर एक दम टलने लगेगा। पहले धीमा पड़ेगा; धीमा पड़ते-पड़ते यह एक दम पुनः अनुभव में नहीं आएगा; बस ! तृष्णा का दुःख टलते ही मन सरल सुख रूप से चमकने लगेगा। इसमें भी धैर्य वाला व्यक्ति, साधक जन यदि सचेत रहा तो यह तृष्णा का दुःख टलने से जो सुख प्रतीत हो रहा है यह बढ़ता ही जाएगा। और सारे संसार की इस सुख के साथ कोई खबर ही नहीं रहेगी और यह सुख भी नित्य (सदा बने रहने वाला) प्रतीत होगा। और यही अपने आप के स्वरूप का या आत्मा का ही होगा और अन्दर उसी साधक प्राणी के अन्दर जो बुद्धि भी जन्मेगी कि यह सुख अनन्त है और मेरी अपनी आत्मा का स्वाभाविक है और इसके साथ-साथ संसार में जन्म तथा जन्मने के पश्चात् मरने का नामोनिशान भी नहीं है।

ऊपर बार-बार "साक्षी" शब्द का प्रयोग हुआ है जैसे कि "साक्षी रह कर तृष्णा के दुःख को देखता-देखता टालता जाए"। यहाँ "साक्षी" शब्द का यह भाव है कि निकट होने से वस्तु का ज्ञान तो हो रहा है परन्तु जैसा कि उस वस्तु की कुछ भी करने-कराने की प्रेरणा होती है उस प्रेरणा के प्रवाह में बह कर कुछ करने कराने को तैयार नहीं होना या प्रवृत्त नहीं होना; केवल देखते रहने वाला स्वरूप में ही टिके रहना। जैसा कि कोई अपने घर में बैठा हुआ मनुष्य बाजार में जाते हुए कई एक प्राणियों

को देखता तो रहता है परन्तु उनकी दृष्टि से चलायमान होकर आप स्वयं चलने को तैयार नहीं होता या उनके अन्दर से जो भी प्रेरणा आती है उसमें बह कर अपने आप को किसी प्रकार भी चलने चलाने के लिये सोचता तक भी नहीं। तब वह केवल द्रष्टा (देखने वाला) रूप से साक्षी ही बना रहता है। यह सब "साक्षी" शब्द का भाव है। संक्षेप से इस का तात्पर्य यह है कि निकट होने के कारण पता तो सब कुछ पड़ रहा है, परन्तु उस पते के अनुसार करने कराने का कुछ भाव तक भी नहीं बनता; तब केवल साक्षी है। बस ! इसी प्रकार सब प्रकार की तृष्णा के पूरा न करने से जो दुःख होता है उस दुःख का केवल द्रष्टा तो बने बसे रहना, परन्तु उस दुःख से चलायमान या प्रेरित होकर कुछ भी संसार में उस तृष्णा को पूरी करने के लिये न चल पड़ना। ऐसे द्रष्टा रूप से बसे रहने वाले की एक दिन ध्यान में ही आसन पर टिके-टिके सारी तृष्णा उजड़ती हुई दीखेगी। तृष्णा के उजड़ते ही आत्मा का सुख प्रकट हो जाएगा; जो कभी भी समाप्त होने वाला नहीं है। नित्य ज्ञान स्वरूप है। मन में कुछ करने कराने या उसके लिये सोचने का भाव तक भी नहीं रहेगा।

卐卐卐

卐 पुण्य 卐

(Divine Merit)

पुण्य मन के उस धर्म का नाम है जो कि मनुष्य को सुख उपजाता है। सुख उपजाने वाले या भविष्य में जो-जो भी कर्म सुख उपजायें, वे सब पुण्य कर्म कहे जाते हैं। इसी प्रकार पुण्य की एक ऐसी सूक्ष्म अवस्था है जो कि मोक्ष के सुख की ओर अग्रसर करती है जिसमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि का संयम सम्मिलित है। इस पूर्ण संयम से जो पुण्य उदय होता है, वह अन्ततः मोक्ष प्राप्ति का कारण होता है। परन्तु ऐसा पुण्य करने वाले को यदि कोई सांसारिक सुख पाने की इच्छा या संकल्प या कामना न हो तो वह बड़े आराम से सब पापों को समाप्त करता हुआ मोक्ष मार्ग पर अग्रसर हो जाएगा और अन्त में मोक्ष को प्राप्त करेगा।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

卐 पाप 卐

(Sin)

पाप मन का वह धर्म है जो कि मन के अन्दर सूक्ष्म रूप से या अदृष्ट रूप से बैठा हुआ मनुष्य के दुःख को उपजाता है। पुण्य के समान यह पाप भी कई प्रकार के खोटे कर्मों से उपजता है। वे सब पाप कर्म कहे जाते हैं। जैसे पुण्य, सूक्ष्म रूप से मोक्ष का दाता होता है, ऐसे ही इन्द्रियों का असंयम और मन बुद्धि का भी असंयम और शरीर का भी असंयम पाप का हेतू है। यह भी पाप रूप है। इस पाप से बचकर ही दुर्गति को जीता जा सकता है। पाप दुर्गति को देने वाला है। दुर्गति उसका नाम है, जिसमें दुःख की मात्रा बहुत अधिक होती है। जो मनुष्य बुद्धि को भ्रष्ट करे और उसको हित अहित के बारे में सोचने भी न दे और समझने भी न दे, यही पाप है। पुनः साधन करने में विघ्न या प्रतिबन्ध डाले, यही पाप का स्वरूप है। इससे विपरीत पूर्व कहा हुआ पुण्य का स्वरूप है, जो कि मनुष्य बुद्धि को मनुष्यता के स्तर से नीचे नहीं गिरने देता और मोक्ष तक ले जाता है। मनुष्य की बुद्धि का स्तर तब गिरता है, जबकि मनुष्य के अन्दर उनके काम, क्रोध इत्यादि विकार और उत्तेजना द्वारा हित अहित के बारे में विचार करने की और समझने की बुद्धि खो जाए। जैसे कि पशु, पंछी, कीट, पतंग में यह मनुष्यता के स्तर की बुद्धि नहीं है, इसलिए वह दुर्गति है। मनुष्य होते हुए भी यदि अन्त तक दुःख पड़ा रहे, तो यह

भी दुर्गति ही है। यह सब पाप का कार्य है। इसलिये वह सब प्रकार के मिथ्या कर्मों को करने में प्रेरित वह कर्म करने लग जाए; जोकि दूसरों की दृष्टि में भी न करने योग्य माने जाते हैं। ऐसे कर्मों से मनुष्य को मोक्ष का मार्ग और अपनी आत्मा का सुख मिलना तो दूर रहा; परन्तु संसार में कोई अच्छा या मनुष्य के स्तर का जन्म तक भी नहीं मिलेगा। कोई नहीं कह सकता कि वह मरने के पश्चात् किन-किन योनियों में जन्म पाता हुआ भयंकर दुःखों को प्राप्त होता रहेगा। केवल मनुष्य की बुद्धि रख कर यदि उन सब पापों से बचता रहेगा; तभी कहीं मनुष्य जन्म पाकर अन्त में पवित्रता निर्मलता रखता हुआ मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त हो जाएगा अर्थात् मोक्ष मार्ग पर चढ़ जाएगा और अन्त में मुक्त हो जाएगा।

卐 कर्म 卐

(Right or Wrong Deed)

वैसे तो कुछ भी करने का नाम "कर्म" है; परन्तु जो कुछ बुद्धि पूर्वक किया जाता है, वास्तव में कर्म इसका नाम है। किसी भी एक हरकत का नाम क्रिया है। वैसे कर्म भी एक क्रिया रूप है। परन्तु जो क्रियाएँ कुछ उद्देश्य पूर्वक अर्थात् स्वार्थ (मतलब) को मन में रख कर की जाती हैं या होती हैं, यही वास्तव (असल) में कर्म कहे जाते हैं। यह चार प्रकार के हैं :-

१. शुक्ल, २. कृष्ण, ३. शुक्ल कृष्ण, ४. अशुक्ल कृष्ण।

शुक्ल :- जो संसार में सुख को उत्पन्न करेंगे वह पुण्य रूप शुक्ल, स्वच्छ या शुभ कर्म कहे जाते हैं।

कृष्ण :- जो दुःख देने वाले या दुःख को उत्पन्न करने वाले कर्म किये जाते हैं या होते हैं (कुछ तो अभिप्राय या इरादे से किये जाते हैं, कुछ पक्की हुई आदतों के कारण से बिना सोचे, समझे अपने आप बन जाते हैं)। यह सब पाप कर्म रूप कृष्ण कहे जाते हैं।

शुक्ल कृष्ण :- वैसे ही जो मिश्रित कर्म पुण्य पाप दोनों को करने वाले हैं, वह शुक्ल कृष्ण कहे जाते हैं। कुछ तो इन में से बहुतों के भले के लिए किए जाते हैं। उनमें सुख अधिक, दुःख कम होता है और जिस में अपना स्वार्थ अधिक, परन्तु दूसरे की भलाई अल्प हो, ऐसे कर्म जो शुक्ल कृष्ण हैं, इससे दुःख अधिक होता है, सुख कम। यह कर्म सब शुक्ल कृष्ण कहे जाते हैं। ऐसे

कर्मों में हिंसा असत्यादि यह पाप का अंश होता है। परन्तु दूसरे का हित भी इनसे होने के कारण सब पुण्य रूप भी हैं। क्योंकि पाप पुण्य दोनों का अंश इनमें मिश्रित रूप से होता है। बहुजन के निमित्त किसी ने दुष्ट जीव को दण्ड दिया। इससे बहुत से जनों को सुख हुआ; इससे पुण्य रूप; और हिंसा से मिश्रित होने के कारण पाप रूप भी है। यही मिश्रित कर्म शुक्ल कृष्ण होते हैं।

अशुक्ल कृष्ण :- यह वे कर्म हैं जो मोक्ष को देने वाले हैं। वैराग्य, क्षमा, शील, सन्तोष, त्याग, तप इत्यादि-इत्यादि और भी मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, क्षमा, शील, दान, वीर्य, ध्यान, समाधि एवं प्रज्ञा दस गुणों को उपजाना, यह सब अशुक्ल कृष्ण हैं। बिना बाह्य उद्देश्य (मतलब) के, स्वार्थ को त्याग कर निष्काम भाव से जो भी कर्म किये जायेंगे, वे चाहे शरीर से हों या इन्द्रियों से, यथा वाणी आदि द्वारा शिक्षणादि कार्य, और यदि वे मन से हों, जैसे कि मानस-तप, खेदादि को सहन करना और भी दुःखों को केवल मोक्ष धर्म हेतू ही अपने में धारण करके अपने मन को पुनः उचित शील आदि में रखना इत्यादि, सब अशुल्क कृष्ण नाम से मोक्ष शास्त्र में बतलाये गये हैं। न अधिक दुःख में रहना, और न अधिक सुख में, युक्ति युक्त मध्य मार्ग की चर्चा भी सब इसी श्रेणी का पुण्य कर्म है।

卐卐卐

卐 भाग्य 卐

(Luck)

यह सब प्रकार के कर्म तीन रूपों में मनुष्य के अन्तःकरण में बैठे रहते हैं। संचित, आगामी और प्रारब्ध रूप से क्रमशः यह तीन प्रकार से कहे जाते हैं। जो इनमें से इस काया को आरम्भ करके फल, सुख दुःख रूप देने को अभिमुख (प्रस्तुत) व तैयार होते हैं, यही प्रारब्ध कर्म कहे जाते हैं और जो अभी होते जा रहे हैं और आगे फल देंगे, वह आगामी कहे जाते हैं। जो शेष पड़े हुए मन में संचित रूप से एकत्र हुए-हुए भोगने में अभी नहीं आए और न कोई शीघ्र आगे भोगने में आने का अवकाश ही है। वह सब अनन्त समय से एकत्र हुए-हुए संचित रूप कर्मों की कक्षा में पड़े रहते हैं। यही सब संचित कर्म कहे जाते हैं। यह भी अपने आप पड़े हुए कभी भी नष्ट नहीं होते, केवल ज्ञान की अग्नि से ही दग्ध हो जाते हैं, जो कि आत्म साक्षात्कार रूप है। यह साक्षात्कार सब बन्धनों के (अविद्या आदि १० बन्धनों, दृष्टि, संशय, शीलव्रत परामर्श, राग, द्वेष, रूपराग, अरूपराग, मोह, मान एवं अविद्या के) पूर्णतया नष्ट होने पर ही होता है और उससे सब कर्म जल कर भस्म हो जाते हैं।

वर्तमान दुःख सुख के भोग से तो केवल प्रारब्ध ही समाप्त होता है और शेष कर्मजाल तो उस ज्ञान अग्नि से ही समाप्त होता है।

हो सकता है कि कोई एक जन इतना परिश्रम इसी

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

संसार में रहकर कर सके कि जिससे उसके सूक्ष्म क्लेश भी मैत्री आदि बलों की प्रब्ल भावना से नष्ट हो जाएं। और प्रतिप्रसव (क्लेशों के विपरीत उत्तम गुण उपजाने से) द्वारा उस के मैत्री आदि से ही नवीन पुण्य उदय हो जायें और प्रथम का भाग्य भी क्षीण होकर उसकी ऐच्छिक चर्या अर्थात् इच्छानुसार शुद्ध जीवन की विभूति पाना रूप फल की प्राप्ति कर दे और वह प्राप्त पूर्ण काम रूप से जब तक चाहे इस संसार में विहार करे। और अपने में देह त्याग पर्यन्त पूर्ण सामर्थ्य को रखे और उसी के साथ रहे और कुछ भी विपरीत न पड़ने दे। परन्तु ऐसा व्यक्ति पुनः-पुनः अवतार रूप से ही आदृत हो जाता है। यदि वह जगत् में प्रकट हुआ तो, यदि प्रकट न हुआ तो, सिद्ध रूप से सिद्ध काया में गुप्त भले रहे। सब में उसका प्रकट होना अतीव कठिन होता है। अस्तु ! मनुष्य को इतना इस ऊपर कही स्थिति के लिये लालायित तो नहीं होना चाहिये, परन्तु मोक्ष का साधन करते-करते सारा जीवन धर्म से ही व्यतीत करना उचित है। जो भाग्य से आन पड़े, उसमें विवेक को जाग्रत रखे और स्मृति और मन की उपस्थिति रखे। विपरीत कुछ न होने दे। भाग्य क्षीण हो वा नहीं, इस चक्र में न पड़े। मोक्ष प्राप्ति तो अपने साधन से अवश्य हो ही जायेगी।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

卐 पुरुषार्थ 卐

(End to Achieve by Human Efforts)

पुरुषार्थ नाम है मनुष्य के उस उद्योग या हिम्मत का, जो अपने हित साधने के लिये और अहित से बचने के लिए वह करता है। यह फलतः वीर्य रूप ही होता है। जिसमें सब अच्छा करना और खोटे से बचते रहना है अर्थात् पुण्य उत्पादक शुभ कर्म करना और अशुभ कर्मों का त्यागना कि आगे वह कभी भी न बन पाएं और चौथे रूप में शुभ कर्मों को भी इस प्रकार करना कि वह सदा मन में बने रहें। सब अशुभों को व अवगुणों का त्यागना और सब गुणों को एकत्र करना। काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, मत्सर, मद और अधैर्य इत्यादि सब अशुभ गुण हैं; इसी प्रकार वैराग्य, क्षमा, सन्तोष, मैत्री, धैर्य इत्यादि शुभ गुण हैं। यह बिना बड़े परिश्रम के धारण नहीं किये जा सकते। इनके लिए निरन्तर यत्न बनाए रखना, ताकि यह सदा बनते रहें। यही सब पुरुषार्थ है। वैसे ही काम, क्रोध, इत्यादि जितने भी विकार हैं यह सब पशु पंछी के समान मनुष्यों में भी बिना यत्न के होने को आते हैं और सब अशुभ कर्म करवाते हैं। इनको भी यत्न व परिश्रम से टालते रहना, यह सब पुरुषार्थ है।

वैसे तो धर्म ग्रन्थों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह चार पुरुषार्थ बतलाये गये हैं। जिस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिये मनुष्य यत्न करता है, वह पुरुष का प्रयोजन रूप पुरुषार्थ शब्द से कहा जाता है। मनुष्य को धर्म का

आचरण करना भी उसके भावी सुख रूप प्रयोजन के लिये है। इसी प्रकार लौकिक सुख हेतु धन उपार्जन भी पुरुषार्थ रूप पुरुष का प्रयोजन है और प्रकृति की जगत् चलाने वाली शक्ति, काम, व काम सुख का भी पुरुषार्थ रूप से ही पुराने लोगों ने गणना (गिनती) की है। इस काम सुख का जन साधारण त्याग नहीं कर सकता। बल से, बिना पूर्ण ज्ञान के त्यागने पर मनुष्य का सन्तुलन भी दैवी शक्ति नष्ट कर सकती है, जिससे कि वह अपने जीवन का भी सदुपयोग उचित प्रकार से न कर पाये। इसलिये पुराने ऋषियों ने इसे भी पुरुषार्थ रूप से स्वीकार किया है। वास्तव में तो यह प्रकृति की सहज प्रेरणा के फलस्वरूप सब को प्राप्त ही है। इसलिये सबसे उत्तम, व, मनुष्य का वास्वत में पाने और चाहने का तो मोक्ष रूप ही पुरुष का प्रयोजन है। इसी लिये इसको अन्त में कहा जाता है। और इसी के निमित्त उत्तम मोक्षोपयोगी धर्म भी पुरुषार्थ रूप से ही समझा जाता है। अस्तु! जो भी कोई पुरुष का प्रयोजन हो, जिस के निमित्त अपने उद्योग और यत्न को दुःख सहन करके भी पुरुष करता है, वह सब पुरुष का पुरुषार्थ रूप से कहा जा सकता है। परन्तु शुभ और शुक्ल धर्म द्वारा मोक्ष ही सब पुरुषों का परम प्रयोजन रूप पुरुषार्थ सब के लिये चाहने को निर्विवाद रूप से उपस्थित होता है। क्योंकि संसार के सुखों को भोगते-भोगते जो दुःख उत्पन्न हो गये, उनसे मुक्ति या मोक्ष कौन नहीं चाहेगा ? परन्तु यह जब तक संसार बन्धन मन से न उतरे, तब तक असम्भव है कि इनके

卐卐

दुःख से मोक्ष प्राप्त हो। इसलिये आत्मा में अर्थात् अपने आप में ही प्रतिष्ठा पाने पर यह संसार या भव बन्धन छूटेगा और तभी आत्मा का सुख व्यक्त होगा, तो ही मोक्ष प्राप्त हुआ समझा जायेगा। इसलिये मोक्ष ही सब की इच्छा का पुरुषार्थ है; सब का परम प्रयोजन है।

卐卐

卐 संस्कार 卐

(Impressions)

संस्कार नाम उन छापों का है जो अन्तःकरण या मन में गूढ़ रूप से पड़े रहते हैं। जैसे कि किसी वस्तु को देखा या अनुभव किया या किसी काम को किया, वह काम या कर्म तो तुरन्त समाप्त हो गया, परन्तु उसकी छाप मन में गूढ़रूप से या सूक्ष्म रूप से बसी रहती है, यही संस्कार है। और भी, जैसे कि कोई इन्द्रियों से ज्ञान हुआ, कान से सुना, आँख से देखा, जिह्वा से रस लिया, नाक से सूंघा और त्वचा या, चर्म से छूआ, यह सब पाँच इन्द्रियों के ज्ञान हैं। यह सब ज्ञान, जिस समय इन्द्रियों को अपने-अपने विषय के साथ सम्बन्ध होता है, तब उत्पन्न होते हैं। परन्तु यह ज्ञान सदा बने नहीं रहते हैं; हो-हो कर मिटते जाते हैं; परन्तु इनके छापे सूक्ष्म रूप से अन्तःकरण या मन के अन्दर बसे रहते हैं। यह सब संस्कार रूप हैं। यह सब नष्ट नहीं होते, चाहे अनन्त जन्म बीत जाएं। इन्हीं संस्कारों की दिव्य दृष्टि द्वारा योग रूप धर्म से ज्ञान करने पर कई योगी लोग अपने पूर्व जन्मों को भी इसी प्रकार याद कर लेते हैं, जैसे कि सामान्य जन अपने अन्दर बसे हुए इस जन्म के संस्कारों से बचपन, लड़कपन, जवानी (यौवन) इत्यादि की सब बातें स्मरण कर लेता है। संस्कार उसका नाम है जिससे स्मृतियाँ या यादें उत्पन्न होती हैं। यह संस्कार ही बार-बार अपने वस्तुओं को मन में स्मृति द्वारा उपस्थित

करके मनुष्य के काम, क्रोध इत्यादि विकारों को पैदा करते रहते हैं। अल्पकाल के लिये भी मन खाली हुआ अर्थात् कुछ जानने के लिये न दिखा, इसी का नाम अविद्या आ गई और मन की उपस्थिति न रही, तो यह संस्कार ही अपने आप स्फुरित होकर अपनी पुरानी वस्तुओं को या पुराने अभ्यासों को जगा कर या उद्‌बुद्ध करके मनुष्यों को पुनः पूर्व किये हुए कर्मों में ही मनुष्य को उलझा देते हैं और उलझाते रहते हैं। यह सब संसार का चक्कर है। और जो अविद्या को नष्ट कर दे और मन उपस्थिति से शून्य (गैरहाजिर) ही न हो तो जगे हुए ज्ञान में अर्थात् चेतन अवस्था में भविष्य का अन्धकार आता ही नहीं, तो यह संस्कार भी अपनी खोटी स्मृतियाँ (यादें) उत्पन्न नहीं कर सकते। जब वह यादें नहीं होंगी, तो खोटे पूर्व किये हुए कर्म भी पुनः-पुनः नहीं होंगे, तो साधक संसार चक्कर से भी बचा रहेगा।

इसका सारांश यह है कि संस्कार ही उद्‌बुद्ध (जागने पर) होकर मनुष्य को संसार में ले जाते हैं, जिनको अविद्या जगाती है। यदि वह अविद्या जड़मूल से नष्ट हो जाए, चेतन ज्ञान रूप सदा भासमान रहे, तो संस्कारों को उद्‌बुद्ध होने का अवकाश ही नहीं है। उस आत्मा में सदा दुःख का अभाव (न होना) ही रहेगा। उससे सामान्य सुख प्रकट रहेगा, तो संस्कार जागेंगे ही क्यों ? संस्कार तो तब जागते हैं, जब आत्मा पर या ज्ञान पर पर्दा पड़ जाए। पुराने संस्कारों की खींच व उनके तनाव व उनके दबाव से आत्मा में ऐसे प्रतीत हो, जैसे ज्ञान का न होना

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

(अभाव) सा हो; तो झटपट कोई भी ज्ञान प्रतीत करने के लिए संस्कार मन में उपस्थित होकर अपने विषयों का ज्ञान स्मृति रूप से प्रकट करके मनुष्य के मन को जीता हुआ सा बसा हुआ अनुभव करवाते हैं। जीव नष्ट तो होना चाहता नहीं। इसलिए वह सदा जगे हुए ज्ञान को ही बनाए रखना चाहता है। जहाँ यह ज्ञान ढका अर्थात् इसी का नाम है जहाँ अविद्या आ गई तो मनुष्य ज्ञान रूप जीवन के लिए छटपटाता हुआ संस्कारों को उत्पन्न (प्रादुर्भूत) कर लेता है। इससे पुरानी स्मृति रूप ज्ञान को पाकर कम से कम अपने आप में बना हुआ सा अनुभव करता है। यदि कोई ज्ञान न हो तो इसको यूँ प्रतीत होने लगता है कि जैसे वह नष्ट होने जा रहा है। इसलिए इस नाश की शंका से बचने के लिए किसी भी ज्ञान को उपजा कर अपने आप को बना हुआ या बसा हुआ अनुभव करता है। यदि इसे शुद्ध चेतन या ज्ञान रूप का अनुभव ही बना रहे तो क्यों वह तुच्छ संस्कारों के ज्ञान को उपजा कर नाश की शंका से बचे ? इसलिए बस ! जब आत्मा बन्धनों से रहित हो जाने से सदैव काल के लिए ज्ञान रूप से प्रकाशित हो जाए, तो अविद्या जड़मूल से नष्ट हो गई; तो अब आत्मा का ज्ञान ही जागता रहेगा। संस्कारों को उद्बुद्ध होकर संसार रचने का अवकाश (मौका) ही नहीं रहेगा। यह सब संस्कारों का क्लेश और उसका प्रवाह बतला दिया गया है।

卐卐

卐 वासना 卐

(Established Past Deeds)

वासना नाम उस का है जो बसा रहने वाला तत्त्व है। यह संस्कार रूप ही होते हैं जैसे कि किसी पात्र में घृत (घी) पड़ा हो और उस घृत को वहाँ से निकाल लिया जाए तब भी उस घृत की स्निग्धता (चिकनाई) या गन्ध कुछ उस में बसी ही रहती है। उसी से लोग कहते हैं कि इसमें घी की वास आ रही है। यह घी की वासना जैसे वहाँ है ऐसे ही मन में बसी हुई वासनायें, सब ज्ञान और कर्मों की कुछ बसी हुई शेष अवस्था का नाम वासना है। यही पुनः-पुनः मनुष्य को कर्मों में प्रेरित करती हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि मनुष्य कर्म करने में पूर्ण परतन्त्र (पराधीन) है। परन्तु इनकी प्रेरणा अवश्य रहती है। यह प्रेरणा पशु, पक्षी इत्यादि जीवों को तो चलाती रहती है। परन्तु मनुष्य के अन्दर बुद्धि विज्ञान होने के कारण से हित और अहित का बोध जगाया जा सकने के कारण से इन वासनाओं द्वारा जो प्रेरणाएं सब प्रकार से कर्म करने की होती हैं उनको टाल कर अच्छे शुभ कर्म करने की शक्ति, त्याग और तप द्वारा प्राप्त की जा सकती है। इन वासनाओं की अधीनता त्यागी जा सकती है। केवल अल्प-अल्प सुख का लोभ त्यागने की आवश्यकता है। वह ज्ञान द्वारा किया जा सकता है। भावी दुःख के भय को पहले से ही देखते हुए उस वासना की प्रेरणा को लांघा जा सकता है।

यह सत्य है कि जो कर्म हम ने पीछे किये हैं, उस कर्म रूप बीज से दो शाखाओं वाला वृक्ष पैदा होता है। जिन में से एक शाखा तो है, सुख दुःख रूप कर्म का फल देने की, इसका नाम है अदृष्ट प्रारब्ध। दूसरी शाखा है वासनाओं की अर्थात् उन बसे हुए कर्म के संस्कारों की, जो कि किये हुए कर्मों को पुनः याद दिलवाकर उनका आकर्षण दिखा कर पुनः उन्हीं कर्मों में प्रेरित करना। अब यदि कोई प्राणी विवेक को अपनी बुद्धि द्वारा जगाकर उस कर्म के फल का त्याग कर दे और त्यागने के दुःख को बुद्धि पूर्वक सहन करने के लिये स्वीकार कर ले, तो जरूरी (आवश्यक) नहीं है कि यह वासनाएं मनुष्य को फिर अपने करवाए हुए कर्मों के ही बन्धन या चक्कर में डालें। यह ठीक है कि अविवेकी व दुर्बल मन वाले व्यक्ति को तो उसके विवेक को बहा कर खोटे कर्मों में या पूर्व किये हुए कर्मों के चक्कर में डाल दें, परन्तु हृदय में भगवान् को बुद्धि द्वारा विवेक के रूप में बसाये रखने वाले व्यक्ति के लिये इनका बल, शनैः-शनैः अत्यन्त विनाश को प्राप्त हो जाता है। इसी का नाम वासना का क्षय है। इस वासना के क्षय से इन वासनाओं का तनाव व दबाव रूपी बल या बाध्यता मन से नष्ट हो जाने पर ज्ञान रूप आत्मा हल्का होकर निद्रा के सुख के समान अपना सहज सुख प्रकट कर देता है; जो कि इन वासनाओं से मुक्त हुए व्यक्ति की दृष्टि में सदैव काल के लिए बसा रहता है।

सत्य से कहा जाए तो ऐसे प्राणी के लिये तो काल की भी कोई सत्ता नहीं रहती। काल तो केवल उन्हीं जीवों के लिये सृष्टि को उपजाने हेतु या निमित्त बनता है, जिन्होंने काल के सुखों को लेना हो; कोई सुख प्रभात में, कोई रात्री में, कोई दिन में, कोई ग्रीष्म, वर्षा, शीत काल में लेना हो, तो बस इन्हीं के लिये काल की वासनाओं द्वारा उन तृप्तियों के लिये काल हेतु है और हेतु रूप से बना रहता है। जब कोई वासना रही ही नहीं, तो इस काल का भान भी उस मुक्त ज्ञान रूप आत्मा में नहीं होता।

इसी प्रकार देश और व्यक्तियों का भी बन्धन इस मुक्त आत्मा के अन्दर नहीं रहता। क्योंकि इस आत्मा में देश और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के सुख की भी आकांक्षा न होने से उनकी वासनाएं नहीं रहतीं। यही सब वासनाओं का क्षय होने से मन का भी नाश हो जाता है। यही वासना क्षय और मनोनाश ग्रन्थों में कहा गया है। परन्तु इन वासनाओं को नाश करने के लिये अविद्या का पर्दा हटना जरूरी है। यह तब तक बना रहता है, जब तक कि आत्मा का ज्ञान पूर्ण रीति (अर्थात् आनन्द स्वरूप में) से नहीं भासमान होता। क्यों नहीं भासमान होता ? क्योंकि वही संसार के दस बन्धन अपनी खींच बनाए रखते हैं। उन्हीं के तनाव व दबाव से आत्मा का ज्ञान प्रकट नहीं होता और छुपा रहता है। तभी ही झटपट ज्ञान रूपी प्राण देने के लिये यह संसार की वासनाएं जाग जाती हैं। यदि ज्ञान और विवेक का बल रूपी प्राण

मन को देकर इन बन्धनों के तनाव और दबाव को समाप्त कर दिया जाये, तो अविद्या पूर्ण रीति से टलने पर मुक्त ज्ञान प्रकट रूप से हल्का सा होकर अपने आप में सदा जागृत या भासमान रहेगा।

अब इस ज्ञान के जागृत रहने पर दूसरे किस ज्ञान की आवश्यकता रहेगी ? अर्थात् अब वासनाओं के जागने का अवकाश नहीं रहेगा। यही नित्यमुक्ति है।

संस्कार और वासनाओं में अन्तर केवल नाम मात्र का है। कुछ उसके शब्दार्थ का है। जैसे कि संस्कार तो केवल स्मृतियों को या यादों को उत्पन्न करके प्रेरणा करते हैं और पुनः-पुनः संसार को रचते हैं। वासना केवल यही संस्कार बसे रहने के कारण कहे जाते हैं और पुनः-पुनः उन्हीं कर्मों में प्रेरित करते हैं। यह जो बसे हुए तत्त्व हैं इनसे जब तक छुट्टी (छुटकारा) न मिले, तब तक मुक्ति के सुख का कोई अर्थ नहीं।

卐卐卐

卐 विवेक 卐

(Right Knowledge; Distinctive Knowledge)

विवेक का अर्थ है कि जो वस्तु जैसी है उसको वैसा समझना और पहचानना। जैसे कि प्रकृति के सुख सब अनन्त दुःख में समाप्त होते हैं और दुःखों की ओर ही बढ़ाते रहते हैं। यह भी विवेक है। और प्रकृति के सुख सदा बने भी नहीं रहते। यह सत्य भी यदि मन में प्रकट हो गया, तो यह विवेक ही कहा जाता है और प्रकृति के रास्ते पर चलते हुए को जो सुख मिलते हैं उनकी न समाप्त होने वाली प्यास रूप तृष्णा की आग इतनी इन विषय सुखों से प्रचण्ड हो जाती है कि जिसको कभी भी शान्त करने के लिये (विषयों द्वारा शान्त करने के लिये) सोचा भी नहीं जा सकता। यदि इस तृष्णा को विषय देकर ही शान्त करने की कोई सोचे, तो यह रोग और शोक को बढ़ाकर मन को अनन्त दुःख में ही उलझा देगी। यह सब ध्यान द्वारा मन में प्रकट या स्पष्ट रूप से समझना और महसूस करना, यही सब प्रकट विवेक है। इस विवेक द्वारा मनुष्य को प्रकृति के सुखों से या बाहरी संसारी सुखों से वैराग्य उत्पन्न हो जाएगा, तो वह अपनी इन्द्रियों को विषयों से दूर रखेगा अर्थात् इन्द्रियाँ दमन का अभ्यास करेंगी। यह एक तप रूप है। इसी प्रकार जब इन्द्रियों से विषय सेवन नहीं करने, तो उनके लिये चिन्तन करने वाले मन को भी नहीं उपजने देगा। यही मन को शमन करने की शम रूप सम्पत्ति है; और भी

सब प्रकार से विपरीत दिशा में भड़कने वाले मन को अर्थात् मोक्ष मार्ग से विपरीत चलने वाले मन को शान्त करना या शान्त रखना, यह सब विवेक वैराग्य से ही होता है।

विचार द्वारा उत्पन्न हुए-हुए विवेक से पुनः वैराग्य होकर मन को विषयों से उपराम होना रूप सम्पत्ति को भी करता है। अर्थात् विषयों का दुःख विवेक द्वारा प्रकट मन में भासने पर वे सब विषय, और विषयों के सुख नीरस, फीके से प्रतीत होने लगते है और मन पुनः उनको स्मृति में भी लाना नहीं चाहता, और उनके संग त्यागने पर जो मन को कष्ट है उसे शान्त भाव से सहना, उन विषयों के त्याग का दुःख न मानना, और विषय सुख त्यागने पर थोड़ा मन का कष्ट प्रतीत करने पर चिन्ताग्रसित न होना इत्यादि का साधन रूप धन, विवेक की ही कृपा से उपजता है। और पुनः विवेक की ही शक्ति द्वारा श्रद्धा रख कर मन यत्न करने पर मन की सब उलझन शान्त होने पर ध्यान में समाधि सुख भी मिलता है। यह सब विवेक ही की कृपा है। जब विवेक जागता है, तो मनुष्य का मन अन्तर्मुख होता है। बाहिर्मुख मन को तो विषय सुख ही भासता है। जब मन अन्तर्मुख होता है तो जीवन की घटनाओं पर, और दिनों दिन चले जाने वाले जीवन पर दृष्टिपात ध्यान में मनुष्य करता है और वहाँ विचार उत्पन्न होता है। जब विचार अन्तर्मुख मन में उत्पन्न हुआ तो वही सत्य की स्थिति मन में विवेक रूप से प्रकट होती है। मनुष्य सोचता है कि

मैं क्या कर रहा हूँ ? कौन दिशा में प्रवृत्त हो रहा हूँ ? जिस दिशा में मेरे अभ्यास (आदतें) मुझे ले जा रहे हैं, इधर तो भविष्य में दुःख ही दुःख सूझता है। रोग, चिन्ता, जरा अवस्था का दुःख, पुनः इन विषय सुखों का वियोग इत्यादि तो पुनः मेरा भविष्य में समय कैसे व्यतीत होगा ? इस प्रकार जैसे-जैसे विचार उत्पन्न होगा, आगे-आगे विचार बढ़ता जाएगा। जैसी-जैसी वस्तुस्थिति है (सत्य का ज्ञान), वैसे-वैसे ही जानकर जगा हुआ विवेक उसे मार्गदर्शन करेगा। यह सब विवेक को पुष्ट करने की दिशा है। इसके पुष्ट होने से ध्यान व समाधि गम्भीरता (गहराई) की ओर बढ़ेगी और यही ध्यान समाधि की सम्पत्ति मनुष्य को सब पापों से, दुःखों से और बन्धन विकारों के अनर्थ से सुरक्षित (बचाकर) रखकर परम पद की ओर ले जायेगी।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

卐 वैराग्य 卐

(Dispassion)

जो कुछ भी संसार में सुख देखने में आता है, इन्द्रियों द्वारा प्राणियों से व पदार्थों से संग करने पर मिलता है; उस सब सुख की ओर से मुंह फेर लेना और मन का मुड़ जाना और उन सुखों की ओर तृष्णा के बिना होना, यही वैराग्य का स्वरूप है। यही वैराग्य जो कि तृष्णा के विपरीत है, देवताओं के सुख में भी न रहे, तो यह वैराग्य मोक्ष का साधन है; यह वैराग्य, विवेक बिना उत्पन्न नहीं होता।

पहले यह वैराग्य सांसारिक सुखों में दुःख देखने पर उत्पन्न होता है। जैसे-जैसे विचार का बल बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे मनुष्य अपने और दूसरों के जीवन को ज्ञान द्वारा परीक्षा में लाकर देखता है कि इस जीवन के सुखों का अन्त किस में है ? जब वह साधक समझता है कि ये सब सांसारिक सुख अन्त में रोग, शोक और कई अन्य उलझन के दुःखों की ही ओर ले जाने वाले हैं; वैर, विरोध, संघर्ष और हिंसा, झूठ, मिथ्याचार और नाना पापों की ओर ही अग्रसर करते हैं, तो पुनः इन सुखों से उसे चिपकाव हटने लगता है। इसी का नाम है कि राग से विपरीत वैराग्य उत्पन्न होना आरम्भ हो गया है। अब यदि मनुष्य वहाँ फिर भी अधिक विचार न करे, तो छोटे मोटे वैराग्य में ही जीवन पूरा कर देगा और आगे आत्मा के अपने अन्दर की शान्ति के अनुभव तक नहीं पहुँचेगा।

वह, हो सकता है, जैसे कि सर्वत्र देखने में आता है, कि बाहर की ही उधेड़बुन में सारा जीवन तेरी, मेरी में ही व्यतीत कर दे। परन्तु यदि समय निकाल कर आसन ध्यान में बैठ कर अधिक समय विचार ध्यान द्वारा जीवन को समझने में, व, इस जीवन के अन्त के बारे में ध्यानरत रहे, तो उसे संसार की प्रत्येक अन्दर बाहर की वस्तु से वैराग्य हो जायेगा। बाहर से प्राणी व पदार्थों से, और अन्दर के मान और सब आराम आदि शिथिलता के सुखों से। इस प्रकार पुनः ज्यूँ-ज्यूँ ध्यान बढ़ता जायेगा, तो उसे सब प्रकार के सूक्ष्म सुखों से भी वैराग्य हो जाएगा। वह साधक मुमुक्षुजन अपने ध्यान की समृद्धि (बढ़ोतरी) में स्वर्गादि से लेकर ब्रह्मादि के भी सब लोकों में अतृप्ति के बीज सूक्ष्म सुख की तृष्णा को पहचान कर उन सब से भी विरक्त (वैराग्य वाला) होकर दुःख सुख सम करके जीवन देखने के व्रत को लेकर, बन्धनों को टाल कर, सब दुःखों का अन्त ध्यान में देख कर सहज आत्मा का ही सुख शान्ति अपने में पायेगा। यहीं तक वैराग्य की पहुँच है। इससे परे पुनः कुछ भी नहीं रहता। यही अन्त में आत्मा विस्तार भाव से अनुभव करने पर सब की आत्मा रूप परमात्मा के साथ एक करके समझने पर दूसरों के अन्दर के बन्धन भी मुमुक्षु को अपने शान्त सुख से विचलित नहीं कर सकते। अपने बन्धन तो ध्यान में समाप्त हो जाते हैं। परन्तु दूसरों के बन्धनों से मुक्ति (छुटकारा) पाने के लिये बाहर भी सब में रहते हुए, दुःख सुख को सम करके, जीने का अभ्यास किया जाता है।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

तब व्यापक जीवन का भी पता चलता है। तभी इसी के पूर्ण ज्ञान से परमात्मा या ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है। इसी से बाहर से भय की पूर्ण निवृत्ति होती है। यदि ध्यान में कोई मुक्त हो भी गया, तो बाहर का व्यापक पुरुष तो अविद्या से ही ढ़का रहेगा। उसके शब्दादि और उनमें व्यक्त होने वाले भाव विकारादि मनुष्य को ध्यान में भी भयभीत करेंगे। इसलिए व्यापक को भी जानना आवश्यक है। व्यापक का नाम ही ब्रह्म है। यही विस्तार वाले को, वैराग्य मन में रखकर, मैत्री आदि बलों से आराध कर पूर्णतया जाना जा सकता है। और जान कर पुनः भय के सब कारणों को समझ कर उन्हें वैराग्य द्वारा त्याग कर अपने में सहज समाधि (सदा बना रहने वाला समाधान) साधा जाता है। यहाँ इसके बारे में अज्ञान या अविद्या है, वहीं भय छुपा हुआ है। यहीं अभी भय है, तो वहाँ निर्भयता व मुक्ति का सुख नहीं। जब पुरुषमात्र जिसका कि जगत् में भय है, उसे पूर्ण रीति से पहचान लिया कि पुरुष के जगत् में भय का कोई कारण नहीं और भय के कारणों से वैराग्य प्राप्त कर लिया, तो केवल अपने में भी उस पुरुष के वास्तव स्वरूप में प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। यही सच्ची विमुक्ति है, जोकि वैराग्य बिना नहीं साधी जा सकती।

卐卐

卐 तप 卐

(Austerity-Practice, Practice of Austerity)

इस प्रकृति का प्रायः सभी जीवों में जीवन को स्वाभाविक रीति से काम, क्रोध आदि के सहित चलाने वाली शक्ति का विरोध करने पर या इसके विपरीत दिशा या मोक्ष के मार्ग पर चलने में जो दुःख हो, उसको बुद्धिपूर्वक सहन कर लेना और अपना विवेक और विचार न खोने देना, इसी का नाम तप है। तपने का नाम भी तप है। प्रकृति के विपरीत चलने पर जो मन में ताप या दुःख रूप है उस को सहन कर लेना और करते जाना, इसी सब का नाम तप है। यदि प्रकृति का काम, क्रोध इत्यादि अपनी शक्तियों द्वारा, विरोध करने पर तथा इसी कारण से दुःख प्रतीत होने पर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि भटक गईं, तो यह सुन्दर तप नहीं रहेगा। इसका भाव यह है कि प्रकृति के अपने काम, क्रोध आदि शक्तियों द्वारा विरोध करने पर यदि मन भटक गया और प्रकृति के अनुकूल ही चलने की सोचने लगा, तो यह सुन्दर तप नहीं रहेगा। किन्तु मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ वही पूर्व अभ्यास (पुरानी आदतों) के विषय की ओर ही दौड़ती रहेंगी और उसी उलझन में पड़ी रहेंगी। इसलिए इस प्रकृति के विरोध में होने वाले दुःख को जो धैर्य से सहन करके अपने आप को, इन्द्रियों, मन व बुद्धि को समाहित रख सके अर्थात् अपने बस में रख सके, वही यथार्थ में तपस्वी है अर्थात् तप करने वाला है। इस तप रूप खेद से चलायमान न हो

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

और दीर्घ (लम्बे) समय तक इसको आसन पर भी यदि सहन करता हुआ कोई बैठा रहे, तो यह तप अन्त में सब तृष्णा के दुःख को समझ के साथ जीतने में, और सब दुःखों से छुटकारा दिलाने में व परम पद रूप मोक्ष और समाधि को साधने में पूर्ण सहयोग देता है। यह तप तो अपने आप में या अपने अन्तरात्मा में ही हो गया। इसी प्रकार बाहरी जगत् में दूसरों के संग से जो दुःख मान हानि इत्यादि का, कटु वचन या और भी, किसी का वैर-विरोध इत्यादि-इत्यादि कई कारणों से होता है, उसको भी शान्त शीतल मन से सहन करले, तो यह तप उस साधक को महान शक्ति प्रदान करता है।

वैसे तो तप के कई प्रकार हैं। बाह्य कठोर तप जैसे कि कई तपस्वी करते है; सदा खड़े ही रहना, वा, अग्नि के कष्टदायक ताप को सहना, वह भी ग्रीष्म काल में; और धूप के तीक्ष्ण होने पर ऐसे तप को करना; वैसे ही शीतकाल में शीतल जल में खड़े रहना, व, शीतल जल की धारा को दीर्घ समय तक अपने ऊपर गिराते रहना। अनियमित ढंग से भूख को सहना, कई-कई दिन अन्न को ग्रहण न करना। नग्न रहकर शीत, शैत्य काल (शीत ऋतु) के दुःख को सहना; और पुनः रात्री में निद्रा का न लेना इत्यादि-इत्यादि, बहु प्रकार के तप हैं। यह सब कठोर तप कहे जाते हैं। इन सबका ज्ञान द्वारा मोक्ष पाने के मार्ग में कोई भी उपयोग नहीं है। हाँ, अल्प तप अर्थात् जितना कि शरीर की आवश्यकता से अधिक है, उस सब के त्यागने से जो कुछ दुःख, व, खेद मन को हो, उसको

卐卐

धारण करना, यही भद्र या श्रेष्ठ तप मोक्ष मार्ग के अनुकूल है। और भी पीछे कहे जो मोक्षोपयोगी तप इन्द्रियों, व, मन, बुद्धि को धारण करने के लिये अभीष्ट हैं (आवश्यक हैं), उन सब तपों को यत्न से साधना मनुष्य के कल्याण के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

卐 तितिक्षा 卐

(Endurance)

तितिक्षा का अर्थ है त्याग या हान की इच्छा; जो कुछ भी दुःख की अवस्था में मन विपरीत होकर करना चाहता है, उन सब को त्यागने की इच्छा रखना अर्थात् उसमें विलाप, क्रोध, चिढ़, चिन्ता और अनुचित रूप से दुःख को टालने का यत्न आदि सब कुछ न करने की इच्छा बनाए रखना, इसी का नाम तितिक्षा है।

थोड़े में इसका यह तात्पर्य है कि मोक्ष मार्ग पर चलने वाले के लिये बहुत से सांसारिक सुखों का त्याग करने पर जो तप या दुःख या उसका खेद, जो सहन करना होगा, उसमें कोई भी चिन्ता या विलाप आदि मन से टालते जाना, मन को स्वस्थ रखना और जिन त्याग के दुःखों को सहन किया जा रहा है, उनको किसी दूसरी प्रकार से टालने का यत्न भी नहीं करना। परन्तु इन दुःखों को सहन करके मन और बुद्धि को स्थिर रख के वह बल प्राप्त करना है, जिससे दुःख में धैर्य या स्थिरता प्राप्त हो और इस धैर्य या स्थिरता से दुःख को सहन करते-करते दुःख अपने समय पर बिना किसी बाहर के उपाय से अपने आप ही टल जाए और टल कर उसी मन में सुख शान्ति का अनुभव हो, यही मुक्ति का सुख है। इसी साधन के लिये तितिक्षा परम कारण है।

श्रद्धा

(Confidence in Right Faith)

श्रद्धा नाम मन के उस सात्त्विक भाव का है, जिससे मनुष्य के अन्दर तर्क-वितर्क व कुतर्क, उसके भले के रास्ते चलने वाले विश्वास को पीड़ित नहीं करते। जैसे कुछ कल्याण, और दुःखों से भी मोक्ष का मार्ग सुनने में आता है और उसी में अपने मन को "ऐसा ही सत्य है", इसका ही विश्वास करके उस रास्ते पर चलने की हिम्मत या उद्योग करवाने वाला जो मन का सरल सादा भाव है, उसी का नाम श्रद्धा है। यह श्रद्धा सबसे प्रथम तो उस भगवान् में होती है, जो कि परम कल्याण का धाम है। क्योंकि यह ही पहुँचने का स्थान है। यह दीखता तो है नहीं, तर्क-वितर्क से भी निश्चय नहीं किया जा सकता। परन्तु जिन्होंने इस सत्य को अपने तप, त्याग व परिश्रम से प्रत्यक्ष रूप से पाया है, केवल उन्हीं के ध्यान में वह आता है। अपने मन को उस भगवान् के सम्मुख शिथिल कर देना, ढीला छोड़ देना, ताकि उनमें विश्वास होकर उस रास्ते पर (भगवान् के रास्ते पर) चलने की प्रेरणा मिले। यह प्रेरणा श्रद्धा बिना नहीं हो सकती। प्रेरणा बिना चला भी नहीं जाता। इसी के निमित्त ही कुछ अपनी बुद्धि से उनके रास्ते को बताने वाले, श्रद्धा के योग्य व्यक्ति पर भी युक्ति युक्त श्रद्धा करनी पड़ती है, और उनके वचनों में भी युक्ति युक्त श्रद्धा करनी पड़ती है। क्योंकि यह सब चले बिना अपनी बुद्धि से मनुष्य तो समझ नहीं सकता।

यह कल्याण या परम पद कोई लौकिक (दुनियावी) चीज तो है नहीं, जो कि लोगों के व्यवहार ११ पता पड़ने पर दुःखों में अपने मन को धारण करेगा। यह तो जिसने अपने मन को कमाया है (तप, त्याग किया है) और करके रास्ते का अन्त पाया है और जिस ने इस सत्य का और परम पद रूप सब दुःखों से विमुक्त रूप फल का अनुभव संसार में रहते रहते किया है, उसी को ही इसका पूर्ण ज्ञान है। दूसरे लौकिक मनुष्य को नहीं हो सकता। उसको तो ऐसे व्यक्ति के या उन सबके प्रथम होनें वाले, इस रास्ते की पूर्णता को पाने वाले भगवान् में ही श्रद्धा करनी पड़ती है कि जैसे वह कहते हैं वही धर्म रूप रास्ते पर चलने के लिए सत्य है और मुझे भी बिना किसी संशय या भ्रम या विपरीत ज्ञान के उस पर चलना चाहिए; यही सब श्रद्धा का अर्थ है।

यह श्रद्धा सदा श्रद्धा रूप से नहीं रहती; जब सत्य के रास्ते पर चलने का उद्योग किया जाएगा, तो इसमें मन का पूर्ण न्याय संगत, (युक्तियुक्त या तर्कसंगत) विश्वास बनता जाएगा या फल की प्राप्ति हो जाएगी; तो श्रद्धा के स्थान पर पूर्ण साक्षात्कार रूप प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाएगा; तो कोई शंका आदि की आवश्यकता नहीं रहती और तब श्रद्धा की जरूरत भी नहीं रहती। श्रद्धा तो अनभिज्ञ (अनजान) प्राणी को रास्ते पर चलाने के लिए है। जब चल कर उस ने पहुँच का स्थान पा लिया, तो श्रद्धा भी प्रत्यक्ष विज्ञान रूप में परिणत (बदल) हो जाती है। यह सब श्रद्धा है। असत्य श्रद्धा तो ऐसे ही नाना

卐卐

प्रकार की बातों में हो सकती है, परन्तु उसका मोक्ष मार्ग में कोई उपयोग नहीं। यहाँ तो केवल परम पद पर पहुँचा हुआ भगवान्, और उसी के रास्ते पर चलने-चलाने वालों में, और उन के मार्ग पर चलने चलाने वालों के धर्म की श्रद्धा को ही स्थान है, दूसरी श्रद्धा को नहीं।

शून्य

(Emptiness)

शून्य नाम रिक्त (खाली) स्थान का है। जैसे कि किसी कोष्ठ (कोठा) में बहुत सामान भरा हो, तो वह कोष्ठ (कोठा) भरा हुआ कहा जाता है और यदि उसमें से उस की एक-एक करके सब वस्तुओं को बाहर पटक (निकाल) दिया जाए तो वह कोष्ठ (कोठा) शून्य हो गया कहा जाता है अर्थात् उसमें अब कुछ नहीं रहा। इसी प्रकार चेतन या आत्मा या न टूटने वाली ज्ञान की धारा सदैव बह रही है। उसमें अविद्या, मान, मोह, राग, द्वेष, संशय और अनन्त प्रकार की दृष्टियाँ और उनके अनुसार कई प्रकार के बिना वश के होने वाले कर्म रूप भंवर पड़ते रहते हैं। जब कोई भी यह पूर्व कहे गये भंवर न पड़ें अर्थात् शुद्ध ज्ञान विज्ञान रूप से आत्मा या चेतन हल्का होकर खाली हुआ हुआ अपने सुख के साथ भासमान हो, तो यह शून्य अवस्था कही जाती है। इसी को शास्त्रों में शून्य करके कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा पर लदे हुए संसार के बन्धनों के भार को विवेक, वैराग्य और ध्यान समाधि द्वारा बिल्कुल बाहर पटक (निकाल) देना इसे कोरा, केवल जो ज्ञान, उस की ही अवस्था कही जाएगी। कोठे के दृष्टाँत के समान यही यदि अवस्था अविद्या या अज्ञान आदि से भी शून्य हो जाए, तो यह परम शून्य मुक्त अवस्था का स्वरूप है। इस में चेतन रूप ज्ञान का अभाव (न होना) नहीं होता। जैसे

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

दृष्टाँत में कोठे की वस्तुएं ही पटकी जाती हैं, कोठा नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार चेतन पर लदा हुआ भार (बोझ) ही ज्ञान, ध्यान द्वारा पटका जाता है। ज्ञान विज्ञान रूप चेतन अपने स्वरूप से नहीं पटका जा सकता, वह तो केवल मुक्त शुद्ध स्वरूप से प्रकाशमान होता है। शून्य अवस्था तो केवल इस पर (चेतन पर) लदे हुए भार को फैंकने के लिये ही दर्शाई गई है।

इसका तात्पर्य यह है कि जब चेतन इन सब बन्धनों से शून्य होगा, तो ही मुक्त अवस्था का अनुभव होगा।

卐卐

卐 क्षमा 卐

(Forgiveness)

वैराग्य का सम्बन्ध तो काम रूप सुखों के साथ था अर्थात् उनसे मन को निवृत्त करना, उन से मुंह मोड़ना, परन्तु क्षमा का सम्बन्ध क्रोध के साथ है अर्थात् जब किसी का सुख बिगड़े और दुःख अनुभव में आए, तो मन में क्रोध उपजता है और दुःख देने वाला प्राणी वैरी और अपराधी प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में उसके प्रति क्रोध द्वारा जो कुछ भी मन में कुछ विपरीत करने के लिए और उसके प्रति क्षति या नुकसान पहुँचाने के लिए मन में उत्तेजना आती है, उसको अपने आप में शान्त करना और उस व्यक्ति के प्रति कोई द्वेष भाव न रखना, यही सब क्षमा का रूप है उसके अपराध का मन में विचार होने पर मन में कुछ विपरीत करने कराने को न सोचते हुए अपने मन को निकट से अपने में ही शान्त कर लेना, क्षमा का रूप है। किसी से दुःख मिलने पर वह व्यक्ति अपराधी जैसा प्रतीत होता है। उस अवस्था में मन के भड़काव को रोक कर उसके अपराध को बहुत महत्त्व न देना, केवल अपने आप में शान्त रहना और उसके लिए द्वेष दृष्टि या वैरी की दृष्टि न बनने देना। यत्न से यदि मन शान्त हो गया और दूसरों के लिए विपरीत करने का भाव न रहा, तो यही क्षमा का स्वरूप है। इसके बिना क्रोध की शान्ति नहीं होती और द्वेष भी नहीं मिटता। इसी क्षमा की ही ऊँची उठी हुई अवस्था का नाम क्षान्ति

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

है। जिसमें क्षमा का अभ्यास करते करते मनुष्य का मन दूसरे के अपराधों को सहन करने का इतना अभ्यासी हो जाता है कि उसे दूसरे के अपराध के दुःख को सहन करने के लिये विचारने की भी आवश्यकता नहीं रहती। वह स्वभाव से ही क्षमा को अपने में बसाये रखता है। यही क्षान्ति का स्वरूप है। परन्तु इसके लिये तप और तितिक्षा की परम आवश्यकता है। दुःख को सहना ही तप है। और उसमें मन को भी शान्त रखना, कुछ करने के लिये उद्यत (उतारू) न होने देना ही तितिक्षा है। इससे परे पुनः क्षान्ति का ही स्थान है। क्षान्ति सम्पादन करने के उपरान्त मन अपने आप संसार से बुझना आरम्भ कर देता है। वह जगत् में दुःख को दूर करने का कोई उपाय नहीं करता, केवल आत्मा में ही सब दुःखों की समाप्ति देखने में यत्नशील रहता है। यह सब उन्नत दशा को प्राप्त हुई-हुई क्षमा और क्षान्ति का ही फल है।

卐 क्षान्ति 卐

(Established Forgiveness)

क्षमा में तो प्राणी या मनुष्य विचार द्वारा अपने मन को क्रोध आदि से निवारण करके शान्त कर देता है। यदि यह शान्त अवस्था बिना ज्यादा (अधिक) सोचे, समझे या विचार किये स्वाभाविक ही मन में बनी रहे अर्थात् थोड़ी ही स्मृति से बिना विचार किये दूसरों के अपराधों को कुछ गिने ही नहीं; थोड़े से केवल दुःख को अनुभव करता हुआ अपने आप में शान्त रह जाए और शान्त बने रहने का अभ्यासी (आदि) हो जाए तो यही क्षान्ति का स्वरूप है। यह क्षान्ति, तप और तितिक्षा की ही बढ़ी चढ़ी अवस्था है। तप के बारे में तो ऊपर कह दिया गया है। तितिक्षा के बारे में यहाँ पर थोड़ा बताना असंगत न होगा कि बिना चिन्ता और विलाप के दुःख को सह लेना और किसी का बुरा न करने के लिये उतारु न होना, यही तितिक्षा का स्वरूप क्षान्ति में सम्पन्न होता है। अर्थात् दुःखों को सहन करना और दूसरे का अपराध न गिनना और स्वाभाविक आदत सी बन जाए कि इस प्रकार सारे जगत् के दुःख को बिना विचारे सहन करते हुए और जगत् का अपराध न गिनते हुए अपने आपको शान्त रखना यह क्षान्ति का स्वरूप है। इससे सारे संसार से मन का बुझना रूप निर्वाण सम्पन्न होता है। जिसके बारे में आगे कहा जाएगा।

卐卐

卐 त्याग 卐

(Renunciation)

त्याग उसका नाम है कि जिधर प्रकृति की संसार को चलाने वाली शक्तियां अपना सुख दुःख दिखा कर मनुष्य को ले जाना चाहती हैं या यहाँ से हटाना चाहती हैं, उस प्रकृति के रास्ते को विचार से त्याग देना अर्थात् उस प्रकृति के सुख को न लेना, इसी का नाम त्याग है। और उन सुख के साधनों को भी यथा शक्ति त्यागते जाना; जैसे अधिक खाना पीना, सोना और अधिक प्राणी व पदार्थों का संग करना, यही सब जो आत्मा में जीवन पाने और अन्त में आत्मा में ही टिकाव पाने के विपरीत जो-जो भी सुख हैं, उन सब को त्याग देना, इसी का नाम त्याग है।

इस त्याग से विचार और विवेक का बल बढ़ता जाता है। और सांसारिक सुख और उनकी सामग्री की तुच्छता भी प्रकट होती है, जैसे-जैसे त्याग भी बढ़ता जाएगा, तो पहले थोड़े बाहर के त्याग से पुनः मनुष्य को पर्याप्त (काफी) अवसर आसन ध्यान के लिए प्राप्त होगा। पुनः यूँ-यूँ ध्यान में बाह्य स्वत्त्व या अपने कहे जाने वाली वस्तुओं की सम्भाल की भी चिन्ता ध्यान सुख को बिगाड़ेगी, तो उनके भी त्यागने का साहस साधक मनुष्य को प्राप्त होगा। उनके बाह्य सुख को दुःखान्त समझने पर पुनः उनको अपने अधिकार या स्वामित्व में (मलकीयत) रखने का कोई भी प्रयोजन न दीखने पर वह भी किसी

दूसरे के लिये ही त्याग दी जायेगी। इस प्रकार धन सम्पत्ति आदि को भी योग्य अधिकारी के अर्पण करने पर मनुष्य का ध्यान और भी उन्नति को प्राप्त करेगा। यह सब बाह्य त्याग है। इसी प्रकार जब मन पुनः इन्हीं के सम्बन्ध से मन के बन्धनों को पहचानेगा, तो पुनः उनको भी जान कर त्यागने का बल प्राप्त करेगा। राग, द्वेष संशयादि से लेकर उन्हीं सांसारिक सुखों के मोह, मान आदि को भी त्याग कर पूर्ण निर्वाण को प्राप्त करेगा। यह सब त्याग का फल है।

卐卐

卐 सन्तोष 卐

(Contentment)

जब संसार की चलाने वाली शक्तियां सुख का लोभ दिखा कर अधिकाधिक उस सुख की ओर प्रेरित करती हैं और मनुष्य नियमों को लांघ कर भी उस प्रकृति सुख को लेने के लिये प्रेरित करती हैं, तो यही प्रेरणा लोभ रूप कही जाती है। इन लोभ से मनुष्य प्रकृति के संसारी सुखों को अधिकाधिक लेता हुआ या अनुभव करता हुआ शीघ्र विनाश की ओर अग्रसर हो जाता है। इस लोभ से मन को मोड़ना और नियमित रूप से बाहरी या सांसारिक पदार्थों का व प्राणियों का संग उतना ही करना, जितना जरूरत का हो और शेष सम्पूर्ण लोभ को त्यागना, उस थोड़े में ही अपने मन को शान्त कर लेना, इसका नाम सन्तोष है। इसके बिना मनुष्य आसन, ध्यान आदि में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। इस लोभ को रोकने का जो खेल है, वह भी तप रूप से धारण करने का है; और जो लोभ, व सुखों को त्यागना है, यह त्याग रूप है; और इसी प्रकार इन्हीं लोभ के सुखों को विचार द्वारा दुःखदाई समझ कर विवेक जगा कर मन को उनकी तृष्णा से हटा देना चाहिए; इसी का नाम वैराग्य है। यह सब ऊपर कहे गुण प्रकृति के बन्धन को या संसार की चलाने वाली शक्तियों के बन्धन को काटने के लिए हैं। इसलिए मनुष्य को यह यत्न से धारण करने चाहिएं। अपने आप तो प्रकृति संसार के प्रवाह में ही जीव को

बहाते रखने के लिये प्रेरित करती है और मनुष्य को भी बहते रहना अच्छा लगता है। यदि मनुष्य थोड़ा बाहर से मुंह मोड़ कर अन्दर की विद्याओं को प्रकट कर ले, तो जीव को सत्य समझने में यह विद्यायें सहायक बनेंगी। तब वह प्रत्यक्ष बाहरी या सांसारिक सुखों से मुंह मोड़ कर अन्दर के सुख को पहचानने के लिये या पाने के लिये प्रेरित होगा और बाहर के सुखों के त्याग का दुःख सहन कर सकेगा, नहीं तो दुःख को सहन करके कोई काम करना भी अति कठिन हो जाता है; परन्तु यदि जगा हुआ विवेक या प्रकट सत्य सुझाव दे कि थोड़ा दुःख सहन करने से अन्त में महान् सुख मिलता है, तो वह प्राणी दुःख की मात्रा को सहर्ष सहन करके उस परम मोक्ष के रास्ते पर अग्रसर हो जाएगा। जैसे कि सामान्यतया (आम तौर पर) जगत् में सांसारिक सुखों को पाने के लिये प्राणी विश्वासपूर्वक अपने प्राण की भी बाजी लगा देता है, इसी प्रकार मनुष्य जीवन के सत्यों को समझे कि बाह्य (बाहर का) सुख का क्या रूप है ? यह किधर ले जाते हैं ? और अन्त कहाँ होते हैं ? तो इसे यही विवेक सत्य को प्रकट करके उचित रास्ते पर अग्रसर कर देगा। चाहे उस पर चलने में दुःख भी क्यों न हो। क्योंकि उसके मन में विवेक द्वारा यह प्रकट है कि प्रकृति के बन्धन से छूटने पर ही आत्मा में या अपने आप में स्थाई शान्ति मिल सकती है। प्रकृति की प्रेरणा तो जिधर ले जा रही है, उस दिशा में अन्त दुःखों का ही वासा है और यदि इन सब गुणों को अपनाकर मोक्ष का

卐卐卐

रास्ता न लिया और अपने को इन गुणों को ही संचित (इकट्ठा) करने के लिये न लगाया गया तो प्रकृति का तनाव पहली दिशा में ही धकेलता जाएगा। खाली तो आदमी रह नहीं सकता। इसलिये उसे चाहिए कि थोड़ा बुद्धि को जगा कर आसन पर ही विवेक को जगाये और निद्रा को थोड़ा जीत कर और संसार के सुखों से भी मुंह मोड़ कर सत्य पहचानने के हेतु ध्यान लगाए। उस ध्यान द्वारा जीवन के सत्य को विश्लेषण या छानबीन द्वारा समझ कर उससे दुखों से मोक्ष पाने के लिये मन में भाव उत्पन्न करे; तब थोड़ा इन्द्रियों का निग्रह और शरीर का संयम, पापों का त्याग, व्यर्थ संगत का त्याग आदि करके भी अधिक से अधिक समय अपना एकान्त में व्यतीत करने का अभ्यास बढ़ाता जाए। जिससे अन्त में प्राणी का प्रकृति का बन्धन क्षीण हो और संसार से छुटकारा या मुक्ति मिल कर अपनी आत्मा में या अपने आप में प्रतिष्ठा (टिकाव) प्राप्त हो; जिसकी पिछली वृद्ध अवस्था में अत्यधिक आवश्यकता है और मरने पर तो केवल यही एक सहारा होगा। क्योंकि वहाँ कोई और संगी साथी नहीं होगा। यही लगभग बढ़ती हुई वृद्ध अवस्था में भी होता है। क्योंकि तब तक संसार के प्राणी उस वृद्ध प्राणी से मुख मोड़ लेते हैं। उसमें कोई आकर्षण तो रहता नहीं; कोई स्वार्थ तो उससे पूरा होता नहीं। वह सबको व्यर्थ भार सा प्रतीत होता है और उसका उनके साथ होना, उन के सुख में विघ्न रूप प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था मे वह एकान्त में सब से न्यारा हुआ-हुआ यदि

पूर्व कही रीति से अपने आप में ही सुख शान्ति पा जाए तो उसे परमानन्द की प्राप्ति मरने के पश्चात् भी हो जाएगी। यदि वह इस सनातन धर्म की शरण न ले सका तो मन खाली तो रहेगा नहीं; खाली का तो समय भी नहीं व्यतीत होता, तो ऐसी अवस्था में वह बेचारा वृद्ध होता हुआ प्राणी जब न चाहते हुए दूसरों में आएगा, तो सिवाय अनादर और तिरस्कार के दुःख के और क्या पा सकेगा। इसलिए इसे केवल धर्म की शरण ही बचा सकती है। इसकी शरण में लगा हुआ यदि अपने आप को समझने में और गुणों को उपजाने में और एकान्त में पुराने सब सुखों के बिछोड़े के दुःख को सहन करता हुआ और उनसे सीखता हुआ दिन, मास और साल व्यतीत करता रहेगा, तो वह आध्यात्मिक अर्थात् आत्मा में ही जीवन पाएगा। उस को दूसरों की आवश्यकता अति अल्प होगी और वह इसी प्रकार से भी अपने आप में लगा रहने वाला दूसरों को खिन्न नहीं करेगा। उनके सुखों की अड़चन नहीं बनेगा; कहीं भी रहेगा, बल्कि (प्रत्युत) उनसे आदर पाएगा। उसके गुणों को पहचान कर दूसरे उस की सेवा को लालायित होंगे। इसलिए यहाँ जीते जी सब दुःखों से छुटकारा पाकर और अन्त में अपने अन्दर के भी तृष्णा के दुःखों को सहन करता हुआ, एक दिन व्यर्थ की तृष्णा के नष्ट होने पर और उसी के कारण से होने वाले सब दुःखों के समाप्त होने पर, दुःखों से भी मुक्ति रूप अपनी आत्मा का भी आनन्द अपने आप में ही पाकर कृत कृत्य हो जाएगा। यही संसार बन्धन से छुटकारा है। इसी का

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

नाम 'मुक्ति' है। यह मुक्ति सब अनर्थों से निवृत्ति और परम आनन्द की प्राप्ति रूप है। इन सब प्रकार से दुःखों से मुक्त जो ज्ञान-विज्ञान रूप आत्मा है, वह सब में समान रूप से विराजमान समझने में कोई कष्ट नहीं होगा। यही अनन्त ब्रह्म की प्राप्ति रूप मुक्ति है जो कि शास्त्रों में परम फल रूप से कही गई है। संक्षेप में यह बन्धन और बन्धनों से छुड़ाने का मार्ग बताया गया है। और उसके लिये गुणों का संचय करने का और उनके लक्षण बता दिये गये हैं।

ऊपर कहे का तात्पर्य यह है कि सांसारिक सुखों के लोभ को छोड़ कर थोड़ी वस्तु की इच्छा ही रखना, जिससे शरीर को धारण किया जा सके, इसी का नाम संतोष है। शेष सब का त्याग करना और पुनः त्याग पूर्ण करने हेतु, तप और उसमें मन की शान्ति रखने हेतु आसन ध्यान में विचार विवेक को जगाकर सत्य का साक्षात्कार करना। उस सत्य ज्ञान द्वारा अपने को प्रेरित करके सब बन्धनों को एक-एक करके अपने में समझ कर, निद्रा आदि की भी अधिक दासता से उचित रूप से मुक्त होकर, जीवन होते-होते ही मुक्ति का साक्षात्कार करना चाहिए। इसी हेतु यह मोक्ष धर्म प्रवृत्त होता है।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

卐 द्वैत 卐

(Duality)

दो का भाव, दो पना, (द्वैत भाव) इस का नाम द्वैत है। इसका भावार्थ यह है कि वस्तु वस्तु में या प्राणी प्राणी में भेद भाव करना या भेद समझना, कि मैं न्यारा हूँ वह न्यारा है; जैसे कि एक प्राणी को या अपने आप को किसी से दुःख हुआ, वह दूसरे को दुःख देने वाला समझता है। अपने आप को दुःख पाने वाला समझता है। इस प्रकार यह भेद भाव की रचना हो गई कि एक दुःख देने वाला एवं अन्य दुःख पाने वाला। इसी प्रकार एक अन्य प्रकार से भी द्वैत का भाव बनता है। जैसे कि जब अपने को दुःख होता है, तब तो वह दूसरे को दुःख देने वाला समझता है; परन्तु जब अपने से दूसरे को दुःख होता है, तब वह अपने आप को दुःख देने वाला कभी भी मानने को तैयार नहीं होता। जैसे कि जब दूसरा दुःख दे रहा था तो वह दुःख देने वाला हो गया। परन्तु जब आप दे रहा है, तो दुःख देने वाला नहीं मानता। यह भेद भाव द्वैत का भाव है। यदि भगवान् के न्याय के अनुसार समझे, तो वहाँ अपने आप को भी वैसा ही, जैसे कि दूसरे को दुःख दाता समझता था वैसे अपने को भी समझे अर्थात् द्वैत के भाव से रहित हो; परन्तु वह पक्षपात के कारण सुख व दुःख के अपने और पराये में भेदभाव कर रहा है। परन्तु समान

卐卐

रूप से वह अपने और दूसरे को एक नहीं समझ रहा है। चाहिये तो यह, कि जैसे दुःख देने वाले को दुःख दाता समझा है और उसे अपराधी मानता है, तो पुनः अपने आप को भी दूसरे को दुःख देने वाला अनुभव करता हुआ दूसरों को दुःख देने से निवृत्त (टलना) हो जाए। यह स्वरूप में एक रूप समझने वाला है, दो के भाव से रहित हो जाता है। परन्तु वैसा अद्वैत न होने पर तो दो के भाव वाला द्वैत से ही ग्रसित रहता है। इसी का नाम द्वैत भाव है। जब वह इसी प्रकार से सब देहों में एक ही समान से अपनी बुद्धि द्वारा दीर्घकाल तक दुःख सुख में समान रूप का अभ्यास करता हुआ सदा के लिए एक आत्मा ही समझे, तो पूर्ण रूप से वह अद्वैत भाव का अपने आप में अनुभव करता है। केवल सुख दुःख ही द्वैत भाव रखते हैं। इन्हीं का नाम स्वार्थ है। यदि इसी स्वार्थ व दुःख सुख हेतु स्वपर (अपना-पराया) भाव से कोई प्राणी (साधक) रहित हो जाए, तो पूर्ण अद्वैत में प्रतिष्ठित हो जाता है। दुःख में चलायमान न होता हुआ और सुख में भी अपने सुख के पश्चात् अनुरागयुक्त न होता हुआ पूर्ण अद्वैत रूप या ब्रह्मभाव अर्थात् व्यापक भाव में प्रतिष्ठा पा जाता है। क्योंकि वह अपने आप में समभाव में बना रहता है। सुख या दुःख के कारण चलायमान होकर कोई भेदभाव की कल्पना नहीं आने देता। जब स्वपर भाव से रहित हो जाएगा और दुःख सुख आदि सब प्रकार की अवस्थाओं

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

में चलायमान न होकर विवेकभाव द्वारा सम अवस्था में टिका रहेगा, तो वह साधक सब में एक ही आत्मा या सर्वव्यापक ब्रह्म ही पहचानेगा। उस में कोई भी मित्र, शत्रु आदि द्वैत भाव नहीं रहेगा।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐
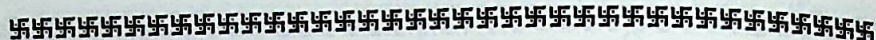
卐 अद्वैत 卐

(Non-Duality)

द्वैत में ही अद्वैत का निरूपण आ गया है। परन्तु अद्वैत का अर्थ है कि दो के भाव से रहित होना या द्वैत से रहित होना अर्थात् जीव और परमात्मा इन्हीं में भेदभाव न देखना व समझना। वैसे स्वभाव से जीव अपने सुख दुःख के कारण सब में भेदभाव देखता है। परन्तु यदि समान रूप से वह निश्चय करे तो किसी में भी इसका भेदभाव नहीं प्रतीत होगा अर्थात् दुःख व सुख की अवस्था में सम रहे; कुछ कल्पना के चक्कर में न पड़े और कुछ भिन्न-भिन्न प्रकार से करने को तैयार न हो। परन्तु दोनों को जैसे वे हैं, उनको अपनी अवस्था में देखता-देखता साक्षी भाव से टाल दे और इन दोनों में सम भाव से टिका रहे; जैसे कि कोई किसी से अपमान पाए तो उस अपमान करने वाले के अन्दर अपनी आत्मा समझे। यदि वह उसके अपमान के दुःख को शिवजी के विषपान के समान सहन करले, तो उसको प्रतीत होगा कि अपमान करने वाले और अपमान पाने वाले में कोई भेद नहीं है। जैसे कि निद्रा में भी सोये हुए प्राणियों में एक ही चेतन ज्ञान रूप से अन्दर प्रतीत करता हुआ श्वास को चलाना, रक्त आदि का संचार करना, हृदय की धड़कन आदि करना और देह के अस्थि चर्म आदि को बढ़ाने के कार्य सर्वत्र सब जीवों में समान रूप से करता है। इस में कोई भेदभाव नहीं है। परन्तु एक

दूसरे के सम्मुख जागने पर वह भेदभाव 'तूँ-तूँ' 'मैं-मैं' का, अपने सुख दुःख व स्वार्थ के कारण झलकने लगता है; और सारे संसार के कार्य को चलाता है। परन्तु वास्तव में तो वह एक ही चेतन बिना किसी भेदभाव के समान रूप से सब में एक जैसा बसा हुआ है। बस ! केवल उसी को ही सर्वत्र अनुभव करना, यह अद्वैत भाव है; और अद्वैत का साक्षात्कार है। परन्तु इसके लिये साधना की आवश्यकता है। सुख दुःख के कारण, राग द्वेष की दृष्टि बन जाती है। सुख देने वाले में प्रियपन की, और दुःख देने वाले में अप्रिय या द्वेषी की। बस, यही भेदभाव का कारण हो जाता है। एक ही चेतन अनन्त रूप से प्राणियों में दीखता है। यत्न करके ज्ञान चक्षु द्वारा यदि कोई साधक दुःख के विष को पी जाए और सुख को अमृत न समझे, दोनों में समभाव से मन को शान्त रख करके शून्य में टिका रहे या टिकाने की आदत डाले, तो उस शून्य में वही आनन्द चेतन जो सब में समानरूप होने से ब्रह्म कहा जाता है और जिसकी माया हंसना, रोना, इत्यादि और सब जगत् के कर्म आदि खेल रचती है, वह एक ही चेतन ब्रह्म भेद भाव से शून्य अद्वैत रूप से अनुभव में आएगा एवं आनन्द सुख रूप प्रतीत होगा। जब भेद भाव का दुःख सहन करते-करते शान्त हो जाएगा और सुख दुःख के कारण बाहरी जगत् में कुछ करने के लिए प्रयत्न नहीं करेगा, किसी प्रकार से नहीं उकसाया जायेगा और करने कराने की प्रेरणा शनैः-शनैः अन्दर ही अन्दर साधना द्वारा क्रमशः शान्त होती जायेगी; जैसे किसी

स्थान पर कण्डु (खुजली) यदि प्रतीत हो और मनुष्य उसे खुजला कर न दूर करे, और सहन करता जाए, और जो उसको खुजलाने की इच्छा व भाव, व दुःख की अधीरता, व क्रोधादि विकार उसको सहन करते समय आयें तो उन्हें धैर्य युक्त हो, साक्षी रहकर टालता जाए तो अन्ततोगत्वा (आखिर में) या अन्त में वह कण्डु (खुजली) तो शान्त हो ही जायेगी और खुजली के स्थान पर सुख हो जायेगा; तो इसी प्रकार बाह्य भेद भाव या तृष्णा का दुःख शान्त होते ही आत्मा सुख रूप प्रकट हो जाएगा और सुख दुःख के कारण द्वैत मिट जाएगा। तब अकर्ता रूप से यह चेतन सर्वव्यापक अनुभव में आ जाएगा। यह परम अद्वैत का भाव है। सब में एक ही चेतन समान रूप से अनुभव करना और कोई भेद भाव न रखना या न देखना।

परन्तु जब तक यह केवल अद्वैत मानता में ही है, तो यह फल या पुरस्कार रूप अनुभव में नहीं आएगा तथा जब साधना द्वारा दुःख सुख समान समझ करके और निद्रा के वेग को भी क्रमशः उचित रूप से जीत कर यह ध्यान अवस्था में यही चेतन अपना निकट रूप से परिचय देगा अर्थात् आनन्द रूप से व्यक्त होगा, तो परम आनन्द रूप पुरस्कार (इनाम) रूप से समझ में आएगा। इसको पाकर बुद्धि पुनः कोई भी पाने की वस्तु शेष नहीं समझेगी। और न कुछ करने की ही समझेगी। फिर जगत् में आने की भी क्या आवश्यकता रह गई ? अर्थात् जन्मने की आवश्यकता नहीं रहेगी। तो मृत्यु भी कहाँ ?

और यदि मरेगा भी अनन्त जगत् का तत्त्व रूप चेतन कैसे समाप्त होगा ? चेतन के सदा प्रकट रहने से ही यह संसार दीखता आ रहा है। जब वह मर मिटे, तो संसार कैसे दीखता रहेगा ? जब उसी के रूप में पहुँच गए, तो उस अद्वैत रूपी सूक्ष्मता में पहुँच गए; यहाँ संसार का दुःख नहीं दीखता, चेतन का नाश उस सूक्ष्मता में नहीं है। जैसे निद्रा वाले को अर्थात् निद्रा में पड़े हुए को संसार में जागते हुए का दुःख नहीं होता या उस दुःख की खबर तक भी नहीं पड़ती, ऐसे ही मुक्त आत्मा को अद्वैत का अनुभव करते हुए यह द्वैत का दुःख भी कहीं नहीं प्रतीत होता। यही अद्वैत में सब संसार के बन्धनों से मुक्त होकर जीव का उसी के रूप में प्रतिष्ठा पाना है।

मैत्री आदि दस बल

(Ten Great Powers for Liberation)

मैत्र्यादि बलों को अभ्यास द्वारा समृद्ध करना, तथा इससे पूर्व इनको मन में उत्पन्न करना और प्रतिष्ठित करने के लिये निरन्तर व्यवस्थित जीवन मार्ग पर चलने की आवश्यकता को प्रतीत करना व अनुभव में लाना ही निर्वाण पद को पाने के लिये एक मात्र मार्ग है। निर्वाण पद को अपने जीवन काल में ही अनुभव करने के लिये सब बन्धनों से मुक्त होना आवश्यक है। बन्धन सब बाह्य जगत् के ही हैं। जो जगत् हमारी इन्द्रियों द्वारा (श्रोत्र, चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा) हमें अनुभव में आता है तथा मन द्वारा हम सबके ज्ञान में प्रतीत होता है, उसी का ही सकल बन्धन कई एक रूपों में मन में लदा रहता है। इन्हीं बन्धनों के निखिल (सम्पूर्ण) भार को पटके बिना मन या आत्मा हलका नहीं हो पाता, और हलका हुए बिना केवल ज्ञान स्वरूप आत्मा की निज में अभिव्यक्ति (प्रकाश), भान और तृप्ति अनुभव में नहीं आती। इसलिये इसी आत्मा या अपने अन्तरतम (सबसे अधिक अपने अन्दर का) ज्ञान स्वरूप अपने आपकी नित्य तृप्ति के लिये इन्द्रियों सहित मन से होने वाले बाह्य जगत् के भेद भाव के बन्धनों को काटना आवश्यक है। यह बन्धन सुख और दुःख के संवेदन से उत्पन्न होकर बढ़ते जाते हैं और अन्त समय तक शुद्ध ज्ञान के स्वरूप को तो आवृत्त (ढाँके) रखते हैं और बाह्य जगत् के ही एक मिथ्या

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

आत्मा जो कि कामात्मा रूप ही है, को सम्मुख रख कर अपने कर्त्तव्यों को निर्धारण (निश्चित) करते करवाते रहते हैं। जिसमें सांसारिक 'मैं, मैं', 'तूँ, तूँ' का ही जाल विस्तृत हुआ रहता है। एक दूसरे को देखते हुए विविध कर्मों में प्रेरित हो सदा बाह्य जगत् में ही रुलाये रखना, यही बन्धनों का बन्धनपना है। सुख व दुःख की दृष्टि करवा कर क़ई प्रकार के संशयों और भय से बाँधते हैं; कई प्रकार के कर्तव्य सम्बन्धी विचारों से भी बाँधते हैं। इसी प्रकार प्रीति, द्वेष, मान, मोह इत्यादि द्वारा भी बंधा हुआ जीव कभी भी शुद्ध ज्ञान स्वरूप अपनी आत्मा में रमण न करके केवल भेद भाव वाले विविध जगत् में ही धंसा रहता है और अनन्त दुःख को पाता है। इन बन्धनों को छोड़ने के लिये ही मैत्र्यादि बलों की आवश्यकता है।

यहाँ यह जानना आवश्यक है कि भेद भाव वाला संसार कैसे बन्धन रूप है और ज्ञान मात्र या चिन्मात्र स्वरूप से कैसे अनन्त ब्रह्म या आत्मा रूप से जाना या अनुभव किया गया परम पद रूप से समझा जाता है।

जब बालक जगत् में पदार्पण करता है, तब से ही उसे इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होने आरम्भ हो जाते हैं। श्रोत्र इन्द्रिय से शब्द का, त्वचा से स्पर्श का और चक्षु से रूप का, इत्यादि-इत्यादि यह सब बालक के आत्मा में केवल प्रथम ज्ञान ही ज्ञान मात्र से झलके थे। शब्द, स्पर्श, रूपादि विषयों के भेद भाव से नहीं। भेदभाव समयानुसार मन ने दूसरों के संग से चिन्तन करते-करते समझा। इसी प्रकार उन समझे हुए विषयों में स्वार्थ भाव भी

शनैः-शनैः बालक के मन में ही उत्पन्न हुआ। व्यक्तियों के भेद भी पिता, पुत्र, भ्राता, माता, मित्र, शत्रु आदि अनन्त मन में ही सुख दुःख वेदना या संवेदना से घर करके बैठ गये; और सब ही ''सत्'' बन गये। जो कुछ प्रथम ज्ञान रूप से झलकता था, वह सब एक मात्र ज्ञान ही ज्ञान था, चिन्मात्र ही चिन्मात्र; वह सब शनैः-शनैः सुख का उपादान (ग्रहण) और दुःख का परिहार (त्यागना) रूप स्वार्थ के उत्पन्न होने के साथ-साथ सब संसार की वस्तुओं को पृथक-पृथक व्यवहार के लिए सत् (है करके) समझने लग गया। जैसे कि ये सब अपने आप में स्वतन्त्र रूप से बने रहने वाले हों और उनमें उन्हीं की दृष्टियाँ बना कर जीव संशय, कर्त्तव्य सम्बन्धी विचार, राग, द्वेष, मोह, मान आदि बन्धनों से जकड़ा गया। सदा उसी जगत् को मन में रख कर उसी के सम्बन्ध से कामात्मा रूप से इनमें बहुतों में एक रूप से रहने वाला बन गया और सदा बना रहने की इच्छा करने लग गया। जब इन में दुःख प्रतीत हुआ तो इन्हीं से निवृत्त होकर आलस्य आदि द्वारा निद्रा में खो गया। इस प्रकार संसार में ही 'होना' (भव) और 'हो हो कर' पुनः निद्रादि में 'न होना' रूप 'विभव' में ही बंधा रहने लगा। यद्यपि यह सब ज्ञान विज्ञान का ही स्वरूप है, परन्तु भेद के साथ, वस्तुओं को और व्यक्तियों को पृथक-पृथक समझने से उन्हीं सब में शुद्ध ज्ञान स्वरूप न दीखने के कारण विविध कर्मों के चक्र में पड़ कर पुनः-पुनः 'हो हो कर' 'न होना' रूप जन्म मरण के चक्र में पड़ रहा है। यदि यह सब इन्द्रियों

के विषयों की बाह्य तृष्णा छोड़ कर, इनमें सुख को अनित्य, दुःख और ज्ञान से भी भिन्न अनात्मा रूप समझ करके पुनः इन सबको केवल ज्ञान स्वरूप से ही अपने आप में अनुभव करे; और भिन्न-भिन्न वस्तुओं की सत्ता कुछ भी न अनुभव में आये, जैसा कि प्रथम बालक के ज्ञान में था। तो यह अनन्त ज्ञान मात्र, चिन्मात्र प्रकट हो गया और उसका भान अनन्त (न समाप्त होने वाला) रूप से तृप्ति ही स्वरूप होगा। वहाँ पुनः कोई दुःख की प्रतीति भी नहीं रहेगी। दुःख की प्रतीति तो जगत् की तृष्णा के ही कारण से है। जब थोड़ा दुःख में जीवन की साधना करके सत्य झलक गया और विषयों का सुख तुच्छ, दुःखदायी ही प्रतीत होने लग गया, तो उनसे (विषयों से) विमुक्त रहने का दुःख तप और तितिक्षा रूप से स्वीकार करने पर मनुष्य एकान्त में अपने आसन पर स्थिर रह कर शनैः-शनैः जो कोई भी तृष्णा के संस्कारों को अविद्या, या यूँ कहो कि शून्य अवस्था में ज्ञान का आवरण स्वरूप कोई एक शक्ति, उद्‌बुद्ध करेगी व जगायेगी; वह सब स्वार्थ न रहने के कारण से और तृष्णा के नष्ट हो जाने से पृथक-पृथक नहीं दीखेंगे; केवल उनका ज्ञान रूप ध्यान में अनुभव में आयेगा। वस्तुओं को सत्ता तो सुख व दुःख ने क्रमशः पाने व त्यागने के ही कारण बालपन से जीव ने दी थी। जब ऊपर कहा स्वार्थ ही नहीं रहा, क्योंकि ध्यान द्वारा सत्य का ज्ञान हो गया; विषयों के सुख का स्वार्थ ही नहीं रहा, तो पुनः इनके बारे में चिन्तन भी अवकाश प्राप्त नहीं करेगा। यदि

संस्कारों को अविद्या जगायेगी भी, तो यह सब ज्ञान मात्र ही झलकेंगे। तृष्णा की अवस्था में जब तृष्णा के विषयों को मन से उतार दें, या यूँ कहो कि स्मृति में उन्हें न लाया जाये, तो उनके ज्ञान को रोकने से ज्ञान शून्य अवस्था प्रतीत होती है। यही ज्ञान शून्य जागते मन की अवस्था अविद्या की है। झुकाव तो मन का है विषयों की या विषय सुख की ओर; परन्तु उधर उनके बारे में सोचना बन्द कर देने पर वही रागादि बन्धनों की टूटी हुई अवस्था अविद्या की अवस्था में ज्ञान पर आवरण (ढक्कन) डाल देती है और ज्ञान बिना मन रमण नहीं करता। यही अरति (मन का रमण न करना) पुनः तृष्णा को जगा (प्रकट) करके पूर्व विषयों के ही ज्ञान में उलझा देती है। यदि इस ज्ञान शून्य अवस्था के दुःख को भी खुजली के दुःख के समान ही टाल दे, तो अनन्त ज्ञान ही ज्ञान अपने विविध स्वरूपों में प्रकट हो जायेगा। प्रथम दुःख का ज्ञान या दुःख रूप ज्ञान, पुनः तृष्णा के वेग टलने पर और कई संस्कारों का ज्ञान। इसी प्रकार क्या पृथ्वी, क्या जल, क्या तेज, वायु, आकाश और क्या पिता, पुत्र, मित्र, शत्रु आदि प्राणी, और भी सब इनके व्यवहार ज्ञान रूप से ही भासने लगेंगे। पृथक 'सत्' करके कुछ भी नहीं दीखेगा। यह अनन्त ज्ञान विज्ञान सनातन स्वरूप से प्रकट हुआ-हुआ तृप्ति का ही स्वरूप होगा। जो बालक की इन्द्रियाँ बाहर मन के साथ प्रवाहित हुईं थीं वे सब जब बाह्य स्वार्थ के न रहने से अन्तर्मुख होकर अपने आप में ही जागृत रहने लगीं, तो यह सब भी ज्ञान रूप से ही

दीखेंगी। नष्ट कुछ भी नहीं हुआ। सब ज्ञान ही ज्ञान था। केवल मिथ्या ज्ञान ही निवृत्त हुआ। झूठी जगत् की सत्ता ही का बन्धन टला। परन्तु इसके लिये मन को भावित (भावना युक्त) करना पड़ता है। उस भावना का प्रकार ही आगे प्रतिपादित करने में आएगा या निरूपण करने में आएगा। क्योंकि संसार में जकड़ा मन स्वभाव से ही संसार के सत्य को समझ कर इसी में ही बना रहना चाहता है। इससे वियोग इस जीव को अपने अत्यन्त विनाश के समान भयभीत कर रहा है। जैसे ही यह संसार छूटा या छूटेगा तो इस जीव का यह भाव बनेगा कि 'मैं जड़ मूल से ही समाप्त हो गया'। यह जीव अपने अनन्त स्वरूप को नहीं जानता। केवल दूसरों में उलझे हुए अपने कामात्मा को ही छोटे स्वरूप को पहचानता है। परन्तु सर्वव्यापक ब्रह्म स्वरूप से शास्त्रों में प्रतिपादित अपने आप को नहीं समझता। क्योंकि मन विषय विकारों वाला सत्य की भावना वाला नहीं है। जैसे यह सत्य भावित होगा, वैसा आगे प्रतिपादन किया जायेगा। ऊपर सूचित किये गये का तात्पर्य यह है कि बालक की इन्द्रियाँ जब संसार में खुलीं तो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध उसके भी ज्ञान में आते थे। परन्तु यह ज्ञान का स्वरूप तब तक ही उस बालक के अन्तरात्मा में था, जब पृथक कोई 'है है' करके नहीं भासता था, जैसा कि अवस्था प्राप्त होने पर दूसरे जनों को भासता था। उन सबकी दृष्टि में तो जगत् के पदार्थ पृथक-पृथक ''है'' या ''सत्'' रूप से भासते और उनकी वैसी दृष्टि बनने पर

उनमें ग्रहण व त्याग कर काम या इच्छा आदि भी होती और उसके अनुसार भाव बनकर कर्म करने तक की प्रवृत्ति थी। परन्तु बालक के मन में 'है या सत्' की दृष्टि अभी उनको कोई सत्ता या अस्तित्व नहीं देती थी। परन्तु निरन्तर इन्द्रियों व मन को उनके उपस्थित रहने से सबके समान दृष्टि, काम और आगे का चक्र सब उस में भी, बालक के मन में भी क्रमशः आ जाता है। परन्तु साधक मुमुक्षु को इनके सत्य (असलीयत) को पहचान कर इनसे वैराग्य उत्पन्न करके आसन, ध्यान में ही इन सब की पृथकपने की दृष्टि न बनने देने तक अपने को साधना है। जब इनकी तृष्णा व इनके सुख का झुकाव ही न रहेगा, तो मन इनमें 'है या सत्' की दृष्टि (नजर) भी नहीं करेगा। जैसे वन में किसी औषधि को खोजने वाला व्यक्ति उस उपयोग वाली औषधि की दृष्टि रखता हुआ उसी की खोज में शेष घास फूस आदि को दृष्टि में नही बसाता, उन सबकी उपेक्षा करता जाता है। कौन घास क्या है, यह दृष्टि ही नहीं बनाता। इसी प्रकार जब ग्रहण, परिहार का स्वार्थ मन्द पड़ गया तो वस्तुओं को 'क्या-क्या है' यह उनके अस्तित्व की दृष्टि नहीं बनेगी। दृष्टि से ही अस्तित्व या सत्ता उन सब को मिलता है। जब उनका अस्तित्व नहीं भासा, तो केवल उनके संस्कारों का ज्ञान ही ज्ञान मन में भले प्रवाहित रहे। इस प्रकार अनन्त ज्ञान तृष्णा के शान्त होने पर सुख आनन्द रूप से भी व्यक्त होगा और तृप्ति करेगा। ज्ञान रूप से सदा होने से नाश की शंका भी नहीं होगी। केवल बाह्य जगत् में स्वार्थ वश

卐卐卐

कुछ दृष्टि बना कर 'सत् या है' करके कुछ समझ कर काम या इच्छा के चक्र में पड़कर कुछ मित्र, शत्रु आदि बनना ही केवल बन्द (निरुद्ध) होगा। जो बनता है वह बिगड़ता भी है। यदि मित्रादि बनेगा, तो वही ही बिगड़ेगा या मरेगा भी। यही सब बनने और पुनः दूसरों को भी कुछ बनाने की तृष्णा से भव सागर ही समाप्त होकर केवल मुमुक्षु या साधन सिद्ध व्यक्ति के अन्दर केवल अनन्त ज्ञान ही ज्ञान का अनन्त भान रहेगा। इसी से अविद्या नष्ट होगी। यदि ज्ञान मात्र का भान न हो, तो रिक्त या शून्य अवस्था रमण करने योग्य नहीं होती। तब रमण के लिए तृष्णा संस्कारों को जगा कर यहाँ तहाँ भटकाती है। परन्तु इस सबके लिए मन भली प्रकार से भावित (भावना युक्त) होना चाहिये अर्थात् मन की कमाई अच्छी (भली) प्रकार से करनी चाहिए। उसी भली कमाई रूप (आध्यात्मिक) साधना और भावना के निम्नलिखित अंगों को संग्रह करना आवश्यक है :-

१. मैत्री, २. करुणा, ३. मुदिता, ४. उपेक्षा, ५. क्षमा, ६. शील, ७. दान, ८. वीर्य, ६. ध्यान, १०. प्रज्ञा।

इन दस आध्यात्मिक जीवन व आध्यात्मिक जीवन साधना के अंगों को पुष्ट करना परमावश्यक है। स्वभाव से मनुष्य का जीवन भौतिक क्षेत्र में ही सीमित रहता है। वह भौतिक सुखों को ही उपादान (ग्रहण) करने में सारा जीवन लगा देता है। बाह्य जगत् में कर्मों द्वारा ही सर्वदा सुखी होने की सोचता है; और बाह्य भौतिक साधनों से ही अपने दुःखों की चिकित्सा व दुःखों से छुटकारा

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

चाहता है। उसे इस प्रकार सर्वदा काम लोक में ही उलझे रहना पड़ता है। काम लोक है नाम, मनुष्य के उस सांसारिक क्षेत्र का यहाँ कि उसे अपने काम या इच्छा को तृप्त करने के लिए और उससे सुख पाने व दुःख टालने के लिये सदा कई प्रकार के बाह्य भौतिक उपकरणों व साधनों द्वारा यत्न करते हुए भौतिक जगत् में व सब प्राणियों के संसार में रहना पड़ता है। इसी काम लोक में प्राणी को यह जीवन यापन करते व्याधि जरावस्था सब आ जाती है, तो उसके सुख तो समाप्त प्रायः ही हो जाते हैं; प्रत्युत (वरना) अधिक दुःख और शोक उसे सदा घेरे रहते हैं। इनसे वह अपने आप में बाह्य सब साधनों के होने पर भी न तो सुख ही पाता है, और न ही अपने समय के अनुसार पड़ने वाले बुढ़ापे आदि के दुःखों से छुटकारा ही पा सकता है। परन्तु उनके संग उलझा हुआ दुर्गति को ही पाता है। दुःख की अवस्था में, इच्छा का पूरा न होना, या इच्छा को पूरा न करना और उसका बना रहना इतना दुःखदायी है कि उस अवस्था में उस व्यक्ति का मन कहीं भी रमण नहीं कर पाता। इच्छा या काम पूरा हो तो सब कर्मों में वह मन को रमा ले। परन्तु इच्छा अधूरी रहने पर उसे जीवन भी दुर्भर सूझता है। यही है भौतिक बन्धन या काम लोक का बन्धन। जब काम तृप्त हो, तो वह बुद्धिमान् भी, और सब कुछ करने में भी समर्थ और अधूरे काम में वह समय व्यतीत करने में भी असमर्थ है। सत्य यह है कि देह धारण निमित्त भी एक काम है। परन्तु वह धर्म के विरुद्ध नहीं। इतना मात्र

काम तो सत्य है, परन्तु जो अधिक अपने मन को लुभाने के लिए अन्य जगत् में प्राणी और पदार्थों में अन्य कई एक काम हैं, वे सब भौतिक बन्धन व भौतिक जगत् में उलझन रूप से ही समझे जाने वाले हैं। कानों को राग रंग चाहिये, नेत्र को तमाशे, जिह्वा को विविध रस, नाक (घ्राण) को सुगन्धियाँ, त्वचा को शीत, उष्म, कोमल मनोनुकूल स्पर्श चाहिये। इसी प्रकार प्राणियों में गौरव, आदर मान और सदा उन से सद्व्यवहार मिलना चाहिये, तब मन सुखी है। यह सब है समय के अनुसार सीमित। बाल युवा अवस्था में तो दूसरों को व्यक्ति के संग से कुछ सुख मिलता है, तो दूसरे भी उसको मान आदर आदि सब देकर प्रसन्न करते हैं। परन्तु वृद्धावस्था में स्फूर्ति न रहने पर, और स्वार्थ दूसरे का भी पूरा करने की शक्ति क्षीण होने पर, प्रत्युत (विपरीत इसके) दूसरों के अधीन रहने पर, भला पहली अवस्थाओं का व्यवहार (बर्ताव) व मान आदर भाव व प्रीति की संगत का सुख कैसे मिल सकेगा ? परन्तु काम लोक वासी तो अपने काम राग के कारण उन्हीं में बन्ध रहा है। ऐसी अवस्था में उसे कामलोक से मुक्त होने का उपाय ही विचारणा चाहिये। और काम सुखों की तृष्णा से मुक्त होने का मार्ग ही खोजना चाहिये और भौतिक जीवन में अब अधिक विश्वास न रख कर इसके विपरीत आध्यात्मिक जीवन (अपने आप में जीना) में ही **प्रथम श्रद्धा** (Right Religious Confidence) का धन मन में रखकर आध्यात्मिक जीवन के सब अंगों को एकत्रित करना, पुष्ट करना और

उन्हीं के सहारे जीवन समस्याओं का समाधान खोजना चाहिये। वह अपने मन से इन सब को नहीं जानता या कामलोक में उलझा हुआ नहीं जान सकता। इसलिये उसे प्रथम श्रद्धा से इस आध्यात्मिक जीवन को पाने के मार्ग रूप धर्म को सुनना और उसमें श्रद्धा करना कि यदि जैसा धर्म मार्ग बतलाया गया है, उसी प्रकार से यदि मैं इस पर चलूँगा, तो मुझे भौतिक बन्धनों से ही नहीं वरन् (बल्कि) सब मानस और बौद्धिक (आध्यात्मिक) बन्धनों से भी छुटकारा या मुक्ति मिलेगी। और मुझे केवल अपनी आत्मा में या अपने आप में ही, बिना बाह्य प्राणी व पदार्थों के साधनों के भी, स्थायी शान्ति की प्राप्ति होगी, जिसे कि मृत्यु भी नहीं समाप्त कर सकती। ऐसी उस प्रगति के मार्ग पर चलने के लिये, जो कि आध्यात्मिक साधना के पथ पर चलने के लिए अग्रसर है, उसे अपने मन में दृढ़ता पूर्वक श्रद्धा बसानी पड़ेगी।

इसी मार्ग को पूर्ण रीति से समझते हुए इसके सत्य को पाये हुए और धर्म के फल को पूर्ण रीति से पाये हुए और इस धर्म मार्ग को प्रवृत्त करने वाले भगवान् में भी श्रद्धा करनी होगी। वह भगवान् नित्य मुक्त, सब बन्धनों से परे, पूर्ण मोक्ष और मोक्ष के मार्ग को जानने वाला रूप से मन में बसाना आवश्यक होगा। इसी प्रकार मार्ग पर चलने चलाने वालों को भी मन में रखना चाहिए। उन पर भी एक रूप से श्रद्धा करनी आवश्यक है कि और भी इस मार्ग को समझकर इस पर चलने वाले हैं। यदि वे चल सकते हैं तो मैं भी क्यों नहीं चल सकता। भौतिक सुखों

में लिपायमान जकड़े मन को यह मार्ग कठिन सा प्रतीत होगा, उत्साह क्षीण सा भी होता हुआ प्रतीत होगा। ऐसे अवसरों पर भगवान् की श्रद्धा और भगवान् के मार्ग के प्रेमियों की श्रद्धा मन में रखकर मनुष्य अपने गिरते हुए मन को सहारा देकर पुनः उठा लेता है। इसलिए ऊपर कही तीन प्रकार की श्रद्धा की परम आवश्यकता है: १. पूर्ण मार्ग का ज्ञानवान्, नित्य मुक्त भगवान् की श्रद्धा, २. उससे बतलाये सर्वांग (सब अंगों वाला) पूर्ण धर्म की श्रद्धा, ३. मार्ग पर चलने वालों की श्रद्धा। इस प्रकार तीन प्रकार की श्रद्धा सहित मनुष्य भौतिक बन्धनों से मुक्त होने के मार्ग पर चलने का उद्योग कर सकता है। यह श्रद्धा मुक्ति मार्ग से अन्य बाह्य किसी दूसरे उद्देश्य के लिये नहीं है। केवल आत्मा में जीवन पाने के लिए और भौतिक आदि बन्धनों से मुक्त होकर स्थायी शान्ति के लिए है। यह शान्ति बिना किसी बाह्य साधन के ही होगी। मुक्ति भी बिना किसी बाह्य निमित्त के; केवल आन्तरिक साधनों द्वारा ही प्राप्त करने योग्य; जैसे श्रद्धा भौतिक जीवन के बन्धनों से निकलने का प्रथम उपाय रूप से स्वीकार्य है, ऐसे ही वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा भी उपाय रूप से धारण करने योग्य हैं और अत्यावश्यक हैं। आगे क्रमशः इनका विवरण इस प्रकार है :-

(२) वीर्य (Energy) : (i) वीर्य नाम पराक्रम का है अर्थात् हिम्मत करना। जैसे ही कोई काम, संशय, क्रोध, ईर्ष्या और मत्सर (दूसरों के सुख को न सह सकना), असूया (दूसरों के गुणों में दोष प्रकट करना) इत्यादि

मन में अपनी सत्ता प्रकट करें और अपने कुत्सित व धर्म विपरीत मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित करें, तो इन्हें पराक्रम (हिम्मत) करके मन से उतार देना या मन से निकाल देना चाहिये। यह प्रथम प्रकार का वीर्य रूप बल है (ii) पुनः इन दोषों व विकारों को धैर्य द्वारा इस प्रकार यत्न से मन से निकाल देना, जैसा कि ये सब पुनः आ ही न पायें। इसके हेतु इनके कल्याण के विपरीत स्वभाव को मन में परखना (पहचानना), जिनसे कि इनके अल्प लाभ, व अल्प सुख से मन टल कर महान् निर्वाण रूप फल की ओर अग्रसर होता है। इस प्रकार इन्हीं दोष व विकारों को सदैव के लिये ही तिलांजलि देना दूसरे प्रकार का वीर्य बल है।

(iii) इसी प्रकार जो वैराग्य, क्षमा, संतोष, धृत्ति (धैर्य), त्याग, तप आदि मोक्ष या निर्वाण के हेतु उत्तम गुण हैं, इनको मन में उत्पन्न करना। इन्हें मन में बसाना, यह तृतीय वीर्य बल है। (iv) और पुनः इन्हीं उत्तम परम उपयोगी गुणों को इस प्रकार मन में स्थिर बनाना कि ये सदैव मन में स्वाभाविक रीति से बसे रहें। इसके लिए चिन्तन, ध्यान और स्मृति के बल को बढ़ा कर इन्हें सदा मन में निकट रूप से उपस्थित रखना, जिससे कि ये इनके विपरीत काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, मत्सर आदि विकारों को या तो उत्पन्न ही न होने दें और यदि वे उत्पन्न हो भी गये, तो उत्पन्न होते ही उनको ये गुणों की समृद्धि व इनकी शक्ति तुरन्त मन से विदा कर दे। इस प्रकार से वीर्य बल चार प्रकार का बतलाया गया है।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

चारों प्रकार के वीर्य बल को संपादन करने से प्राकृत व भौतिक जीवन के सहज, स्वाभाविक दोषों से छुटकारा मिलता है। वीर्य नाम है वीरता के भाव का; अर्थात् जैसे वीर पुरुष अपने शत्रु के सामने आने पर पराक्रम करके उसे परास्त कर देता है, ऐसे ही उसी के भाव से धर्म में वीर पुरुष पराक्रम करके अपने मोक्ष मार्ग के विपरीत (वैरी) सब अवगुण, दोष, विकारों को समाप्त कर देता है और यत्न से स्वपक्ष के सब उत्तम गुणों का संग्रह कर लेता है।

(३) स्मृति (Presence of mind/Mindfulness/Heedfulness) : श्रद्धा से भौतिक जीवन के दुःखमय बन्धनों से निकलने के हेतु मनुष्य हिंसा, झूठ, चोरी, जारी और मादक द्रव्यों के सेवन रूप पापों से दूर हटता हुआ आध्यात्मिक जीवन की ओर निर्वाण की शान्ति के हेतु अग्रसर तो होता है, परन्तु अपने अल्प सुख को दिखाकर जब भौतिक जीवन के एकत्रित (इकट्ठे हुए-हुए) संस्कार मनुष्य को अस्थिर यत्न वाला पाते हैं और वैसी अवस्था में पुनः उसे पुराने अल्प सुख और महादुःख वाले भौतिक सुख के लिये प्रेरित करते हैं, तो मनुष्य को वीर्य बल से उनसे मुक्ति पाने के हेतु यत्न करना पड़ता है। परन्तु यदि वह शिथिल हो और उसका मन उपस्थित न हो और वह अपनी शिथिलता, जो कि उसके मन में लद रही है, उसे न पहचाने, न समझे और उस समय के कर्तव्य की स्मृति (याद) न मन में ला सके, तो तृष्णा की संचित (इकट्ठी हुई-हुई) शक्ति तत्काल ही साधक के मन को

卐卐

कामादि विकारों में उलझा कर मिथ्या कर्म, और मिथ्या व्यवहार आदि, मोक्ष या निर्वाण पद के विपरीत करवा जायेगी। और पुनः मिथ्या सब कर लेने के पश्चात् साधक को चेत् व होश आयेगी कि उसने क्या किया ? अर्थात् वह समझेगा कि उससे जो नहीं होना, व, न किया जाना चाहिये था, वह सब पूर्व अभ्यासों (आदतों) के बल से झटपट में हो गया। अब वह पुनः पश्चात्ताप के चक्र में पड़कर वो ही (पुनः) प्रमाद व शिथिलता (ढिलाई) करेगा। इस शिथिलता से बचने के लिये महापुरुषों ने स्मृति रूप बल का निर्देश किया है। स्मृति रूप मोक्ष धर्म के लिये उपाय रूप का कथन किया है। तो ! यह स्मृति रूप बल क्या है ?

स्मृति बल है द्विविध मन की उपस्थिति। जो कुछ तन, इन्द्रियाँ व मन, बुद्धि की अवस्था हो, उस सब अवस्था का मनुष्य को ज्ञान रहे। तन में दुःख है व तन में सुख, इसकी भी खबर रहनी चाहिए। पुरानी आदतें झटपट दुःख में व सुख में कोई मिथ्या कर्म करवा सकती हैं। परन्तु जब तन में दुःख व सुख की खबर रहे अर्थात् दुःख सुख की अवस्था में मन उपस्थित (हाजिर) रहे और दुःख की अवस्था में 'मैं दुःखी हूँ' ऐसा समझता, व, पहचानता रहे और पुनः ऐसी अवस्था में क्या कुछ हो सकता है, इसकी भी स्मृति व याद रहे तो वह वीर्य बल द्वारा अनुचित, मोक्ष मार्ग के विपरीत् मिथ्या कर्म, मिथ्या वचन व सब प्रकार का मिथ्या व्यवहार यत्न से रोक सकेगा। परन्तु, यदि मन की उपस्थिति ही नहीं अर्थात्

मन हाजिर नहीं, दुःख सुख द्वारा विकारों ने मनुष्य के मन पर हावी होकर उसे विक्षिप्त कर दिया, तो जो सब जन जग में करते हैं, वा जो वह भी आदत से करता आया है, उसी ही सब को करेगा और मोक्ष मार्ग पर चलने के उपयुक्त कुछ भी न कर सकेगा। इसलिए हर समय मन उपस्थित रहता हुआ, अपनी देह, इन्द्रियाँ आदि व मन, बुद्धि आदि की अवस्थाओं में जागरूक रह कर जगत् में विहार करे। जग में जीवन को रखे। जैसे देह की अवस्थाओं में उपस्थित; इसी प्रकार इन्द्रियों की चेष्टाओं में उपस्थित रहेगा, तो उन्हें सब अनुचित स्थानों पर गिरने से बचा पायेगा। देखने योग्य ही देखेगा, सुनने योग्य ही सुनेगा और इसी प्रकार इन्द्रियों को व्यर्थ नहीं भटकने देगा। इन का संयम साधक पुरुष रख सकेगा। ऐसे ही मन के विकारों की अवस्था में मन की उपस्थिति से मन के विकार को पहचानेगा और पुनः उस समय कर्तव्य की स्मृति करके जैसा कुछ चाहिए, वैसा वीर्य बल करके अपने मन की रक्षा भी कर सकेगां। इसी प्रकार साधक बुद्धि के निश्चयों में भी जागरूक रह कर उन के विपरीत निश्चयों को पहचान कर और कर्तव्य की याद करके उनको भी सुधार लेगा। जैसे कि हो सकता है आदत वाली बुद्धि विषयों के सुख को आवश्यक रूप से निश्चय करे। और उस तात्कालिक निश्चय से मनुष्य उस विषय सुख की ओर प्रेरित हो जाए और पीछे पुनः विपरीत कुछ करके समझे कि मुझ से विपरीत हुआ। यह सब भौतिक जीवन में पुष्ट हुई-हुई भौतिक बुद्धि भी

भौतिक सुखों की पक्षपातिनी है। इसलिए यह सब मिथ्या कर्मों में प्रेरित कर सकती है। हिंसा, दुराचार आदि को भी सही रूप से निश्चय कर सकती है। जैसे कि जगत् में बहुत जन वैसा ही सोचते और समझते हुए दीखेंगे। समझना ही तो बुद्धि का काम है। समझ कर मन को उत्तेजित करके इन्द्रिय और शरीर को भी उसी दिशा में ले जाना, यह सब ही जगत् में देखा जाता है। इसलिए बुद्धि क्या कुछ समझती है, इसमें भी उपस्थिति बनी रही; स्मृति, कर्तव्य के बारे में, व परिणामों (नतीजे) के बारे में बनी रही, तो यह विपरीत बुद्धि से भी जन वीर्य करके मुक्त हो जायेगा। यदि सम्प्रज्ञान (मन की उपस्थिति) व स्मृति यह दो प्रकार से मनुष्य उपस्थित नहीं, तो समझो वह प्राकृत प्रवाह में खोया हुआ ही रहेगा। जैसे-जैसे उसे संस्कार प्रेरित करेंगे, वैसे-वैसे वह जन, हित अहित के विचार बिना ही करता जाएगा और अपने कल्याण के मार्ग को कभी भी नहीं शोध सकेगा। इस प्रकार यह स्मृति, काया (शरीर) आदि में होने वाली पाँच प्रकार की विवरण में आई। प्रथम काया में अर्थात् काया की कैसी भी अवस्था हो या काया किसी भी अवस्था में हो, उन सब में मन अपनी स्मृति में या होश में रहता हुआ, उस समय की काया की अवस्थाओं से प्रेरित या चलायमान होता हुआ कोई विपरीत कर्म न कर बैठे। सब विपरीत कर्म शीघ्रता या जल्दबाजी में हो जाते हैं। आदतों के वशीभूत होता हुआ कोई भी विपरीत कर्म भी कर बैठता है। उन सब विपरीत कर्मों को टालने के लिये

मन की स्मृति या मौके की होश उस समय बनी रहनी चाहिए। जिससे कि कोई विपरीत कर्म आदतों के वशीभूत होते हुए मन न कर सके। काया की प्रत्येक अवस्था जैसे कि दु:ख में, सुख में शीत, उष्ण वातावरण में, रोग में और जिन जिन कर्मों को जैसे कि स्नान करने, खान, पान या दूसरों की संगत आदि कर्मों को करता है; उस सब में भी होश या स्मृति बनी रहनी चाहिये, ताकि उस में भी पुरानी आदतों के वशीभूत होकर, कुछ विपरीत कर्म न कर बैठे, जो कि अन्त में दु:खदाई सिद्ध हों। इसी प्रकार यह धर्म वाला व्यक्ति, यदि दूसरों की संगत में हो, तो वह स्मृति से अपने आप को सम्भालता हुआ, करने योग्य कर्म को सावधानी से करे ताकि आदत की अवस्थाओं से कुछ कल्याण के मार्ग के विपरीत न हो पाए। ऐसे करते हुए व्यक्ति के मन में सम्भलने या सम्भल कर सब कर्मों को करने की शक्ति उत्पन्न हो जाएगी, जिससे कि कोई भी कल्याण के विपरीत कर्म उससे नहीं हो सकेगा। यह स्वभाव से ही उत्तम पुरुष का स्वरूप धारण कर लेगा। इस से कभी भी कल्याण के विपरीत वाणी का भी कोई कर्म नहीं होगा। यदि स्नान कर रहा है, तो स्नान की ही स्मृति होनी चाहिए। यदि मन खान, पान की व किसी वैर विरोध की सोचे, तो इसे उस की भी खबर रहनी चाहिए कि यह मन कहाँ भटक रहा है; और उसे उस स्नानादि कर्म में ही उपस्थित रख कर अन्य सब प्रकार की भटकनों से मुक्त रखे। इसी प्रकार बाजार में चलते समय भी इसे इसी की स्मृति

रहनी चाहिए, न कि चलने के क्षेत्र से बाहर दूसरों के चेहरों को पहचानना, दुकानों की समृद्धि देखना, व, नाना प्रकार से इन्द्रियों को इधर उधर भटकाना। बाजार में चलना रूप कर्म का क्षेत्र केवल इतना ही है कि किसी प्रकार की दुर्घटना से बचने के लिये इन्द्रियों का उपयोग और ऊँचे नीचे पाँव पड़ने को बचाना, अपना मार्ग चलने योग्य ध्यान में रखना। यदि कोई अन्य भी कार्य इस में सम्मिलित हो, तो बस वहीं तक इन्द्रियों और मन को छूट देनी और शेष जो शिथिलता के कारण प्राचीन संस्कारों के कारण खान, पान मनोविनोद आदि के विचार व भाव तब मन में आयें, तो उनकी उपेक्षा के हेतु मन जोड़कर चलना रूप कर्म में ही सावधान रहे। इस प्रकार ''एक काम, एक ध्यान'' के नियम से अपने आप को शेष भटकन से बचाता रहे। इसी प्रकार सब काया के कर्मों को स्मृति से मन की उपस्थिति में करने का अभ्यास करेगा, तो उसे ध्यान प्राप्ति और सफलता का भी पूर्ण अवकाश मिलेगा। जैसे काया के बारे में (१) उनके कर्मों को स्मृति में, उपस्थिति से व, ध्यान से करने का महापुरुषों का निर्देश है ऐसे ही इन्द्रियों की चेष्टाओं में (२) मन के भावों व विकारों में (३) बुद्धि के सब निश्चयों में (४) भी सावधान रहे। इसी सुख संवेदन व दुःख संवेदन में (५) भी उपस्थित रहे, स्मृति वाला है; क्योंकि सुखवेदन व दुःखवेदन (महसूस करना) में भी बुद्धि विपरीत निश्चय देकर, और मन विपरीत भाव व विकार जनाकर इन्द्रियों को, और देह को मिथ्या मार्ग में पटक देते हैं या पटक सकते हैं।

इसलिए ऊपर कहे पाँचों स्थानों में उपस्थित रहकर और स्मृति रखकर या स्मृतिमान रहकर जीने की इच्छा करे तो कुछ भी विपरीत नहीं होगा। यदि ऊपर कही स्मृति रहेगी तो ही मनुष्य धर्म मार्ग पर चल सकेगा। और विपरीत दिशा में जाते हुए देह आदि को समझ कर श्रद्धा द्वारा और वीर्य द्वारा हटा कर सन्मार्ग में प्रेरित हो सकेगा। इससे मन का और सामान्य जन जीवन के ज्ञान का मार्ग भी खुलेगा, जिससे बहुत शिक्षा प्राप्त हो सकेगी।

ग्रीष्म काल में दिन की तीक्ष्ण धूप में चलता हुआ मनुष्य अपने सुख के राग के कारण कार्य वश चलता तो अवश्य है, परन्तु उसके मन को सुख की तृष्णा हर कर ले जाती है। और वह उस तीक्ष्ण सूर्य की किरणों में चलता हुआ भी मन में आगे के सुख को ही बसाये रखता है। यहाँ उसका सुख और आराम है; उसे ही वह चलते-चलते नहीं भूलता। प्रत्युत (वरन्) मन में संकल्प द्वारा उन्हें बार-बार चिन्तन करता हुआ पहुँचने के स्थान के सुख को ही सामने (दृष्टि के सन्मुख) बसाये रखता है। जैसे कि वह चिन्तन करता है कि अमुक स्थान (उस स्थान) पर पहुँच कर मैं शीतल छाया में पंखे की शीतल पवन को सेवन करूँगा। और कूलर के सन्मुख बैठ कर पुनः शीतल होकर पुनः मधुर शीतल पानी को ग्रहण करूँगा इत्यादि-इत्यादि। यह सब आगे का काम ही यदि मन में बसा है तो कोई भी कर्म निष्काम भाव (काम से निकल कर) से नहीं हो सकेगा। प्रत्येक समय सुख राग वाला मन एक सुख के व्यतीत होते ही दूसरे सुख को

दृष्टि में रखता है। कोई भी बाह्य विषय सुख सदा तो बना रहता नहीं। जैसे ही वह सुख समाप्त हुआ कि सुख में रमण करने वाला मन निराश होने लगता है। पुनः वैसा सुख संवेदन (सुख का महसूस करना) के लिए चिन्तन करता हुआ कोई अन्य विषय सुख को मन में बसाकर उसी की प्रतीक्षा करता रहता है। कर्म केवल वह इसी सुख संवेदन हेतु ही करता है, जो उसे भौतिक जगत् में अधिकाधिक बाँधता जाता है। इसलिये जैसे एक सुख बीता तो दूसरे पर दृष्टि जम गई। वैसे ही दूसरे के व्यतीत होते तीसरा चिन्तन में आने लगा। इस प्रकार बाह्य सुख राग वाला मन बाहर के सुख में रंगा हुआ एक के पश्चात् दूसरे की ओर धावता (भागता) रहता है। और उसका सुख राग इतना तीव्र हो जाता है कि इस सुख का क्षण भर का भी वियोग उसे मृत्यु तुल्य प्रतीत होने लगता है। वह सुख को दृष्टि में बसाय, चाहे उसके हेतु मृत्यु भी स्वीकार करले, परन्तु इस बाह्य सुख के राग से उसका छुटकारा पाना असम्भव प्रतीत पड़ता है। ऐसी अवस्था में बाह्य सुख, जो कि सदा रहने का तो है नहीं पुनः ऐसे रागी जन का क्या जीवन होगा ? वह उस समय दुर्गति के जीवन को ही जीयेगा। यदि आध्यात्मिक पथ के अनुसार इसी सुख की कामना को अल्प करके कर्त्तव्य परायण हो और इस सुख के काम को मन से निकालता हुआ जीवन के (जीने के) ही निमित्त कर्म करने की युक्ति जान ले और उसका अभ्यास जीवन काल में ही करे, तो उसे काम के बिना, व, काम सुख के

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

बिना आन्तरिक ज्ञान ध्यानमय जीवन अपनी आत्मा में ही मिलेगा। यही भौतिक जीवन के विपरीत आध्यात्मिक जीवन है। केवल शरीर की अल्प इच्छा तो पूर्ण करने की होगी; और शेष सब काम त्यागते हुए केवल कर्म में ही मन जोड़ते हुए कर्म करने सीखने पड़ेंगे।

जैसे कि पहले (ऊपर) दृष्टान्त में सूचित किया गया कि ऊष्ण काल की तीक्ष्ण धूप में चलता हुआ मनुष्य विषय सुख कामना से आगे अपने सेवन करने योग्य सुख में ही दृष्टि निगड़ित (जकड़ी) रखता है। और उस को अल्प धूप दुःख असह्य होता जाता है। ज्युँ ज्युँ दुःख बढ़ता है, त्यूँ त्यूँ वह गति को तीव्र करता हुआ, विषय सुख को स्मरण करता हुआ अपने मन को भी अधिक विक्षिप्त करता है। बुद्धि को जड़ बनाता जाता है जो कि सत्य का निश्चय ही न कर सके और ऐसे सुख की आशा और प्रतीक्षा में अपने देह को अधिक खिन्न करता हुआ अपने प्राण व श्वास प्रश्वास की गति को क्षुब्ध करके अपना जीव मात्र का साधारण सुख भी बिगाड़ता है। मन क्षुब्ध होने पर श्वास की गति भी वैसी ही होकर प्राणी को अधिक पीड़ित करती है। बात कुछ भी नहीं, थोड़ी प्रतिकूल वेदना धूप में ग्रीष्मकाल में चलने की है। परन्तु सुख में रंगा मन, दुःख से अधिक द्वेष वाला इसे तोफान सा बना कर अपने आप को आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक दुर्बल बना रहा है। यदि वह श्रद्धा करके सुने के अनुसार स्मृति और मन की उपस्थिति रख कर चले, तो उसकी स्मृति यही जलायेगी कि कितना कि दुःख है ? असह्य तो नहीं।

दूसरे भी चल रहे, सब सहन कर ही तो रहे हैं। मैं इतना इस दुःख से उतावला क्यों हो रहा हूँ ? और अधिक शीघ्र पग (पैर) उठा कर चलने की क्या आवश्यकता है ? क्यों न मैं शान्त भाव से थोड़े दुःख को अनुभव करता हुआ भी आराम से व्यवस्थित प्रकार से मन की उपस्थिति के साथ चलूँ ? कोई धूप में चलने का दुःख मारने वाला तो है नहीं। केवल है कुछ भी नहीं, जो मेरे सुख के राग और सुख की दासता ने ही बड़ी समस्या बना दिया है। इस प्रकार अपने को देखता हुआ, और अपना अनुभव करता हुआ, अपने को पहचानता हुआ, और आदतों के भड़के मन को वीर्य द्वारा शान्त करता हुआ, यदि दर्शन और स्मृति के साथ चलेगा, तो वह देखेगा कि उतना चलना तो क्या, वह यदि चाहे तो सारा दिन भी ऐसा चल सकता है। यही है आत्मिक बल जो कि मन की उपस्थिति और स्मृति मनुष्य को प्रदान करती है। और मन की उपस्थिति में ज्ञान जागता है। सत्य का दर्शन होता है। वस्तुस्थिति प्रकट होकर मन की भ्रान्ति को दूर कर देती हैं। केवल व्यर्थ के सुख की तृष्णा का बन्धन ही टलता है जो कि टालना ही चाहिए। यही अन्तिम साध्य (साधने योग्य) है; जो कुछ आगे सुख आने का है वह आयेगा ही। उसे ध्यान स्मृति में रखकर अपने मन की कार्य क्षमता को (काम करने की शक्ति को) क्यों बिगाड़ा जाये ? जब शीतल स्थान पर पहुँचेंगे, तो वह शीतलता का सुख आदि भी होगा ही। परन्तु उसे पहले से मन में बसाकर उसके वियोग काल को क्यों दुर्वासपूर्ण बनाया जाये ?

यही है कर्म करने की युक्ति। बालक ने कर्म करना तो सीखा है परन्तु काम सुख, व विषय सुख को मन में बसाकर ही करना सीखा है। परन्तु श्रद्धा रखने पर इस प्रकार थोड़े वीर्य बल से युक्त होकर मन के अनुचित काम, क्रोध, संशय, भय आदि विकारों को हटाकर यदि मन की उपस्थिति से और स्मृति से कर्म किये जायें तो यही कर्म उत्तम रीति से सम्पन्न होते हैं। और दुःख में भी जीने की युक्ति मिलती है। दुःख तो अन्त में संसार में सब के ही हाथ लगने का है। सुख तो उड़ने वाला ही है। यदि दुःख में जीना आ गया तो ज्ञान ध्यानमय जीवन का सांसारिक सुख से कहीं अधिकतर सुख अपनी आत्मा में ही पायेगा। जो कि सांसारिक सुख की भान्ति क्षणिक नहीं परन्तु नित्य, स्थायी (सदा बना रहने वाला) होगा। केवल दुःख देखने से भीरु (डरपोक) जन का ही आसन एकान्त में स्थिर नहीं हो पाता। दूसरों के संग के सुख की दासता के कारण एकान्त में दुःख होता है। इसलिए एकान्त में समय व्यतीत करना कठिन व असम्भव प्रतीत होता है। यदि थोड़ा दुःख देखने का अभ्यासी हो और अपने को दुःख में कर्म में लगाये रखने वाला बने, और विषय सुख भूल कर भी जी सके, तो ऐसे व्यक्ति को अन्तरात्मा का परिचय ध्यान में प्राप्त होगा, जो कि सारे जगत् का मूल है और जिसके ज्ञान से परम सुख मिलता है। यही निष्काम कर्म की युक्ति है। अर्थात् बाह्य सुख के काम में मन का रमणा न हो, तब कर्म करना। इसी का नाम निष्काम कर्मयोग है। यह नहीं कि कर्म करते हुए का

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

मन बाहर विषय सुख को चिन्तन करता हुआ कर्म करे।

इसी प्रकार वर्षा में, शीत ऋतु में चलता हुआ उस काल के सुखों को मन में बसाकर यदि कर्म करे, तो मिथ्या कर्म की युक्ति है। कीचड़ में चलता हुआ जन सुखे में चलने के सुख को मन में रखता हुआ यदि कीचड़ में चले और उसे चलना पड़े, तो वह इन कर्मों को सुन्दर रीति से सम्पन्न नहीं कर सकता। इसलिये यदि मन की उपस्थिति (हाजरी) रखकर पुनः कर्तव्य की स्मृति, व, वैसे ही स्मृति को उपस्थित रखकर कर्म करे तो उसकी स्मृति उसे सुख पूर्वक केवल कर्म करने का मार्ग बता देगी। उसकी स्मृति जो कि सब प्रकार के अनुभवों से उत्पन्न हुई हुई होती है, उसे जता देगी कि भय, चिन्ता, शोक और व्यर्थ के सुख बन्धन की कोई आवश्यकता या युक्ति नहीं। इसलिये शान्तभाव से कर्म करते समय उसी के ही ध्यान में कर्म करना चाहिए।

यह सब ऊपर कही सर्व प्रकार की स्मृति रखने, व अभ्यास करने की सरणी का (पगडण्डी का) निर्देश किया गया है।

इसी प्रकार चाहे कोई छोटे से छोटा देहादि का कर्म हो जैसे हाथों का धोना, मुख शुद्धि, मुख प्रक्षालन (धोना), दन्त धावन (दातुन), स्नान, दूसरों से वार्तालाप करना या अन्य अपने जीवन धारण निमित्त समाज के कार्य कर्तव्य रूप में करना इत्यादि-इत्यादि, इन सब में मन की उपस्थिति, व, स्मृति बनी रहनी चाहिये। इस स्मृति से मनुष्य अपने आप में रहेगा। अपनी आत्मा में

बसेगा। और अनुचित उद्वेग, उत्तेजना और विकार, बन्धन जो कि सुख राग और दुःख द्वेष के कारण सर्व अनुचित हानिकारक कर्मों को बलात् करवाते हैं, उन सब से यह स्मृति रूपी दुर्गा सुरक्षित रखेगी और ध्यानोपयुक्त मन को शक्ति प्रदान करके सब बन्धनों से मुक्ति देने में सहायक बनेगी। इस स्मृति की क्षीणता से बन्धन और विकारादि मनुष्य को पराधीन बनाते हैं और असहाय दुखों में पटक देते हैं। यदि यह स्मृति बसी रही तो वह सब बन्धनों को दर्शा-दर्शा कर; उनकी हानि को जता-जता कर मनुष्य को इनसे छूटने व मुक्ति पाने के लिये प्रेरित करेगी। याद रहे कि ज्युँ ज्युँ जन भव बन्धनों की पाश से मुक्त होता जाता है, स्मृति भी त्यूँ-त्यूँ ही शुद्ध और अक्षुण्ण (न नष्ट होने वाली) होगी। जब सुख दुःख बन्धन विकार प्रबल हैं, तो यह भी आरम्भ में शिथिल ही रहेगी। अभ्यास द्वारा, ज्ञान पाकर शनैः-शनैः बल प्राप्त करेगी। साधारण जन का मन तो सुख के काम, व दुःख के तनाव ने चुरा रखा हुआ होता है। पुनः उसकी प्रतिरोध शक्ति के सन्मुख स्मृति से कर्म करना, व, कर्म में स्मृति रखने में कुछ प्रथम कठिनाई अवश्य प्रतीत होती है। मन तो एक ही है न! वह दो तरफा होने से कुछ क्लेश अवश्य अनुभव करेगा। परन्तु जैसे-जैसे स्मृति से कर्म करने का अभ्यास बढ़ता जायेगा, वैसे-वैसे वह विपरीत शक्ति क्षीण, दुर्बल होती जाएगी। परन्तु जब तक विपरीत सांसारिक स्वार्थ (सुख दुःख के सम्बन्ध की चिन्ता) वाली शक्ति प्रबल रहेगी, तब तक स्मृति व

卐卐

मनकी उपस्थिति भी भली प्रकार से स्थिर नहीं रहेगी। केवल जिस में बाह्य काम सुख है, स्मृति उसी में ही उलझी रहेगी।

४. समाधि (Absorbed Meditation with Serenity)

समाधि का शब्दार्थ है समाधान। मन को भली प्रकार चारों दिशाओं से निवृत्त करके, मोड़ कर एक ही किसी विषय में, या अर्थ में स्थित करना वा धारण करना।

अब यह देखना है कि आध्यात्मिक सफलता चाहने वाले को यह किस विषय में धारण करना है। जबकि सांसारिक विषय सुख, व, संग सुख विचार शील साधक को तुच्छ, व, सदा न बने रहने वाला प्रकट होने लगा, और इन सब बाह्य सुखों का अन्त भी रोग, शोकादि, न समाप्त होने वाले दुःख में प्रतीत पड़ने लगा; तो वह पुनः इन सब काम सुखों से अपने मन को मोड़ कर, निवृत्ति परायण होना चाहेगा। परन्तु इन से वियुक्त होने पर इन्हीं के सहारे से व्यतीत होने वाला समय किस प्रकार व्यतीत किया जायेगा ? यह समस्या मन में पर्याप्त (काफी) चिन्ता उत्पन्न कर सकती है। इसलिए मनुष्य जानते हुए भी पुनः उन्हीं के संग से समय व्यतीत करना चाहता है। उनका (बिछोड़ा) वियोग अशक्य (न हो सकने योग्य) प्रतीत होता है और इस प्रकार संसार बन्धन से मुक्ति कैसे होगी ? यही सब मन की शंकाओं का समाधान, और पुनः उसकी स्थिरता अपनी केवल आत्मा में या अपने आप में खोजना और पाना, इसी के निमित्त मन को धारण करना, यह सब ससाधि में

सम्मिलित है। जैसे-जैसे पूर्व जीवन के प्रकार के बन्धन अर्थात् भौतिक सुख के बन्धन मन को बांध कर तनाव उत्पन्न करें और उस तनाव से जीवन दुर्भर सा प्रतीत करवायें, तो तैसे-तैसे आसन पर स्थिर हो ध्यान के बल को अपनाये। ध्यान में मन को स्थिर करके जिधर पुनः यह तनाव प्रेरित करता है, उस दिशा के दुःखों को ध्यान में ही साक्षात्कार करके उनमें भय देखकर मन को उधर जाने से रोके रखे। जिस वस्तु में दुःख का भय अधिक हो और सुख उससे अल्प, तो दुःख के भय से उस वस्तु का त्याग करना कोई कठिन नहीं है। परन्तु ज्ञान जागना चाहिए। रोगी जन रोग की अवस्था में पथ्य भोजन करता है, अर्थात् जिससे उसे स्वास्थ्य लाभ की आशा है, वही भोजन खाता है। कितना भी प्रिय, रुचि का भोजन, केवल दुःख वृद्धि के भय से त्याग देता है। देखने में आता है कि जीवन भर के लिए भी कई एक रोगी अत्यन्त प्रिय रसों को भी दुःख के भय से छोड़ देते हैं। लवण (नमक) नहीं खाते, मीठा भी त्याग देते हैं। यहाँ तक घृत (घी), दूध आदि पौष्टिक पदार्थ भी नहीं सेवन करते। केवल अपने अधिक दुःख के भय से, केवल अपना जीवन रखने निमित्त वृद्ध (बड़े) हुए-हुए रोग के कारण से यह सब तब छोड़ कर भी जीते हैं। परन्तु यहाँ साधक, विचार शील, मुमुक्षु को इतनी कड़ी तपस्या तो नहीं करनी पड़ती कि पदार्थों को शाप बना कर छोड़े। परन्तु विचार द्वारा विवेक जगाकर ध्यान में आगे आने वाले दुःखों को पहले से ही ध्यान में देखकर पुनः अपने मन को उस

दुःख के कारण को समझ कर, दुःख आ पड़ने से पहले ही टालने का थोड़ा कष्ट सहन करने के लिए उत्साहित, उत्तेजित करना और उस संयम के अल्प दुःख को सहन करने के लिए तैयार करना और सब प्रकार की शंकाओं से हटाकर मन को धारण करना, यह सब समाधि का ही क्षेत्र है। सबसे प्रथम तो अपने जीवन का ही ध्यान करना कि मैं क्या कर रहा हूँ ? वह भला है या बुरा ? भला बुरा यद्यपि अपने मन से बालक को नहीं जान पड़ता, इसलिये थोड़ी श्रद्धा रखकर कहे सुने शास्त्र के व गुरुजनों के वाक्यों पर ध्यान देना, जिन से जीवन के व जीवन सुचारु (भले) रूप से धारण करने के नियम मनुष्य को जानने में आते हैं। यह बात न्यारी है कि किसी को इन शास्त्र के वाक्यों से श्रद्धा होने पायेगी या नहीं। श्रद्धा केवल अधिक अनियमित सुख का पक्षपात ही नहीं होने देता या अधिक दुःख से भीरुपना (डर) अपने आदत के सुख खो जाने के भय से, या पुनः उस अधिक सुख के वियोग से दुःखी होने के भय से मनुष्य शास्त्र के संयम जताने वाले वाक्यों पर विश्वास नहीं कर पाता। परन्तु कछुक (थोड़ा) ऐसे व्यक्तियों पर दृष्टिपात करें, जो कि उन अनियमित सुखों के कारण से पुनः अल्प सुखों से भी वन्चित हो गये हैं। यह सब आसन पर बैठ कर मन को सब ओर से मोड़कर (रोककर) चिन्तन करना पड़ता है। यह सब समाधि का ही क्षेत्र है। यही वितर्क, विचार रूप ध्यान द्वारा मन को निद्रा, आलस्यादि से दूर हटा कर मन से बोल-बोल कर, शब्द द्वारा सत्य

के विचार को जगाते जाना चाहिए। इस प्रकार वितर्क (शब्द रूप) द्वारा विचार (चिन्तन रूप) जगा-जगा कर अर्थ को समझना अर्थात् सत्य में मन को बिना किसी शंका और भ्रान्ति के स्थिर करना, व धारण करना यही समाधि रूप उपाय है। इसी के आगे पञ्चम उपाय सत्य का ज्ञान (निकट से साक्षात्कार रूप) रूप प्रज्ञा रूप उपाय मोक्ष को देने वाला सम्पन्न होगा। यद्यपि मन को वह 'अन्धी शक्ति' जो कि बालक के अन्दर बहुत व्यायाम कर चुकी है; और बहुत प्रबल हो चुकी है, वह ऐसी ध्यान की अवस्था में अपनी ही दृष्टियाँ उत्पन्न करके ध्यान को बिगाड़ेंगी। परन्तु मुमुक्षु अपने सत्य के विचार की धारा को जाग्रत रखने का सतत् (निरन्तर, लगातार) यत्न रखे। आप किसी विषय के दुःख को दृष्टि में लाना चाहेंगे। परन्तु आदतों वाला बाह्य सुख वाला मन कोई विषय की दृष्टि (नजर) इस प्रकार से चमकीलेपन से आपके ध्यान में प्रकट करेगा कि आप लम्बे समय तक उस की चमक, आकर्षण और अल्प सुख में भूले-भूले ध्यान को खो बैठोगे। और जब अल्प (थोड़ा) यत्न ध्यान को स्वस्थ बनाने का करोगे तो वही आकर्षक दृष्टि की शक्ति ही भंग होकर आलस्य, व निद्रा के सुख रूप से आपको हीनवीर्य (शक्तिहीन) बनाकर उस निद्रादि के सुख में लुभाकर ध्यान को भंग कर देगी। अब, यह आप पर निर्भर करता है कि ऐसी अवस्था में उस आकर्षक दृष्टि व उसके सुख के प्रलोभन को आप किस प्रकार टाल कर अपने ध्यान को स्थिर रख सकते हैं। केवल

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

विचार की जागृति की आवश्यकता है। वे सारे सुख दोषपूर्ण हैं। परन्तु जब उसकी आकर्षक दृष्टि बनती है तो दोष दृष्टि में नहीं आते। परन्तु जब समय निकल जाता है, तो उसका पता चलता है। तब मनुष्य अपने को छला हुआ सा प्रतीत करता है। परन्तु यदि कोई उद्योगी साधक हो, तो वह अपना उद्योग न छोड़ता हुआ ध्यान में आने वाली विपरीत दृष्टियाँ, तथा सुख दुःख सम्बन्धी संशय, काम, क्रोध और आलस्य, निद्रा आदि को टालता हुआ अपने सत्य के शब्दों द्वारा विचार को देखता हुआ अपने सत्य के शब्दों द्वारा विचार को जगा-जगा कर उनके दोष को देखता हुआ उनके सुख की बजाय उसके दुःख रूप में दृष्टि खोलेगा। यह दृष्टि खुलेगी अवश्य, परन्तु समाधि मिलने पर। जैसे चिन्तन बढ़ता जायेगा, प्रतिरोध शक्ति क्षीण होती जायेगी, विवेक जागता जायेगा। बन्धन टलता जायेगा। उन विषय सुख के त्याग का चिन्तन सूक्ष्मरूप में भी नहीं रहेगा; उनके सम्बन्ध वाली जगत् में अपनी ''मैं'' (अस्मिमान) भी बुरी लगेगी। उसके भी खोने का कोई शोक नहीं होगा, तो पूर्णरीति से जागे मन में विवेक ख्यात (विवेक प्रकट) झलकेगा। मन में सत्य को पाने की प्रीति या प्रसन्नता होगी। ध्यान तब बिना शब्द के और विचार के भी प्रीतिमात्र से ही सत्य समझता हुआ अपने आप में आनन्दित रहेगा। जैसे कोई सत्य समझना इतना प्रिय लगे कि उसको समझ-समझ कर मन अपने आप में प्रसन्न जागता रहता है। इसी प्रकार जगत् की मिथ्या तृप्ति, दुःखमयी से छुटकारा

देने वाला वह सत्य का ध्यान, दोषों को प्रकट कर जो सत्य का साक्षात्कार करायेगा वह तुरन्त मन को उन बन्धनों से छुड़ा कर आनन्द देता हुआ प्रतीत होगा। तब समय व्यतीत करना भी कोई समस्या नहीं रहेगी।

जब प्रीति वाला ध्यान पा लिया पुनः सत्य के आनन्द से भी मन समाहित रहा तो यह सब समाधि की ही अवस्था है। परन्तु इस समाधि की पराकाष्ठा (सबसे ऊपर का दर्जा) तो वह है; जो सत्य समाधि में बन्धन से छुड़ाने वाला पाया गया है। वह इतने सरलभाव से (आराम से) मन में स्थिर (टिक) हो जाए कि वह सत्य बिना अब विचार के भी मन में प्रकट रहे; तो विवेक ख्यात हुआ, विवेक प्रकट रीति से जाग्रत हुआ और यह उपेक्षा के साथ सहज ही मन में स्थिर रहे, टिका रहे। इसकी प्रीति व, आनन्द भी अपने अनुभव द्वारा इसे मलिन (मैला) न बनाये। तब पूर्ण सहज स्वाभाविक विवेक सब बन्धनों की हानि करके प्रत्यक्ष मोक्ष या निर्वाण का सुख देगा। यही सब समाधि का विवरण है कि यहाँ पूर्व की ''मैं'' या अस्मिता (मैं भाव) भी न रहे और सत्य बिना किसी प्रतिबन्धक (अड़चन) के उपेक्षा की परिशुद्धि के साथ ध्यान में झलके। जब तक बाह्य जगत् की पूर्ण उपेक्षा नहीं तब तक ध्यान की, व समाधि की पूर्ण अवस्था नहीं। इसलिये बाह्य जगत् की 'मैं' का स्वरूप पूर्णतया शून्य जैसा वहाँ रहना चाहिए। समाधि के सुख व आनन्द की भी 'मैं' बाह्य जगत् में उछलने को सम्भव है। परन्तु उससे भी यदि निवृत्त रहा तभी उपेक्षा

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

परिशुद्धि का ध्यान समाधि रूप से कहा जाने योग्य है। इसी से ही सत्य का साक्षात्कार होकर बन्धन टलते हैं। यही सत्य का साक्षात्कार ही प्रज्ञा शब्द कहा जाता है।

५. प्रज्ञा (Truth bearing knowledge or super intelligence)

जब तक ध्यान को विषय सुख, व सांसारिक जीवन की धारा प्रतिबद्ध (विघ्नों में) रखती है, तब तक यह सत्य होते हुए भी प्रकट मन में नहीं भासता। बाह्य सुख, बाह्य स्वार्थों का दृष्टि में पड़ना और दृष्टि में पड़ते ही मिथ्या संकल्प में जकड़े जाना, और उनके प्राकृतिक आकर्षण से मन का उनको चिन्तन करने में जुड़ जाना; पुनः उनके लिए मनोभाव और उससे भी पूर्व उनका काम या इच्छा इत्यादि होना, पुनः उन्हीं को पाने के लिये गुप्त या प्रकट, चोरी व बहांना से, सत्य व झूठ से कई प्रकार से उन्हीं के ध्यानों में समय व्यतीत करना, यह सब सत्य के साक्षात्कार में प्रतिबन्धक (अड़चन) है। परन्तु किया क्या जाये ? प्रकृति की शक्ति भी बलवती है। यदि थोड़ा प्रतिरोध या रोक का यत्न करें, तो यह प्राकृतिक शक्ति, निद्रा व आलस्य के सुख को दिखा कर लुभाती है और विवेक जगाने के शब्द व विचार की धारा को बुरी प्रकार से अस्त व्यस्त कर देती है। उन सब बाह्य आकर्षक सुखों को छोड़ने में मन शोकातुर हो मोह में रहता है और आगे ध्यान में विषयों के सुख के भयंकर दोषों के सत्य में दृष्टि ही नहीं खुलने देता। यह दोष सब संसार को चला रहे हैं। संसार का बल इनके साथ है।

आध्यात्मिक जीवन के पक्ष में तो केवल प्रकाण्ड (बढ़ा चढ़ा) विवेक वाले भगवान् का ही बल है। वह भी जाग्रत हो सकता है, इसमें श्रद्धा चाहिये और उद्योग चाहिए। विवेक जाग्रत होना ही प्रज्ञा का वास्तविक स्वरूप है। यह प्रज्ञा सत्य को जताती है और भली प्रकार से बल से मुमुक्षु को सब बन्धनों से छुड़ा कर परम पद को आत्मा रूप से ही दर्शाती है। यह प्रज्ञा क्रमशः समुन्नत (बढ़ती रहती है) होती रहती है। पहले छोटे मोटे सत्यों को खाने पीने में, बोलने चालने में, सोने जागने में, और यहाँ तक कि इन्द्रियों की चेष्टाओं के सत्य और मन में विकारों के बारे में और बुद्धि के निश्चयों में भी यह सत्य ज्ञान रूप प्रज्ञा बढ़ती जाती है। उत्तरोत्तर इस के निश्चय प्रमाणित होते हैं। किसी समय किसी अर्थ को यह बहुत बुरा बतला दे, परन्तु हो सकता है कि जब फल की प्राप्ति हो जाये तो पुनः प्रज्ञा में वह बहुत बुरा भी न प्रतीत पड़े। संसार प्रथम तो ऐसा प्रतीत होगा जैसा कि पुनः जीवन के योग्य भी न हो, परन्तु उद्योगी साधक का ज्ञान बढ़ते-बढ़ते उसे इस में इतना बल देगा कि उसे इस संसार में मिथ्या भय का भी कोई कारण नहीं दीखेगा। यही सब सत्य का ज्ञान प्रज्ञाविष्ट मोक्ष का उपाय है, जो कि ध्यान से उत्पन्न होती है और समय पाकर पूर्णता को प्राप्त होती है। सुनने पढ़ने से यह प्रज्ञा उत्पन्न नहीं होती, अर्थ का सत्य का साक्षात्कार, निकट से, अनुभव से जानना यही सब प्रज्ञा का स्वरूप है। यह प्राकृतिक व इन्द्रियों के ज्ञान और बाह्य मन के विश्वासों को लांघे बिना नहीं होती।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

यह सब प्रज्ञा के मार्ग में विघ्न रूप से उपस्थित होते हैं। केवल ध्यान में उद्योग द्वारा विरोधी बल को क्षीण करके, उसकी निवृत्ति पर समाधि स्थिर होने पर यह प्रकट होती है और प्रकट हो दुर्गा के समान बन्धन रूप में विचरने वालों, दैत्यों (राक्षसों) को ध्वंस करती है। मुक्ति का साक्षात् उपाय है। यही सब श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा रूप पाँच मोक्ष के उपायों का निरूपण हुआ।

"प्रज्ञा" शब्द का विशेष करके तात्पर्य उस ज्ञान से है, जो शोधा हुआ ध्यान द्वारा प्राप्त होता है। ऊपर से तो जो सत्य या सुख देने वाला प्रतीत होता है, उस के ऊपर विचार करने पर उससे विपरीत (विरूद्ध) जो कोई सत्य का ज्ञान है, शोधा हुआ, वही प्रज्ञा शब्द से कहा जाता है। जैसे कि विषयों का सुख आदत के अनुसार सब को प्रथम प्रिय लगता है, परन्तु उसकी प्रियता सर्वदा बनी नहीं रहती; मन तो उन के सुख को पुनः-पुनः स्मरण तो कराता ही रहता है परन्तु ध्यान करने से उन सब विषयों का सुख वैसे सुख रूप में नहीं रहता जैसे कि किसी प्रथम अवस्था में हुआ था। अब यही विषयों का सुख ध्यान में चित्त की एकाग्रता करके और समय के अनुसार इसी सुख के देने वाले विषयों का संग बजाए दुःख देने के, और कुछ भी प्रतीत नहीं होगा। उनका पहला अर्थात् किसी पहली लड़कपन या जवानी की अवस्था का सुख पिछली अवस्था में होना तो दूर रहा; परन्तु उन विषयों का संग कई प्रकार से व्याधि इत्यादि दुःखों को ही करने वाला होगा। परन्तु मन तो उन की पुराने सुखों की याद

ही करवाएगा। यह यादें या विषय सुखों की स्मृतियां केवल ठगने वाली ही होंगी। विषयों के संग से होने वाले सुख तो दूर रहे, विपरीत इसके उन विषयों के संग से दुःख ही होता है। इस दुःख पर दृष्टि रखते हुए व्यक्ति को यह सारे विषयों का संग बजाए सुख के दुःख रूप से ही भासेगा। परन्तु यह सब एकान्त में आसन पर बैठ के, चिन्तन करने वाले साधक को ध्यान में ही प्रतीत होगा। यही जो ध्यान में सत्य का ज्ञान झलकता है या होता है, इसी का नाम वास्तव में प्रज्ञा है। इसी प्रकार अन्य भी कई छुपे हुए सत्यों को प्रकट करने वाला ध्यान ही सत्य ज्ञान रूप प्रज्ञा को प्रकट करता है। उसके प्रकट होने पर साधक पुरुष मिथ्या पुराने विषयों के सुख को छोड़कर वैराग्य को प्राप्त होकर सब विषयों के बन्धनों को छोड़कर अपनी आत्मा में स्थिर होने का सच्चा सुख पाता है। यह सब प्रज्ञा की कृपा है।

पीछे निरूपण किये गये पाँच बलों का व्यवस्थित प्रयोग :-

जब मनुष्य जीवन का सुघटित, सुव्यवस्थित उपयोग करना चाहेगा तो उसे जीवन के उद्देश्य (पाने योग्य फल) को सन्मुख रखकर ही सब कुछ सोचना, विचारना व निश्चय करना होगा। और जैसा कुछ उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए करना चाहिये, वैसा ही करना होगा, वैसे ही चलना पड़ेगा। यदि उस भव्य (श्रेष्ठ) उद्देश्य (मतलब) के लिये छोटा मोटा देह, इन्द्रिय और मन का सुख भी त्यागना पड़े तो वह भी त्यागना पड़ेगा। और इससे

अर्थात् अल्प सुख त्यागने से यदि कुछ दुःख भी सहना पड़े, तो वह भी मन की उपस्थिति रखते हुए स्मृतिपूर्वक सहन करना पड़ेगा। और भी आसन, ध्यान या निद्रा आदि अर्थात् आहार आदि को नियमित रूप से करने का भी कष्ट स्मृति रखते हुए अपने उद्देश्य को सन्मुख रखकर सहन करना होगा। बहुत सी आदतें जो समुदाय में रहते हुए पड़ (पनप) चुकी हैं और वे बाह्य जन साधारण के ढंग से रहते हुए आपत्ति कारक भी नहीं के समान ही हैं, तो भी यदि अपने उस श्रेष्ठ जीवन के उद्देश्य के विपरीत है, तो उसे सब त्यागना ही न्याय संगत और आवश्यक होगा। जैसे कि किसी के कटु वचन बोलने पर पुनः अपने आप भी वैसे ही स्वर (आवाज) में उस से वैसे ही बोलना और पुनः मन में उसे आक्रोश (गाली गलोच) करना या उसके लिए द्रोह का चिन्तन अर्थात् अहितकर चिन्तन करना, उसके लिये पुनः मिथ्या ध्यानों में पड़कर उस का बुरे करने की योजनायें बनाना; चाहे बुरा कुछ किया जायेगा, वा, न; परन्तु मन को विपरीत रीति से, अर्थात् कल्याण रूप उद्देश्य के विपरीत प्रकार से व्यस्त रखना, लगाये रखना और इसी मिथ्या जीवन के प्रकार से समय व्यतीत करना, और पुनः दुःख देने वाले की दृष्टि मन में बसा कर उसकी विपरीत सब बातों और चालों की मिथ्या स्मृति (याद) मन में ला-ला कर अपने मन के भीतर उस का भी अनिष्ट (बुरा) करने के लिये सोचना या ध्यान में लाना, और पुनः घण्टों, खाली समय में, या चलते फिरते, काम

धन्धे में भी लगे, खाते-पीते हुए भी, वैसी ही मिथ्या स्मृति रखकर उसके बारे में मन में क्रोधाग्नि उत्पन्न करना और बसाये रखना, और दीर्घकाल तक उस क्रोध अग्नि को मन में रखकर इसी क्रोध रूपी वैरी को मिथ्या व्यायाम करने का मार्ग देना, जिससे कि यह सदा के लिए ही मन में बसने का अवकाश पाये इत्यादि-इत्यादि सब ही उद्योगी, साधक, मुमुक्षु को अपने जीवन के भव्य (कल्याणमय, श्रेष्ठ) उद्देश्य के लिए त्यागना व हर समय त्यागते रहना पड़ेगा। तब ही कहा जाएगा कि मनुष्य अपने जीवन को सुघटित (जुड़े जुड़ाए), सुव्यवस्थित (सुन्दर नियमों के अधीन) प्रकार से चला रहा है। और यदि जैसा कि समय अनुसार या किसी भी व्यक्ति के संग से, जैसी मन में उत्तेजना (जोश) व भली बुरी प्रेरणा आई, उसी प्रकार से सुख व दुःख से प्रेरित हो, चलायमान हो, बिंना भविष्य का भला बुरा सोचे, बिना परिणाम (नतीजा) विचारे, अल्प सुख, व दुःख से चलायमान (ढुलाया हुआ) होकर जैसा मन ने तत्काल चाहा, वैसा ही करने को तैयार हो गया, व वैसा ही कर बैठा और करता कराता गया, तो यह जीवन पहले सूचित किये गये भद्र (श्रेष्ठ) जीवन के विपरीत अव्यवस्थित, प्राकृतिक (कुदरती) जीवन है। जिसमें प्रकृति (कुदरत) सहज ही सब जीवों को चलने के लिए प्रेरित करती (धकेलती व उकसाती) है। यह कभी भी नियमों के अधीन नहीं होता। इस जीवन वाले का कोई धर्म व उत्तम धर्म नहीं होता, केवल प्राकृतिक (कुदरती) अल्प समय का

卐卐卐

सुख व दुःख ही प्रेरक (उकसाने वाला) होता है। यह इतनी बुद्धि उपजाने का कष्ट नहीं करता और न कर पाने का सामर्थ्य (शक्ति) ही रखता है कि परिणाम (नतीजें) के लिये भी कुछ विचार कर ले, कि आने वाले समय में भी, आज और अब रहने वाला मैं (आत्मा) रहूँगा, मैं होऊँगा और उस समय अब का किया हुआ मेरे सामने कैसे आएगा ? यदि यह विचार कर सके तो वह जन आत्मवादी आत्मा को मानने वाला कहा जायेगा। क्योंकि आत्मा उसी ''मैं'' रूप अपने आपे का है जो कि आत्म शब्द के अर्थ के अनुसार सतत् (लगातार, निरन्तर) बनी रहने वाली है। उसका सदा एक रस ''मैं भाव'' बना रहे। परन्तु जो भविष्य वाली ''मैं'' का ध्यान ही नहीं रखता, कि उसे आज का किया या आज का चला चलाया कैसे रूपों में उपस्थित होगा, सुख रूप में, वा दुःख रूप में; तो वह यदि कहने मात्र में आत्मा को सदा रहने वाला माने भी, तो भी सही उचित अर्थ में (मानों में) वह आत्मा को न मानने वाला ही है। क्योंकि आत्मा वह बना रहने वाला सत्य, अपना आपा है जो कि हमारे सारे जीवन को एकरूपता देता है। एक रूप में बाँधता है, और संघटित करके व्यवस्थित जीवन चलने के लिये प्रेरित करता है। यदि प्राकृतिक काम, क्रोध आदि की उत्तेजनाओं में यह खो गया और आगे की इस की सुखमयी, आनन्दमयी सत्ता (हस्ती) अस्तित्व को विचारे बिना आज अपने अल्प सुख के लिये, व अल्प दुःख को टालने के लिये जैसे कि काम, क्रोधादि प्रकृति

के विकार पशु, पक्षी आदि के समान भला बुरा करने के लिए उकसाते हैं, ऐसे ही हम भी बिना भविष्य सोचे, बिना परिणाम सोचे कर गये तो आत्मा न के समान (बराबर) ही हो गया; तो यह सब मिथ्या जीवन, का प्रकार (किस्म) कहा जायेगा। यहाँ आत्मा का कोई अस्तित्त्व ही नहीं, केवल प्रकृति की उत्तेजनायें या भाव, विकार ही चलाने वाले हैं। और उसी समय की क्षणिक (क्षण भर रहने वाली ही) अपनी 'मैं' या 'आत्मा' की भक्ति है। ऐसी क्षण भर रहने वाली 'मैं' या 'आत्मा', वास्तव में (सही मानों में) अनात्मा ही है। सुखरूप नहीं, दु:ख रूप ही है। नित्य सदा रहने वाली नहीं, अनित्य, अल्पकाल वाली ही है। इसलिये मनुष्य को अपने आप को यहाँ तक चेतन करना चेताना, जगाना (तैयार करना) चाहिये कि यह प्रथम ऊपर कहे गये मोक्ष के उपाय रूप पञ्च बलों (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा) द्वारा मिथ्या, प्राकृतिक (कुदरती) जीवन के दोषों को शमन करता हुआ, उसके बुद्धि, मन, इन्द्रिय और देहादि में होने वाले सब मिथ्या कर्मों को शान्त करके उत्तम आध्यात्मिक (आत्मा में होने वाला, आत्मा के निमित्त, आत्मा के हित के लिये) जीवन को अपनाये और समुन्नत करके इसी जीवन का फलस्वरूप केवल आत्मा में ही होने वाली स्थायी (सदा बनी रहने वाली) शान्ति पाये। जो बाह्य, सांसारिक किसी भी हेतु से, निमित्त से, नहीं उत्पन्न होती, वही निर्निमित्त आत्मा की शान्ति है। यह केवल बाह्य प्राकृतिक (कुदरती) बालपन से अभ्यस्त

जीवन के रागादि बन्धनों से मुक्त होने पर ही मिलती है। उन्हीं बन्धनों को ऊपर कहे गये पञ्च उपायों द्वारा जानकर (ज्ञान करवा कर) उद्योग द्वारा क्षीण और नष्ट करके नित्य सुख रूप निर्वाण की प्राप्ति होती है। इसलिये यह पञ्च बल उपाय रूप से भी कहे जाते हैं। जब तक दुःख बना रहेगा तब तक आत्मा में शान्ति नहीं। दुःख, किन्तु, तब तक रहेगा, जब तक इन्द्रियों व मन का प्रवाह, वा, रुख बाहर की ओर है और दुःख को मिटाने के लिये जन बाहर की ही सोचता है, बहिर्मुख है। जब तक बहिर्मुख है तब तक यह समझना चाहिये दुःख टलना तो दूर रहा, अधिकाधिक ही बढ़ेगा। इस दुःख की अत्यन्त निवृत्ति, आत्यन्तिक शान्ति तो तभी होगी जब कि ऊपर कहे गये पञ्च बलों के उपाय से प्राकृतिक जीवन की सब प्रकार की प्रेरणाओं का परिहार (टालना) करते हुए आध्यात्मिक जीवन के सब अंगों को पुष्ट करता जाये। ये सब सूचित कर दिये गये हैं। व्यवस्थित पूर्व ग्रन्थों में यह इस प्रकार भी कहे गये हैं :-

१. मिथ्या दृष्टि (Wrong feeling/Wrong view) :-

इसका अर्थ है मनुष्य का अहित करने वाली दृष्टि (नजर); बुरी दृष्टि, जो कि भली नहीं, ठीक नहीं। जैसा कि प्राकृतिक मन अपनी दृष्टि में (नजर में) बाह्य देह, इन्द्रियादि से होने वाले सुख बसाये रखता है और उन्हीं की ही प्रतीक्षा (इन्तजार) में रहता है। उन्हीं की आशा रखता है। यह सदा दृष्टि में शुभ, (भले करके) प्रतीत होते हैं। इन में इसे दोष दिखाई नहीं देता। इन्हीं बाह्य

सुखों के जो जो भी स्त्री, पुत्र, धन, परिवार और समाज और बहु प्रकार का बाह्य सामर्थ्य, अधिकार आदि चाहिये वे ही सब दृष्टि में भले जचते हैं। उनकी दृष्टि बनते ही वह इस दृष्टि से बन्धा हुआ प्राणी कई प्रकार से प्रेरित होकर बाहर संसार में कुछ का कुछ भी बिना भविष्य का हित सोचे, करने पर उतारू हो जाता है। भविष्य का हित का तात्पर्य है जीव कल्याण, सदा बने रहने वाली भलाई, सुख, शान्ति, जिससे वियुक्त (बिछुड़ने) होने की कभी सम्भावना भी नहीं। वही मनुष्य का सच्चा प्राप्त करने योग्य लक्ष्य ही मन में रखते हुए कहा गया है कि "भविष्य का हित" सोचे बिना अल्पकालिक स्वार्थ (सुख) के लिये न जाने मनुष्य क्या-क्या करने पर मिथ्या दृष्टि से, इस मिथ्या दृष्टि के कारण प्रस्तुत (तैयार) हो जाता है। यद्यपि उसे, मनुष्य होते हुए अपने सांसारिक भविष्य के हित की तो अवश्य खबर है, परन्तु इस से परे नित्य शान्ति, वा निर्वाण की कोई सूझ नहीं। ऐसी मिथ्या दृष्टि बहुत रूपों में मनुष्य को छलती है। न होती हुई वस्तु को होती हुई सी बना देती है। और उसे वस्तु रूप देकर मनुष्य के भीतर (मन में) इच्छा उत्पन्न करके, पुनः कई एक कर्मों के चक्र में उलझाये रखती है। जिससे थोड़ा सुख मिले, या अल्प मान, आदर गौरव का सुख प्राप्त हो, उस देह में, वा काया में मित्र, बन्धु, माता पिता, बहन भाई आदि की दृष्टि (नजर) बना कर इन ऊपर कहे गये प्राणियों को रचता है। क्षणमात्र के उनके व्यवहार से काया या देह में सदा के लिये बसा रहने वाला

卐卐

सत्त्व (सत्ता वाला) प्राणी प्रत्येक जीव का अपनी दृष्टि में ही रचता है। यही दृष्टि से सृष्टि होती है। इसी प्रकार जिन से दुःख अल्पमात्र भी हो, वे सब वैरी रूप से, जीव, अपने भीतर अपने आप में ही, अपनी दृष्टि (नजर) में ही रखता है। यह सब दृष्टि की सृष्टि है। मित्र, वैरी आदि अपने पराये कोई वास्तव में तो हैं नहीं। यदि यही समझा जाये, तो है यह भी एक दृष्टि (नजर) ही; परन्तु यह दृष्टि सम्यक्, ठीक, या भली करके कही जायेगी, क्योंकि इससे राग व द्वेष नहीं होते। उल्टे सीधे कर्म भी नहीं बन पाते। यह तो उस मिथ्या दृष्टि के चक्र से निकाल कर केवल जीवन को सुचारु रीति से ही चलाने के लिये है। परन्तु वह मिथ्या दृष्टि, संसार के पदार्थों को शुभ, समझ में बसा कर, ऐसे ही सुख के कारण देहों को भी प्रीतिकर समझ में रख कर उन्हीं के चिन्तन में 'मैं' बसाये रखने के कारण राग वाली, उन्हीं के संयोग की इच्छा और पुनः इच्छा पूर्ति करने की दिशा में जो-जो आवश्यक है, वह सब कुछ करवायेगी। इच्छा पूरी होने पर जो प्रसन्नता, व सुख होगा, उस रूप में यह प्राणी अपनी ''मैं'' मानता हुआ पुनः उन्हीं के निमित्त बार-बार उसी दिशा में ही धायेगा। परन्तु वह सुख सदा रहने का तो है नहीं। परन्तु उस सुख बिना जब इस प्राणी की वह ''मैं'' नहीं मिलेगी, तो यह खोया हुआ अविद्या के चक्र में पड़कर पुनः मृत्यु को ही चाहेगा। क्योंकि वह सुख, जो कि समय ने छीन लिया, उसका वियोग (विछोड़ा) उसे इतना दुःखी करेगा

कि वैसे दुःख में रहने की अपेक्षा इसे मृत्यु ही सुहायेगी। और पुनः मरणानन्तर वही पुराना पापी सत्त्व पुनः नवीन स्वप्न के समान नवीन जन्म रचेगा। यह सब संसार रूपी दुःख मिथ्या दृष्टि का ही खेल है। यह जैसे जीवित मनुष्य को भड़कीली, चमकीली, मीठा लगने वाली कोई भी दृष्टि प्राणी की वा, पदार्थ की आकस्मिक (अचानक) मन में अन्दर वाला देव, चाहे, ब्रह्मा वा प्रजापति कोई भी नाम वाला हो, वह प्रकृति का देव इस दृष्टि को प्रोत्साहित कर देता है। प्रजापति इसे इसलिये कहते हैं कि यह किसी भी व्यक्ति को बाहर ही या प्रजा में ही गिरा कर, पतित करके, स्वयं ही बाहर कहीं पतन करके कोई सत्ता देगा; क्योंकि बिना सत्ता के कोई भी रह नहीं सकता। हर वक्त बना रहना चाहता है। यदि कोई सत्ता न हो तो वह अपने आपको नष्ट हुआ समझेगा। अब यदि केवल अपने आप में शुद्ध सच्चिदानन्द का ज्ञान प्रकट नहीं हुआ या साक्षात्कार नहीं हुआ तो कोई मुर्दा अन्धकार में भी नहीं रहना चाहेगा। तो वही अन्दर ही देव रूप शक्ति जिसे प्रजापति कहते हैं वह प्रजा में ही गिर कर या प्रकट होकर कोई भी सत्ता या हस्ती बाप, बेटा, मित्र, शत्रु इत्यादि दे देगा। इससे वह व्यक्ति अपने को बना बसा हुआ ही समझेगा। कोई भी उजड़ना या नष्ट होना तो चाहता नहीं। पर जो बाहर बनेगा, वह बिगड़ेगा भी; सदा रहने का नहीं। इस तरह जन्म मरण कभी समाप्त नहीं होगा। और जिसने अन्दर का सर्वव्यापक सच्चिदानन्द

रूप ब्रह्म अपने आप में अनुभव करके उसके आनन्द में नित्य टिकाव पा लिया, तो वहाँ तो मरने का कोई प्रश्न ही नहीं है। और जो यह नहीं पहचान सका, ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर सका, तो सदा अन्धकार में भी नहीं बसा रहना चाहेगा; अपनी सत्ता का कुछ न कुछ अनुभव किये बिना नहीं रह सकेगा; कुछ न कुछ होना ही चाहेगा। यह होना बनना तो प्रजापति का प्रजा में ही मिलेगा। यह एक रूप में तो प्रजापति है, परन्तु यह सारा वृत्तान्त किसी एक में ही तो नहीं है। सर्व जीवों में जहाँ तक यह जीवन शक्ति है, सब में ही यही खेल हो रहा है। जो इन सब को इस तरह संसार में बाहर ही बसाये रखने वाला है, यह ब्रह्मा की शक्ति है। इसीलिये एक रूप में प्रजापति ब्रह्मा का पुत्र कहा जाता है। चाहे इन्द्रियों के जगत् में इन्द्रियों को प्रेरित करके वा भटका करके किसी प्राणी को बाहर दृष्टि में बसा देता है या किसी खाने, पीने वा पाने के सुखदायी पदार्थ की दृष्टि स्मरण द्वारा याद में बसा कर, उसके सुख को इतना आकर्षक, मोहक (मोहने वाला) दर्शाता है कि उसे मन, स्मृति से (याद से) उतारना या भूलना ही नहीं चाहता। हठात् (हठ से) मन में बसाये रखना चाहता है। यही है राग चित्त, पुनः इसकी याद मन में यदि किसी प्रकार थोड़ा दुःख क्लेश समझ कर उतारना चाहे तो यह मन दुःख या शोक की वेदना का अनुभव करता हुआ उस पदार्थ व मीठा लगने, व, भाने वाले प्राणी को भुलाना नहीं चाहता और उसी में

विचित्त (खोया हुआ सा) रहता है। दूसरी ओर, अन्य दिशा में मन को ले जाना वा ध्यान विचार में भी लगाने में अरति या मन के अलगाव को प्रतीत करता है। यह सब मोह बन्धन की लीला है। अन्त में उसी प्राणी, व पदार्थ के संग को करके यह (जीव) मन को सुखी बनाने की ओर चल पड़ता है। उस सुख को पाकर सब संसार के कठिन से कठिन भी काम करता है। परन्तु उस सुख में होते हुए दोष को प्रत्यक्ष देखने के लिये दृष्टि नहीं खोल पाता। यह सब सांसारिक सुख देने वाले जगत् के पदार्थ और प्रियजनों की दृष्टि की सृष्टि है। जिस वस्तु से कुछ भी सुख स्वरूप उपयोग सिद्ध हो, उसी का कोई नाम दिया जाता है। यह दुःख को हरने के उपयोग से वह दृष्टि में बसा रहता है। यही उसका नाम रूप यह सुख दुःख के उपयोग से ही है। तो, बस ! यदि कोई उद्योगी साधक, मुमुक्षु विचार, ध्यान से सत्य को पाने के लिये यत्न करे तो वह इस सुख दुःख को सम कर दे; सुख को भी टाल कर और टालने पर टालने के दुःख में भी जीवन देख ले, जीने का अभ्यास करले तो पुनः इन (जगत् के प्राणी, व, पदार्थों) की मिथ्या दृष्टि के बिना भी वह जी सकेगा। इनकी दृष्टि बनने बनाने की आवश्यकता ही न रहेगी। केवल दूसरों से व्यवहार मात्र के लिये ही दृष्टि बनेगी। व्यवहार छूटते ही दृष्टि छूट जायेगी। यदि थोड़ा अपमान अनादर का दुःख दूसरों से पाने पर अपने आप में विवेक करले कि मनुष्य अपनी पक्की आदत से बर्ताव

करता है। किसी को अच्छा, व किसी को बुरा भी लग जाता है। इससे किसी से दुःख होने पर, पर का अपराध और अपना अनादर या अपमान क्या मानना ? इसे शान्त भाव से सहन करले तो यह मिथ्या दृष्टि के स्थान भली (सम्यक्) दृष्टि हुई। मिथ्या दृष्टि तब होती जब कि जिससे दुःख हुआ उस देह को मन में रखकर उसमें किसी दुःख देने वाले की दृष्टि (नजर) बनी रहती। परन्तु यदि दुःख सहन कर लिया और दुःख देने वाले किसी की भी स्मृति या याद मन में प्रवाहित नहीं हुई अर्थात् द्वेष चित्त भी नहीं रहा, और उस द्वेष चित्त को भी त्यागने पर पीछे कहा मोह चित्त भी न रहा तो ऐसे प्राणी के लिये दुःखदाता करके कोई भी नहीं रहा। ऐसे साधक की उन सब दृष्टि, राग, द्वेष, मोह आदि बन्धनों से मुक्ति सहज ही हो जायेगी। सब से प्रथम तो देह में या काया में थोड़ी देर के बर्ताव से ही झटपट बनने वाली दृष्टि का कोई सत्त्व या आत्मा मन से उतरना चाहिए। बर्ताव सुख का, व, दुःख का तो अल्पकालिक (थोड़े समय) तक सीमित है ही। उस बर्ताव का रहना थोड़ी देर का ही है। परन्तु उससे होने वाले सुख दुःख के कारण दूसरे के अन्दर उस सुख या दुःख देने वाले की दृष्टि तो यूँ बताती है कि जैसे उस दुःख सुख देने वाले काया में कोई सदा दुःख या सुख देने वाला बसा हुआ है। यही है अनात्म दृष्टि, जो काया या देह में होती है। देहात्मदृष्टि या सत्काय दृष्टि, इसी दृष्टि के नाम शास्त्र में है। वह

दृष्टि काया में सत् अर्थात् कोई सदा बना रहने वाले को बताती है और उससे उस काया वाले के लिये सदैव काल के लिये द्वेष अपने में भी बनाये रखती है। वह दुःख देने वाला और दूसरा दुःख पाने वाला सदा द्वेष करने वाला है। यह सब मिथ्या दृष्टियों का ही जाल है। यदि थोड़ा सह कर, सुख त्याग कर इस (दो तरफ) दोनों ओर (दुःख देने वाले और दुःख पाने वाले) होने वाली दृष्टि का विरोध करे और अपने में भी दुःख पाने वाले की दृष्टि न करके अपनी इस ''मैं'' को त्याग दे, और दूसरे की भी ''मैं'' को त्याग दे, और दूसरे की भी ''मैं'' दुःख देने वाला रूप से मन से उतार दे, तो कहाँ कोई दुःख दाता और दुःख पाने वाला। केवल एक ही एक चेतन सब में समान रूप से सब कायों की मशीन को चलाने वाला दीखे। क्षण-क्षण नव-नव व्यक्त, प्रकट होने वाला, अपनी लीला करता हुआ जान पड़े। बच्चे को देख कर कुछ, युवक को प्रतीत करके कुछ अन्य प्रकार, और वृद्ध को समझता हुआ अन्य ही प्रकार से व्यवहार करता हुआ, भिन्न-भिन्न स्थानों पर जैसी दृष्टि वैसे ही उसी समय खेल या क्रीड़ा करता दीखेगा।अपने में भी और दूसरे सब में भी सोई (वही) गीतादि शास्त्रों का व्यक्त भगवान् और उस की भक्ति का मर्म है। परन्तु खेल तो उसका क्षण भर का, परन्तु किसी में व अपने में उसकी पड़ गई गांठ, तो वह बताओ बिना पूर्ण साधना के कैसे कटेगी ? यही गांठो में ही तेरी, मेरी मिथ्या दृष्टि, और

卐卐

उसके परिणाम स्वरूप कार्यों में अनन्त बसे हुए आत्मा, और उन के निमित्त मन की उत्तेजनाओं से होने वाले अवश भयंकर कर्म जो कि अन्त में भयंकर अनन्त दुःख को देने वाले हैं, यह सब दुःखमय संसार सत्य करके प्रतीत होता है। यदि विवेक जाग्रत हो, यह मिथ्या दृष्टि टले और इसके स्थान पर सत्य की सम्यक् (भली) दृष्टि जागे, तो संसार कहीं भी नहीं, शान्त आत्म का ही राज रहेगा।

यह सब पीछे कहे गये पाँच उपायों के बल से भक्ति से ही सत्य समझ में पड़ेगा। यदि कोई आसन पर बैठ कर ध्यान करने का उद्योग करके निद्रा आदि की अधिक दासता से मुक्त होगा, तो ही यह खेल समझ में पड़ेगा, और पुनः वीर्य बल से दोषों को शमन करके सुख दुःख को सम करेगा तो इन बन्धनों से छुटकारा मिलेगा। पुनः स्मृति को ठिकाने रख कर सब में बिहार करेगा अर्थात् सब में जैसा चलना चाहिए, वैसा चलेगा तो ही आत्मा परमात्मा को पहचान कर निर्भय पद पायेगा। जैसे मिथ्या दृष्टि संसार से बाँन्धने वाली है, इसी प्रकार सम्यक् दृष्टि वह है जो बन्धनों से छुड़ाने वाली हो, निर्वाण या मोक्ष की ओर अग्रसर करने वाली हो, कल्याण तक पहुँचाने वाली हो। सब दृष्टियाँ जो प्राणियों में या पदार्थों में बनती हैं वे मिथ्या न होकर सम्यक् या भली होनी चाहिएँ। आप किसी को मित्र, वैरी आदि भी समझ सकते हैं अथवा पराया भी, इससे तो राग द्वेष आदि बन्धन ही बढ़ेंगे। आप दूसरों के गुण पर दृष्टि रख कर उस भली

दृष्टि को मन में बसा कर गुणवाला देखकर व्यवहार के योग्य ही संसार में प्राणियों को समझ कर शेष अपने आप में रहने का यत्न करें।

कोई प्राणी जैसे घर में अपने को निर्भयता से बसता हुआ, रहता हुआ सुखी पाता है, ऐसे वह वन के एकान्त वातावरण में नहीं पाता। उसे रात्री को वहाँ भय प्रतीत होता है। यह भय उसे उस हानि पहुँचाने वाले का है या जीवन हरने वाले किसी भी प्राणी का हो सकता है। ऐसी अवस्था में वह बाहर अपनी दृष्टि रखता हुआ संशय, भयादि के बन्धन में पड़ कर दुःखी होकर न जाने क्या विचार करता हुआ बन्धा रह कर दुःखी होता है। परन्तु यह दुःख घर में या परिचित वातावरण में नहीं होता, उसे चाहे निकट वाले कैसे भी बर्ताव दें, परन्तु उन में वह वन के भयानक वातावरण से तो सुखी ही प्रतीत करेगा। तो ऐसी अपनी सुख वाली आत्मा को पाकर वह जिन से सुख होता है या जिनके कारण से भय से विमुक्ति होती है, वे सब उसके अपने हैं और दूसरे पराये। उन में अपने पराये की दृष्टि ही है। और उसका कारण है सुख, दुःख भयादि। यदि कोई अपने बने रहने का मोह छोड़कर वैसे ही वन में हिंसा (हिंसक) प्राणियों से सुरक्षित रह कर अपने ध्यान में मिथ्या भय, शंका और व्यर्थ के कर्तव्य सम्बन्धी विचार छोड़कर, और अपने सांसारिक कामों के चक्र से दूर रहे, तो उसे पुनः घर व नगर क्यों उस भयानक रात्री में भी याद आयेगा ? और वहाँ वाले भी उसे अपने और दूसरे भय देने वाले पराये करके क्यों

सूझेंगे ? यह केवल उपयोग के कारण से ही देहों में दृष्टि मात्र में ही रचे जाते हैं। सुख के कारण से अपने और दुःख, भयादि के कारण से पराये हैं। यह सब एक ही पुरुष मात्र का संसार है। उद्योगी साधक समाधि द्वारा इस सत्य को साक्षात्कार करके सब को पुरुष मात्र पहचान कर अपने ही अन्तरात्मा में स्थिर हो जाता है। यही उसकी मिथ्या से विपरीत सत्य की दृष्टि है और सत्य का साक्षात्कार है। केवल सदा देह का वा देहधारी रूप से अपनी "मैं" का बने रहने का भाव (अभिनिवेश क्लेश) उसे न जाने कैसे-कैसे जनों के चक्र में डाल कर क्या क्या दृष्टियाँ करवाता है ? यह सब मिथ्या दृष्टि की लीला, सम्यक् या भली दृष्टि से या सत्य के साक्षात्कार से ही समाप्त होकर सुख मिलेगा। यदि बाहर कोई स्वार्थ नहीं, तो पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि तत्त्वों को भी दृष्टि में बसाने की आवश्यकता नहीं। तब केवल जैसे निद्रा में आत्मा अपने ही आप में सुखी है, ऐसे ही सब बन्धन क्षीण होने पर जागता हुआ भी अपने आप में ही आनन्दित रहेगा। केवल संसार को बाँधने वाली मिथ्या दृष्टियों से छुटकारा मिलना चाहिए।

सांसारिक सुख जो कि बाह्य साधनों से प्राप्त होते हैं उन सब सुखों के देने वाले साधन, व निमित्त शुभ (बढ़िया) रूप से दृष्टि में पड़ते हैं। परन्तु दुःख उपजाने के कारण से शुभ होते नहीं। इसलिये इनकी दृष्टि मिथ्या कही जाती है। उनकी दृष्टि बनते ही इच्छा व काम, उनका दीप्त (प्रचण्ड) हो जाता है। इच्छा व काम

के पीछे पुनः उनके उपादान या ग्रहण करने का भाव बन जाता है। वह भाव पुनः आगे-आगे वहाँ तक समुन्नत होता जाता है कि अन्त में व्यक्ति उसके सुख के ज्ञान को उपजा कर ही अपने को सुखी मानता है। यह सुख का ज्ञान जब उपजेगा, तो समझना चाहिए कि सुख वाला रूप से मनुष्य की 'मैं' ही जन्मी। या यूँ कहना भी असंगत नहीं होगा कि वह सुख रूप से व्यक्ति ही जन्मा। परन्तु यह विषय का बाह्य सुख तब तक ही रहता है, जब तक कि विषय का सम्प्रयोग (सम्बन्ध) इन्द्रियों से बना रहता है। विषय के वियुक्त होते ही सुख भी नहीं रहेगा। कोई भी विषय का संयोग सदा नहीं बनाया रखा जा सकता। विषय के संग से ही जो सुख है तो विषय वियुक्त होते ही सुख नहीं रहेगा। जब सुख नहीं रहा, तो कुछ सुख से दूसरी प्रकार का ही ज्ञान तब मन में होगा। ज्ञान बिना तो जीव कभी रह ही नहीं सकता। यदि सुख नहीं, तो सुख का वियोग (बिछोड़े) का ज्ञान ही रहेगा। उस अवस्था में सुख की तृप्ति भी नहीं रही। जो सुख काल में मन का लगाव या रति थी (रमण करने की दशा) वह भी नहीं रहेगी अर्थात् मन पुनः सुख का बिछोड़ा संवेदन में (महसूस करने में) लायेगा। और मन में सुख काल की प्रसन्नता भी न रहने के कारण मन निराश सा भी होगा। पुनः यह मन की अवस्था सुख रूप जन्मी 'मैं' को भायेगी भी नहीं। जैसी पुनः भाती है, पुनः वह प्राणी स्मरण करके उस किसी दूसरी सुख की खोज में पड़ेगा। पहला तो झटपट पुनः लिया नहीं जा सकता। जैसे खाये पर खाना, पीये

पर पीना, ऐसे और भी सब सुख लिये जाने पर पुनः झटपट वही सुख लिये तो जा सकते नहीं। उदासी या निराशा, सुख रहित दशा में समय व्यतीत करना, सुख रूप से जन्मी 'मैं' को कठिन हो जाता है। इसलिये सुखों के कई या अनन्त प्रकार खोजने पड़ते हैं। एक के पश्चात् दूसरा, दूसरे पै तीसरा इत्यादि, तब दिन सुखी का व्यतीत होगा। परन्तु इन सब सुखों में 'सुखी मैं' जन्मेगी, सुख वाले विषय के सम्बन्ध से; और जब विषय वियोग हुआ, तो यही सुख वाली 'मैं' तो मरेगी ही। पुनः दूसरी बार वही 'मैं' दूसरे विषय के सम्बन्ध से सुख वाली जन्मेगी। और वियोग विषय का होने पर, सुख रुकने पर, सुख न रहा तो सुख वाली 'मैं' भी मरेगी। इस प्रकार स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न प्रकार से सुख से 'जन्म' और सुख न रहने पर पुनः दुःख से 'मरण'। यही जन्म मरण का चक्र जीवन भर चलता ही रहेगा। परन्तु यह चक्र केवल सांसारिक जीवन वाले का ही है। अब इस सुख वाली 'मैं' की भक्ति और यह सुखों की भक्ति सदा जीवन भर चल भी नहीं सकती। क्योंकि समय के अनुसार सुख पाने की योग्यता क्षीण होती जायेगी। यह सत्य सब जानते ही हैं। परन्तु सुख की तृष्णा (चाह) तो क्षीण नहीं होगी। पहले-पहले विषय सुख का वियोग बहुत भारी प्रतीत नहीं होता था, परन्तु जब विषय सुख लम्बे समय अधिक आयु तक सेवन कर लिया गया, तो अब उसका वियोग (बिछोड़ा) सह्य (सहन करने के योग्य) भी नहीं रह पाता। दुःख उतना ही तीव्र होता है, जितना कि

卐卐

विषय सुख की भक्ति तीव्रता से की है। अब समय पाकर जीवन काल में ही रोग, वृद्धावस्था आदि के कारण सुख तो एक साथ बन्द हो जायेंगे। कोई भी नहीं लिया जा सकेगा। तो पुनः उन सबके वियोग का दुःख कितना भयंकर होगा ? यह वही प्राणी पहचानेगा जो कि विषय सुखों को बिना नियम धर्म के सेवन करता रहा और इसका शिकार हुआ। ऐसी अवस्था में दुःख के तनाव को भूलने के लिये कई नशा आदि मादक द्रव्य सेवन करके दुःख को भूलना चाहते हैं। परन्तु उसकी भी वही दुर्दशा होती है। वह जितना आज बर्ता गया, उतने से दूसरे दिन काम नहीं चलता। जितना पुनः दूसरी बार बढ़ाया, उससे पुनः तीसरी चौथी बार की मांग पूरी नहीं होती। बर्तना है वह (नशा) अन्धे होने के लिए; सुखों के परिणाम स्वरूप प्राप्त हुए-हुए दुःखों को भुलाने के लिए; इसका प्रयोग बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ जाता है कि वह भी रोग की दशा में प्रकट होकर एक और भयंकर दुःख को दुःखों की परम्परा में प्रविष्ट (शामिल) कर देता है। यह सब दुर्गति विषय सुखों की व उनके सहारे रहा जाने वाले बाह्य जीवन की है। ऐसे प्राणी पुनः मृत्यु की ही आकाँक्षा करते हैं। क्योंकि रिक्त (खाली) समय तो व्यतीत होता नहीं। बाह्य सुखों की बढ़ी हुई तृष्णा वाला मन, और किसी दूसरी ओर लगता भी नहीं। पहले से नियम, संयम, त्याग, तप की मात्रा के साथ रहने का अभ्यास भी नहीं किया। अब यह किस प्रकार एक साथ आराम से किये जा सकेंगे ? अब तो मृत्यु की ही शरण;

卐卐

और मर करके पुनः कौन-सी शान्ति ? आत्मा तो मरेगी नहीं। पुनः इसी दुर्गति वाले जन्म के समान किसी अन्य जन्म में जायेगी।

यह सारी क्रीड़ा उस मिथ्या दृष्टि ने ही रची जो कि क्षण भर के विषय सुखों को शुभ करके देखती थी। मिथ्या दृष्टि यह क्यों कही जाती है ? क्योंकि अन्त में भयंकर दुःख उपजाने वाले विषयों में इस जीव को इनकी शुभ व बढ़िया देखने वाली दृष्टि ने ही तो छला। चाहे कितना भी स्वादिष्ट, पौष्टिक, उत्तम भोजन खाने में, रसने में प्रतीत पड़े, परन्तु यदि उस में विष मिला हो तो वह कितना शुभ व बढ़िया समझा जायेगा, जो कि मरण तुल्य कष्ट दे। सोई निदर्शन-दृष्टान्त (मिसाल) यहाँ जाननी चाहिये। ऐसे भोजन को शुभ व बढ़िया देखना मिथ्या दृष्टि ही कही जायेगी। क्योंकि यह मारने वाला भोजन किंचित्मात्र भी शुभ नहीं। वैसे ही भयंकर दुःखों में समाप्त होने वाले सुखों को, विषयों को, और बाह्य जीवन को भी शुभ, व बढ़िया जताने वाली दृष्टि, मिथ्या दृष्टि ही समझी जायेगी। और भी लोक में जो-जो समृद्धियाँ धन, अधिकार, शक्ति आदि हैं, यदि ध्यान समाधि को प्राप्त होकर इनके अन्त की परीक्षा (परख) की जाये, तो यह सब शुभ के स्थान पर अशुभ ही सिद्ध होंगे और इन से वैराग्य होकर मन आत्मा में ही शान्त होगा। परन्तु लोक में बाह्य आवश्यकता के कारण इनका सीमित (माप का) महत्त्व आवश्यक है। परन्तु इन्हीं को जीवन मात्र का उद्देश्य बना कर जीवन को समाप्त करने

का तात्पर्य है, अन्त में दुर्गति। तो पुनः इनके शुभपने की सब दृष्टियों की परीक्षा करके ध्यान से इनको मिथ्या दृष्टि समझ कर, दुःख की ओर ले जाने वाली होने के कारण से सर्वथा मन से उतार कर भली दृष्टि ही उपजाना चाहिये। जिससे उन दुःखों से छुटकारा पाने का उत्साह व प्रेरणा की प्राप्ति हो। दूसरों में मिथ्या दृष्टियों के कुपरिणाम (बुरे नतीजे) देख कर पहले से ही इनके चक्र से निकलने का यत्न करना चाहिये। लोक में इन्हीं का ही राज है। बच्चे को बढ़ाने के लिये तो यह बन जाती है अवश्य। परन्तु जब बन गई तो यह मरने तक भी छूटती नहीं। इनके छोड़ने का उपाय है, केवल श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, इन पाँच बलों को समुन्नत दशा में पहचानना। तब भ्रान्ति टूटती है। प्रज्ञा (सत्य ज्ञान) बिना, आँख नहीं है। प्रज्ञा ही इनका भाण्डा फोड़ती है। तब मन में इनके विस्तृत जाल से निकलने का अवकाश प्राप्त होता है। प्रज्ञा, समाधि बिना नहीं। समाधि, प्रतिबन्धकों (दृष्टि, संशय, इच्छा, क्रोध, आलस्य आदि) के टाले बिना नहीं हो पाती। जब मन एकाकी, आसन व ध्यान में बैठे, तो यही सब मिथ्या दृष्टि से सुख की स्मृति वाला मन संशयों में पड़ा रहता है। निद्रा को थोड़ा भी रोकने से मस्तक विकृति (बिगाड़) तक का भी संशय करता है। उन सुखों के छूटने से जीवन भारी जैसा अनुमान में लाता है। यह सब संशय परिवार सुखी मन का ही है। इसी प्रकार उसी सुख की शुभ दृष्टि से उसका ही काम भी ध्यान लगने नहीं देता, समाधि तो दूर रही।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

और सुख के त्याग से, काम के पूरा न करने पर उसका मन में क्रोध भी रहता है। यह सब न होने पर, या रोकने पर मन इन्हीं की भग्नावस्था रूप सुख देने वाली आलस्य या निद्रा का रूप धारण कर लेता है। ध्यान, समाधि, ज्ञान (प्रज्ञा) उत्पन्न नहीं होने देता। यदि मनुष्य यत्न से चिन्तन द्वारा स्मृति रखता हुआ वीर्य बल करके इन सब विघ्नों को दुःख से शान्त करने का अभ्यासी हो तो उसे यह आध्यात्मिक जीवन का प्रकार मिले। और अन्त में आत्मा में ही परम पद निर्वाण की शान्ति, जिस में सब बाह्य सुख दुःख व बाह्य जीवन के बन्धन मिट कर सदा के लिये दुःख से अत्यन्त विमुक्ति प्राप्त होती है। यह सब मिथ्या दृष्टि के प्रसंग में कहा गया है। अब इसके पश्चात् यही मिथ्या दृष्टि के साथ अन्य भी बाह्य जीवन के कई एक मिथ्या अंग हैं। उनका निरूपण आगे किया जायेगा। सुख रूप से तो यही मिथ्या दृष्टि मनुष्य की बुद्धि को बाँधकर मिथ्या संकल्प जनाती है।

२. मिथ्या संकल्प (Wrong aspirations):

जिन पदार्थों में व प्राणियों में मिथ्या दृष्टि बनेगी उन्हीं के बारे में पुनः मिथ्या संकल्प भी बनते रहते हैं। जिस बाह्य वस्तु के संग से सुख पाया हो, उसकी दृष्टि बनेगी। उसके संग का भाव शुभ करके दृष्टि में झलकेगा। तो उसका संग करने का संकल्प कि मैं उसे पाऊँ, या उसका संग करके सुखी होऊँ, ऐसा मन का संकल्प, इच्छा रूप (इरादा) बनेगा ही। इसी प्रकार जिस प्राणी व पदार्थ में दुःख के कारण अशुभ दृष्टि हुई, तो

उसको दूर हटाने में, उसका संग त्यागने व उस दुःख की वस्तु को मिटाने का भी संकल्प होगा ही, कि इस दुःखदायी वस्तु को मिटाऊँ, इत्यादि। इच्छा, संकल्प या इरादा होगा ही। यदि साधन, संयम या ध्यान करने में भी दुःख का अनुभव हुआ, तो इनसे भी पीछा छुड़ाने का संकल्प बनेगा ही। और जगत् के अल्प सुख देने वाले पदार्थों का पुनः-पुनः हानिकारक होने पर भी उनके सेवन संकल्प सब दुःख, भयंकर शोक रूप में समाप्त होने के कारण सब मिथ्या संकल्प ही कहा जायेगा। जैसे पुनः-पुनः चाय पीने की इच्छा व संकल्प, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट आदि पीने का संकल्प, उन-उन पदार्थों की मिथ्या दृष्टि मन में बनते ही होता है। इसी प्रकार दुःख होने पर किसी भी व्यक्ति की दुःखदाता की दृष्टि बनने पर उस को हानि पहुँचाने का संकल्प, उससे बदला चुकाने आदि का संकल्प, और अल्प दुःख होने पर जीवों की हत्या तक भी सब मिथ्या संकल्प ही है। यह संकल्प मनुष्य को उत्तम गति या मुक्ति की ओर नहीं ले जाता। इसी प्रकार सांसारिक सुखों व समृद्धि व अन्य अधिकार आदि के संकल्प यद्यपि मनुष्य को विवेक शून्य सा बनाकर भयंकर कर्मों में प्रवृत्त कर देते हैं परन्तु जो मिथ्या दृष्टि को समझ कर अपने कर्मों को स्मृति से करता हुआ, इन्हें समझ-समझ कर कर्म में ही मन को जोड़ता हुआ टालता जाये और इनके स्थान पर सम्यक् या भले संकल्प बनाता जाये तो इससे मिथ्या संकल्प पर भी जीत प्राप्त

卐卐

हो सकती है। आसन पर ध्यान के लिये बैठते ही, या बैठने पर भी निद्रा की मिठास प्रतीति में पड़कर सोने का संकल्प खड़ा कर सकती है। इसी प्रकार संसार के तेरे, मेरे के विचार आकर दृष्टि रूप से और भी मिथ्या संकल्प उत्पन्न कर सकते हैं; उन सब को टालते रहना, विचार को जगाते रहना ही साधन के मार्ग में चलना है।

३. मिथ्या कृति (Wrong emotion/Wrong mental energy):

मिथ्या कृति का अर्थ है जो मन को मिथ्या, दुःखदायी कल्याण के विपरीत उत्तेजित करके सब मिथ्या कर्मों व मिथ्या ढंग से ही प्रेरित करे। मिथ्या दृष्टि बनती है, पुनः मिथ्या संकल्प भी बन जाते हैं। परन्तु यह सब मन में न हटाये जाने पर मिथ्या रूप से प्रेरित करते रहते हैं। मिथ्या अन्य विकारों को भी उपजाते रहते हैं। मन में इच्छा बनी रही तो उसे न पूरा करने पर क्रोध भी मन में स्थिर (टिका) रहता है; वैरी की दृष्टि न छूटी, तो मिथ्या विचार धारा ही मन में बहती रहेगी। उसके (वैरी के) सुख में द्वेष, मत्सर (कि "उसे सुख क्यों हो रहा है?" अर्थात् "सुख नहीं होता तो ही ठीक था" ऐसे मन का विकार मत्सर कहा जाता है), इसी प्रकार ईर्ष्या, अधीरता और भी मन के विविध विकार यदि न वर्जित किये गये, तो ये मन में व्यायाम करते रहते हैं और उस व्यक्ति को इनके साथ ही बसने की आदत पड़ जाती है। यही सब विकार मिथ्या कर्म करवाते हैं, और मिथ्या ही वाणी आदि के व्यवहार के कारण बनते हैं। इसी प्रकार

आलस्यादि भी यदि न वर्जित किये जायें, तो यह भी यहाँ बैठे व्यक्ति के कल्याण मार्ग का अवरोध (रोक) करके उसके वैरी ही सिद्ध होते हैं। यही सब कृति (मानस कुछ करने की शक्ति) है। यही सब विकार यदि दीर्घकाल तक मन में बसने का स्थान पा जायें और यत्न से हटाये न जायें, तो कहा जाता है मिथ्या व्यायाम (मिथ्या कसरत)। क्योंकि जो बार-बार बहुत समय तक होता रहेगा उस विकार की मन में स्थिर रहने की प्रबल शक्ति बन जायेगी। तो वह पुनः कैसे दूर हो सकेगा ? जब चाहा, इच्छा पूर्ति कर दी; जब थोड़ा दुःख भी हुआ, तो सुख की ओर भगे। अब ऐसी परिस्थिति में राग ही काम बली के साथ मन में व्यायाम (कसरत) ही तो करेगा। इस मिथ्या कृति (मन के भीतर प्रेरित करने के यत्न की अवस्था में सब विकार) से मुक्ति पाने के हेतु सम्यक् या भली कृति को आह्वान करे। काम के विपरीत वैराग्य को उत्पन्न करके मन में बैठाये, लोभ के विपरीत संतोष को, और क्रोध के विपरीत क्षमा को मन में स्थिर करे। द्वेष में मैत्र्यादि की उत्तम कृति को ही मन में प्रतिष्ठित करे। राग, तृष्णा आदि के विपक्ष में वैराग्य भाव आदि-आदि। अधीरता में दुःख में होते हुए भी धैर्य की स्थिरता रखना। आसन ध्यान में धैर्य के गुण से ही स्थिरता प्राप्त होती है। निद्रा आदि को जीतने के लिये सतत् (निरन्तर) जागने का उद्योग इत्यादि-इत्यादि सब सम्यक् कृति व सम्यक् (भला) व्यायाम है। इससे कल्याण मार्ग शुद्ध होता है।

卐卐

४. मिथ्या वचन (Wrong conduct of speech and Behaviour) :

मिथ्या वाणी व्यवहार जबकि मन में मिथ्या दृष्टि, मिथ्या संकल्प और मिथ्या कृति रूप से काम, क्रोध आदि विकार ही व्यायाम करते रहेंगे, तो मनुष्य स्वयं समझ सकता है कि उसका वाणी व्यवहार भी दूसरों से कैसा होना चाहिए ? काम आदि में छल कपट का, क्रोध में दूसरे को दुःख देने का; चाहे कोई कितना भी कुछ बने, परन्तु जब मन ही मैला है तो बर्ताव दूसरा कोई तो नहीं करने आयेगा ? इसलिए ऐसे बर्तावों को भी स्मृति और मन की उपस्थिति रखकर अपने में पहचाने और इसके स्थान पर सम्यक् वचन (भले) बोलने का अभ्यास दृढ़ करे। दूसरों में मिथ्या वचनों को पहचान, समझकर, उनके कुत्सित (खोटे) फल झगड़ा, लड़ाई इत्यादि को देखकर कुछ अपने सुधार की शिक्षा ले ले। पुनः जिन दोषों से मिथ्या वचन व्यवहार होता है, उन दोषों को ध्यान समाधि में पहचान कर त्यागने के लिये बल वीर्य करे। हर समय बोलते समय अपने वचन को समझता, सुनता और परीक्षा करता हुआ ही मुख से निकाले। पुराने लोग, ऋषि कहते हैं कि 'मन्त्रपूतं वदेत् वाक्यम्' जो कुछ बोला जाये वह मन में गुप्त रीति से समझ कर बोला जाये। इस प्रकार मिथ्या वचन के स्थान पर सम्यक् (भला) वचन बोलने का ही यत्न सदा रखे।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

५. मिथ्या कर्मान्त (Something ending in wrong act/ Act ending in wrong) :

ऐसे सब कर्मों को न करना, जो कि अन्त में मिथ्या सिद्ध हों। जब-जब इच्छा हुई तभी खा लिया, मन भाने का पेय (पीने की वस्तु) पी लिया। एक दो बार ऐसा कर्म चाहे सुख लोभ से करने पर इस की हानि न भी प्रतीत हो, परन्तु यदि यह अभ्यास बना रहा, तो अन्त में तो यह दुःखदायी ही सिद्ध होगा। ऐसे सब अनियमित कर्म सुख लोभ से बाह्य दुःख के भय से किये जाने पर, उनका अभ्यास दृढ़ होने पर उसका अन्त मिथ्या ही होगा। मादक द्रव्यों का सेवन और मनोविनोद हेतु अधिक वस्तुओं के सेवन के कर्म सब अन्त में आदत पकने पर रोग दुःखों को उत्पन्न करके छूटने पर भयंकर दुःखदायी सिद्ध होते हैं। यह सब मिथ्या कर्मान्त है। ऐसे कर्मों को पहले से ही न करें। जिससे इनके अभ्यास से अन्त में महान् दुःख की प्राप्ति हो। यदि नियम, धर्म और संयम को रख कर देह धारण के लिए आवश्यक व अपने बाह्य जगत् में दूसरों के बर्तावे के भी ऐसे ही कर्म किये जायें, जिससे कि व्यक्ति की उलझन व दुःख न बढ़े, तो यह सब मिथ्या के स्थान पर सम्यक् अर्थात् भला कर्मान्त है। अपने को संयम (काबू) में रखकर खाना, पीना, बोलना, सोना, जागना और बाह्य देह धारण निमित्त कर्म करना इत्यादि जो कि कल्याण के साधक हैं, यही सम्यक् (भला) कर्मान्त है। तृष्णा, काम, राग, द्वेषादि से होने वाले कर्मों को अवकाश न देना चाहिये। इनका अन्त लोक परलोक में अच्छा और भला नहीं है।

卐卐

६. मिथ्या (असम्यक्) आजीव (Wrong livelihood or Wong living) :

इसका अर्थ है भला (सम्यक्) जीवन का प्रकार व ढंग। यदि संयम आदि सहित कोई जन श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि व प्रज्ञा की उपासना करता रहे तो यह भी है एक अपने समय का सद्उपयोग का मार्ग। और यदि मिथ्या दृष्टियों के चक्र में रहता हुआ, मिथ्या संकल्पों व मिथ्या कृति (उत्तेजनाओं) के चक्र में रहकर मिथ्या ही कर्मों में पड़ा रहा, तो उसका समय आसन, ध्यान, संयम आदि में तो व्यतीत होगा नहीं। व्यर्थ की संगत में, मिथ्या वचन करता हुआ (गप्पों में) समय व्यतीत करेगा। नाटक, सिनेमादि, या मादक द्रव्य सेवन करने वाली संगत से या पुनः आलस्य, निद्रा आदि में ही वह सारा जीवन व्यतीत कर देगा। अकेले में ध्यान आसन पर तो उसे भय ही होगा। अन्त में वृद्धावस्था में अकेला पड़ा हुआ सबसे त्यागा गया दुर्गति पूर्ण जीवन रिक्त (खाली) रहकर, मरने की प्रतीक्षा करता हुआ ही व्यतीत करेगा। यही है सब मिथ्या आजीव। मिथ्या जीवन का प्रकार, अपनी जीविका भी मिथ्या ढंग से उपार्जन करने वाला मिथ्या आजीव का शिकार होता है। ऐसे जीवन के प्रकार से दुःखों का अन्त होना तो असम्भव, व प्रत्युत (वरण) दुःख अधिक ही बढ़ेगा। जो नियम से रहता हुआ, नियम से आवश्यक वचन बोलता हुआ स्मृति, वीर्य द्वारा अपने को सम्भालता हुआ जीवन को चलाता है, मिथ्या सब बातों व कर्मों से यत्न से बचता रहता है और अच्छा सब

कुछ करने में यत्नशील रहता है, मन की पवित्रता का भी विचार रखता है, और अवकाश प्राप्त होने पर अपने किये हुए कर्मों का या दिन में जैसे वह दूसरों में चला है, उस सब का ध्यान करता हुआ अपनी त्रुटियों को, कमजोरी और चूकों का ध्यान करके संवेदन में (महसूस करने में) लाता है और शोधन का संकल्प करता हुआ उसके लिये दुःख में भी धैर्य युक्त रहता है और अपने आप में विचारशील, ज्ञान सम्पन्न, स्मृति और मति (सत्य की समझ) वाला हो संसार में जीवन नौका चलाता है, ऐसा जन सम्यक् आजीव वाला (भले जीवन के प्रकार वाला होता है), वह प्रमाद (शिथिलता) से दूर रहता है। यही सब उसका जीवन का प्रकार सब दुखों का अन्त करने वाला कभी न कभी सिद्ध होगा। और जो मिथ्या आजीव वाला, प्रमाद से, अल्पसुख के लिए ही जैसा मन चाहा वैसा मनमुखा हो, श्रद्धा विहीन, वीर्य, स्मृति के बिना, समाधि प्रज्ञा से रहित हो जीवन को चलाता है, यह सब मिथ्या आजीव दुःखों को ही बढ़ाने वाला और अन्त में दुःख में ही समाप्त होने वाला होता है। खाने, पीने, कमाने आदि में जिसका कोई नियम (असूल) नहीं है। ऐसा जीवन यत्न से रोक कर धर्मानुसारी जीवन यथा शक्ति चलना ही उत्तम है।

७. मिथ्या ध्यान (Wrong meditation or Wrong planning):

जब मिथ्या दृष्टि थोड़े सुख या दुःख के अनुभव से, मित्र और वैरी की दृष्टि से प्रिय अप्रिय की मिथ्या सृष्टि अपने आप में या जीव में रचेगी और उससे पुनः मिथ्या

संकल्प किसी का अच्छा बुरा करने के लिये होगा और मिथ्या कृति अपनी उत्तेजना (काम, क्रोधादि) द्वारा मनुष्य को कुछ अपने स्वार्थ हेतु करने को धकेलेगी, तो वह पुनः एक साथ, जैसा कुछ अपने को दृष्ट है (चाहिये) वैसा झटपट तो किया हुआ सम्पन्न नहीं होगा। यदि कोई मिथ्या कर्म भी करना है, व किसी को हानि पहुँचानी है, तो उसके लिये भी योजना बनानी पड़ती है। स्वयं अपने को सुरक्षित रखकर ही तो दूसरे का बुरा करने को जन तैयार होता है। ऐसे सारे ध्यान मिथ्या ध्यान ही कहे जाते हैं। अपने बाह्य सुखों के हित के लिए सदा सोचों, विचारों में पड़ा रहना। खाते, पीते, उठते, बैठते, चलते, नहाते और आसन पर बैठकर आराम की दशा में यह सांसारिक सुख दुःख सम्बन्धी ध्यान चलते रहते हैं। यह सब ही मिथ्या ध्यान हैं। किसी से बदला लेने के लिये योजना बनाना, किसी का अनिष्ट (जो दूसरा नहीं चाहता) करने के लिये व्यग्र (एकटक) चिन्तन करना और भी मिथ्या सांसारिक थोड़े-थोड़े समय तक रहने वाले सुख दुःख, मान आदि के लिये बाह्य ढंग से विचारों में खोये रहना, यह सब मिथ्या ध्यान ही हैं। पुनः जब अनियमित जीवन चलाने के कारण रोग, वृद्धावस्था बाधा पहुँचाये या अपने ही जन (बन्धुजन) मिथ्या व्यवहार करें, तो उनके बारे में भी मिथ्या चिन्तन करते रहना। यह सब मिथ्या ध्यान मन की शक्ति और समय का दुरुपयोग रूप ही है। इन मिथ्या ध्यानों को हटाकर मनुष्य को सम्यक् (भला) ध्यान करना चाहिये। अपने

शरीर से हुए-हुए कर्मों का ध्यान करे, उन कर्मों के भले, बुरे परिणाम को ध्यान में लाये, जिससे बुरे कर्मों को टाल कर अच्छे बन पायें। ऐसे ही ध्यान में अपनी दिनचर्या को देखे, कि कहीं पाप तो नहीं बन पाये ? जिससे उन पापों को शोधन का अवकाश (मौका) मिले। इसी प्रकार अपने खाने, पीने, बोलने, सोने आदि के बारे में भी ध्यान करके समझे कि कल्याण के हेतु वे सब हो रहे हैं कि केवल जैसे मन मानता है ऐसे मनमुखेपन में मेरा अनिष्ट ही करने वे जा रहे हैं। इसी प्रकार नियमित जीवन वाला जन आसन पर अपने जीवन और व्यापक (आम जन का जीवन) जीवन को पहचाने कि यह अन्त में कहाँ समाप्त होता है ? सांसारिक सुख किस प्रकार अन्त में दुःख उपजाते हैं और इस दुःख को बढ़ाने वाली तृष्णा कैसे टलती है और अन्त में अपनी आत्मा में ही स्थायी शान्ति कैसे मिलती है ? यह सब जानने के लिये मन को एकाग्र करके ध्यान करना सम्यक् ध्यान या ठीक या भला ध्यान कहा जाता है। इसी प्रकार जिन पूर्व आचार्यों ने व ऋषियों ने वह स्थायी निर्वाण की शान्ति पायी है, वह कैसे चलते होंगे ? वह अपनी जीवन समस्याओं का समाधान कैसे करते होंगे ? यह सब ध्यान में साधक, मुमुक्षु पुरुष मन को जोड़कर देखने का प्रयत्न करे। यह सब मिथ्या ध्यानों के विपरीत सम्यक् ध्यान हैं (पुनः एकान्त में बैठ कर अपने आप का निरीक्षण करे) अपने में दृष्टि भगाये और अपने में आने वाली सांसारिक उलझन और उसके परिणामों (नतीजों) को

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

देखे। और उसके दुःख का अनुभव करता हुआ एक ऐसे भी चेतन पुरुष का अनुमान (अन्दाजा) लगाये कि जिसमें ये ऊपर कहे गये सब दोष विकार नहीं हैं। उसका नाम ऊँ, राम, शिव आदि कुछ भी मान कर शब्द से मन को जगा-जगा कर निद्रा और संसार की दौड़ से मन को बचा कर अपनी बन्धन की दशा को देखता हुआ उस परम पुरुष परमात्मा की बन्धन से रहित, आनन्दमयी दशा का चिन्तन करे। यह भी मिथ्या ध्यान के विपरीत सम्यक् (बढ़िया) ध्यान है। अन्त में सब बाह्य जीवन के दृष्टि, संशयादि से लेकर राग, द्वेष, मोह, मान, अविद्या तक सब बन्धनों को पहचानने के हेतु भी अपने मन में ध्यान करे और उनको पहचान कर ध्यान में ही समाप्त करने की खोज करे। ध्यान में ही मन को शक्तिशाली बनाकर इन्हें समाप्त करके परम पद रूप निर्वाण में प्रतिष्ठित हो जाये। संसार में सब सत्ता दृष्टि द्वारा ही रची जाती है। ऐसा समझ कर सब प्रकार की बाह्य सत्ता से मुक्त हो स्थायी शान्ति रूप निर्वाण को पाये। इस सब भद्र उद्देश्य (उत्तम फल) के लिये जो-जो भी ध्यान हैं, वे सब मिथ्या ध्यानों के विपरीत सम्यक् (ठीक, बढ़िया, भले) ध्यान ही कहे जाते हैं। अपने ऐसे ही ध्यान में दूसरों के दुःखों को देख कर और उनके दुःखों का कारण समझ कर धैर्य से उस कारण को अपने में टालने के लिये भी ध्यान में अपने आप को प्रेरित करे। जैसे कि मन छोटे-मोटे सुख के प्रलोभन को छोड़कर थोड़ा दुःख के

साथ भी अपने को धैर्य के साथ बड़े अनिष्ट को ध्यान में देखता हुआ टाल सके। इसी प्रकार स्वयं अपने कल्याण मार्ग के विघ्नों को शान्त करने के लिये भी ध्यान करे। यही सब मिथ्या ध्यान के विपरीत सम्यक् ध्यान हैं।

८. मिथ्या स्मृति (Wrong memories) :-

जिस किसी वस्तु का अनुभव मनुष्य करता है, उसका संस्कार मन में बैठ जाता है। और उसी संस्कार से पुनः उस वस्तु, व, उस व्यक्ति की स्मृति (याद) पीछे दीर्घ काल तक होती व आती रहती है। इसी प्रकार अनुभव में लाये गये या आये सुख और दुःख के संस्कारों से सुख दुःख की भी स्मृति (याद) बनती रहती है। तब पुनः उस सुख को पाने की कामना और दुःख से बचते रहने का भाव बना रहता है। अब जितने प्रकार के बाह्य सुख मनुष्य अपने जीवन में देखता है, इन सब की स्मृति से तो पुनः उस सुख की ओर ही अग्रसर होगा। जब खाने के सुख की स्मृति हुई, तो भी सुख मान कर अनावश्यक होने पर भी सुख के लिये खाने, पीने और न जाने क्या-क्या करने को मन होगा। यह सब मिथ्या स्मृति ही कही जायेगी, जोकि मनुष्य को अपना अहित करने के लिये ही प्रेरित (उकसाना) करेगी। इसी प्रकार के दुर्व्यवहार किये गये अपमान आदि के दुःख की स्मृति (याद) मन में द्वेष, क्रोध आदि उत्पन्न करके मिथ्या कर्मों के ही तो चक्र में डालेगी। दूसरे के गुण व दोष दोनों देखने में आते हैं। परन्तु दूसरे के गुणों की स्मृति तो सम्यक् (बढ़िया, शुभ) स्मृति है, इस से मनुष्य उसके

साथ दुष्ट बर्ताव से बच जायेगा। परन्तु दोषों की स्मृति ठीक नहीं, यह मिथ्या स्मृति पाप ही करवायेगी। और कल्याण के मार्ग को अवरुद्ध ही करेगी। इसलिये मनुष्य को मिथ्या स्मृति के स्थान पर सभी समीचीन (उत्तम) स्मृति ही करना उचित है। महानुभावों की, महापुरुषों की स्मृति व उन के इतिहास को पढ़कर, उनके उत्तम गुणों व कर्मों की स्मृति और उनके जीवनचर्या व उद्योग, धर्म के मार्ग की उत्तम कमाई आदि की स्मृति करके अपने आप को सन्मार्ग पर प्रेरित करे। यह सब सम्यक् स्मृति है। इसके विपरीत दुष्ट पुरुषों की स्मृति, उनके दुष्ट कर्म व चालों की स्मृति, अपराधों की और मिथ्या स्वार्थ हेतु मिथ्या वीरता की स्मृति सब कल्याण मार्ग के विपरीत है। इस प्रकार स्वयं ही मनुष्य समय पर समझने का यत्न करे कि कौन मिथ्या स्मृति है और कौन सम्यक् (भली) स्मृति है। जो कल्याण के मार्ग में किसी प्रकार से भी विघ्न (अड़चन) डाले वह मिथ्या स्मृति और जो कल्याण के अनुकूल हो, वह सम्यक् (भली) स्मृति समझी जाती है। मिथ्या काम उपजाने वाली स्मृति, इसी प्रकार क्रोध उपजाने वाली, ईर्ष्या, मत्सर आदि विकारों को करने वाली किसी व्यक्ति की व किसी व्यक्ति के व्यवहार की स्मृति सब मिथ्या ही स्मृति कही जायेगी। इस प्रकार पीछे मिथ्या दृष्टि से आरम्भ करके मिथ्या स्मृति तक, कुल मिला कर आठ मिथ्या अंगों का निरूपण किया गया और उन्हीं में उनके विपरीत कल्याण हेतु आठ समीचीन (शुभ, अपनाने योग्य) अंगों का भी व्याख्यान (वर्णन)

किया गया है। बाह्य जीवन में जन्म से दीक्षित होते हुए बालक के अन्दर आठ मिथ्या ही फूलते फलते हैं। पुनः पीछे श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, ध्यान, प्रज्ञा इन पाँच बलों द्वारा, उपाय रूप से अपनाने पर वे मिथ्या आठ टल कर उनके स्थान पर भले आठ बढ़ते जाते हैं और मन में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। बालक द्वारा अपनाये गये सांसारिक जीवन और अविचारपूर्वक बाह्य सुखमय जीवन के भयंकर भविष्य में परिणाम, सदा दुःख को देखकर वही बालक मतिमान् हुआ-हुआ उस जीवन का क्रमशः (धीरे-धीरे) निरोध (रोकना) करता है। और उसके स्थान पर आत्मा में ही स्थिर रह कर चला जाने वाला आध्यात्मिक जीवन अपनाता है। अपना समय मिथ्या बाह्य संगत में न व्यतीत करता हुआ अपने को देखने में, शोधने में, सबल बनाने में, और अधिकाधिक समय एकान्त में सत्य के ध्यानों में, सत्य समझने और पाने में लगाता है। यदि दूसरे जन उसे एकान्त में स्मृति (याद) में आते भी हैं, तो वह उनके सुख में सुखी होता हुआ और दुख में दया भाव से युक्त होता हुआ अपने मन को बाह्य जीवन स्तर पर भी सुचारु रीति से रखता है। चाहे अपना उन से स्वार्थ त्याग भी दे। उन दूसरों के गुणों को तो प्रशंसा पूर्वक स्वीकार करना, और उनके गुणों में ही दृष्टि रखना, परन्तु पाप, दुर्गुण, दोषों को मन से छूना तक भी नहीं। प्रत्येक मनुष्य अकेले में भी संसार सम्बन्धी ही चिन्तनों में पड़ा रहता है। परन्तु साधारण जन तो अपने बाह्य सुख दुःख सम्बन्धी स्वार्थ के कारण से वैसा ही स्वार्थसाधक चिन्तन करता रहता

卐卐

है और जब निद्रा आयी तो सो जाता है। परन्तु उद्योगी, साधक, मुमुक्षु जन जीवन में आने वाले, बाह्य सुखों के परिणाम स्वरूप भयंकर दुःखों से मुक्ति के हेतु, स्वार्थमय चिन्तन तो करता नहीं किन्तु संसार में अविरोध (बिना विरोध की) चर्या के निमित्त, आर्य या पूज्य भाव से जीने के निमित्त बच कर चलने के बारे में ही मन को प्रस्तुत (तैयार) करता है। पीछे कहे गये (i) मैत्री (दूसरों के सुख में मित्र भाव रखना अर्थात् सुखी होना), (ii) करुणा (अर्थात् दूसरे के दुःख में दया (हमदर्दी) का भाव अपनाना), तीसरी (iii) मुदिता (अर्थात् अल्प भी दूसरे के गुण को देखकर मुदित व प्रसन्न होना) और चौथा (iv) उपेक्षा (अर्थात् मनुष्य की कमी, कमजोरी, पाप, दोष, अवगुण या अन्य निन्दा की वस्तु ध्यान में न रखना, और न ऐसे दोष मन में रखकर उससे कोई बर्ताव ही करना); जैसे मार्ग चलते पुरुष को कई वृक्ष, कई अनावश्यक पदार्थ सामने पड़ते हैं, उन पर सामान्य दृष्टि भी पड़ती है, परन्तु चलने वाला चलने में ध्यान रखता हुआ उनके भले बुरे के बारे में कुछ भी नहीं सोचता। उनको केवल समीप पड़ने से देख तो गया, परन्तु विचार में नहीं लाता और अपने चलने आदि में ही ध्यान को रखता है। यही उपेक्षा की भावना का तात्पर्य है। ऐसी उपेक्षा की देवी की उपासना करने पर कोई व्यक्ति भी ऐसे साधक का वैरी नहीं बनेगा। क्योंकि वह किसी का दोषादि देखेगा ही नहीं, तो कोई वैरी क्यों बनेगा ? यही ऊपर कहे गये चार भावनाओं द्वारा मनुष्य दूसरों में ऐसे ही रहेगा, जैसे कि

सांसारिक मनुष्य रहता है। परन्तु वह (संसारी) स्वार्थ हित पुण्य पाप के, अच्छे बुरे के चक्र में रहेगा और साधक इन से बच कर आत्मा में ही प्रतिष्ठा पायेगा। संसारी जन के मन में दृष्टि, संशय भय, व्यर्थ के कर्त्तव्य विचार, राग, द्वेष आदि की उलझन बढ़ती रहती है, परन्तु साधक, मुमुक्षु की वह दिनों दिन घटती जायेगी। पुनः साधक अपने व्यवहार को सब के साथ ऐसे ही ढंग से करेगा कि वह व्यवहार भी जैसे उसे न बाँधे। काम, क्रोध आदि विकारों को वीर्यबल से शान्त करके अपना सद्‌व्यवहार रूप शील का सत्य भी सुरक्षित रखेगा। और दूसरों के अपराधों में क्षमा रखता हुआ कहीं भी उलझने का अवकाश न रहने देगा। ध्यान द्वारा जगत् के सत्य को समझता हुआ जीवों को प्रकृति के वशवर्ती समझ कर उनकी कमजोरी पर ध्यान न देता हुआ अपने अन्दर जो उग्र 'मैं' का भाव खोटा करवाने को आयेगा, तो उसे ध्यान द्वारा बिना किसी निमित्त के त्यागने का यत्न करेगा। यही सब से बड़ा दान, जोकि अपनी 'मैं' स्वार्थ वाली, व्यापक माया पति चेतन के अर्पण कर देना। दूसरों में, ज्ञान, विज्ञान रूप चेतन की आमने सामने पड़ने पर जीवों के अन्दर आने वाले विकारों वाली माया जानकर उसके द्वारा सृष्टि का चलाया जाना समझकर अपने ध्यान में सत्य का ज्ञान रूप प्रज्ञा का सहारा लेकर वह उद्योगी साधक, मुमुक्षु 'मैं' के उग्र अस्मिमान नाम वाले बन्धन को त्याग कर परमपद रूप निर्वाण पायेगा। बाहर जगत् में कुछ करना देखेगा ही नहीं। केवल

उलझन से निकलना और निकल कर जीवन व्यतीत करना रूप धर्म ही वह पहचानेगा। इस प्रकार मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, शील, क्षमा, दान, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, इन दश बलों के सहारे, इन्हीं को बढ़ाता हुआ दूसरों में और अपने में (आत्मा में) वह मुक्त, सुखी स्थायी शान्ति रूप परम पद निर्वाण पायेगा।

अब एक दृष्टान्त द्वारा यह दर्शाया जाता है कि किस प्रकार छोटी सी जीवन घटना में आठों ही मिथ्या अंग बन कर दुःख को बढ़ाते हैं और उनके स्थान पर श्रेष्ठ आठ अंगों वाला योग अपनाये जाने पर किस प्रकार से वह उलझन समाप्त होकर मन आत्मा में स्थिर हो जाता है। और भविष्य के महान् दुःख से मुक्त हो जाता है, जोकि स्वभाव से बालक या साधारण जन के अन्दर सांसारिक जीवन के स्तर पर सांसारिक मर्यादाओं में ही रहते बढ़ता जाता है। इस एक छोटे से दृष्टान्त से यह भी सूचित हो जायेगा कि कैसे एक छोटी सी घटना दुःख को बढ़ाती है और उस दुःख से मुक्ति (छुटकारा) पाने के हेतु सारे बल कैसे काम करते हैं ?

किसी समय की बात है कि किसी भक्त ने एक भिक्षु साधु को भोजन के लिये निमन्त्रित किया। महात्मा ने उसका भोजन जल्दी से स्वीकार नहीं किया। उसने (भक्त ने) आग्रह किया और भोजन महात्मा को महात्मा के स्थान पर ही पहुँचाने के लिये महात्मा की अनुमति ले ली। भोजन लाने के दिन वह भोजन उसने अपने लड़के के हाथों भेजा। महात्मा ने भोजन स्वीकार किया और

देने वाला भोजन देकर चला गया। जब महात्मा ने भोजन खाना आरम्भ किया, तो उसे भोजन अपनी आवश्यकता से बहुत कम प्रतीत हुआ। जन साधारण की आवश्यकता से तो वह भोजन कहीं अधिक कम नहीं था। परन्तु महात्मा ने अपनी आवश्यकता से तो उसे लगभग आधा भोजन के समान ही समझा। वह महात्मा भोजन आठ पहर में (दिन में) एक समय ही करते थे। भोजन खा लिया गया। पीछे महात्मा के मन में विचार आने लगा कि भोजन दाता ने मेरी साधुता की परीक्षा के निमित्त कम भोजन दिया अर्थात् महात्मा को कम भोजन देकर देखो कि शान्त रहता है या क्रोध करता है। अब भोजन के दाता की सादी, साधारण दाता रूप की दृष्टि तो बनी नहीं; भोजन कम देने के कारण से उसकी कोई दूसरी ही दृष्टि या भाव (खोटी या विपरीत दृष्टि) महात्मा के अन्दर बनने लगी और वह दृष्टि पुनः जैसी बनी, उसने सृष्टि भी तो वैसी करनी है। वह भोजन दाता मुझे ठगने आया था ? उसने इरादे से मुझे कम भोजन दिया इत्यादि-इत्यादि बहु प्रकार की मिथ्या दृष्टि; जिससे उसके बारे में पुनः मिथ्या संकल्प, उसका बुरा चाहने का, या मिथ्या कृति द्वेष, क्रोध आदि के स्वरूप में मिथ्या वचन और मिथ्या किसी उसके अनिष्ट के लिये कर्म भी प्रेरित करेगा, पुनः-पुनः उसी कम खाये की मिथ्या स्मृति, जिससे कि पुनः उस भक्त के बारे में मिथ्या दृष्टि व मिथ्या संकल्प और मिथ्या कृति की ओर ही मन बढ़ेगा। पुनः ऐसी मानस स्थिति में कुछ मिथ्या ध्यान, उसके

卐卐

साथ बर्ताव के बारे में कई प्रकार के मन कर सकता है। ऐसी परिस्थिति में उत्तम ध्यान के हेतु मन आसन पर भी समयवत बैठना अभीष्ट (पसन्द करना) न समझे। इस प्रकार लेटे-लेटे या चलते फिरते, खाली पेट को प्रतीत करके मिथ्या आठ अंगों का शिकार बना रहेगा।

परन्तु उद्योगी आर्य भिक्षु ने वैसी अवस्था मन की देखी, पहचानी। श्रद्धा आदि पाँच बलों का सहारा लेना चाहा, स्मृति रखते हुए अपनी मन की दशा को पहचान कर ध्यान में महान् पुरुषों के जीवन का स्मरण किया, जोकि कई-कई दिन इच्छा से फाका झेल तपस्या करते थे। पुनः अपनी देह सम्बन्धी लाभ, हानि को ध्यान में देखना आरम्भ किया। उन्हें प्रज्ञा के सत्य ज्ञान ने बताया कि उस अल्प फाके से तो उसके देह की स्वस्थता ही बढ़ेगी। नित्य पेट भर, प्रत्युत (वरन्) अधिक खाने से तो स्वास्थ्य बिगड़ने का ही भय था। अपने आप थोड़ा कम खाया नहीं जा सका; दैवयोग से, भगवान् की कृपा से अपने आप ही आज कम खाया गया। इससे कुछ देह का दोष ही शान्त होगा। फिर मैं क्यों उस भक्त को बुरा समझूँ ? उस बुरे की क्यों मिथ्या दृष्टि बनाऊँ ? वास्तव में वे लोग (सांसारिक ज़न) कई बार खाते हैं; उनका एक समय का भोजन कम ही होता है। इसलिये उससे एक समय जितना खाया जाता था, उतने के अनुमान से (अन्दाजे से) ठीक ही तो भेजा। इस प्रकार खोटी दृष्टि के स्थान पर खरी या सम्यक् दृष्टि, बुरे संकल्पादि या बुरी कृति, द्वेष, क्रोध आदि से बचाने वाली कल्याण व

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

शान्ति के उपयोग वाली बनाने लग गये वह आर्य भिक्षु। यही है मन की अच्छी रीति से भक्ति करने का प्रकार या ढंग। इस प्रकार महात्मा ने उस भक्त को दुष्ट की मिथ्या दृष्टि से बचाकर सम्यक् दृष्टि रूप में ही अन्नदाता रूप से समझा कि ऐसे भक्तों के सहारे से ही महात्मा अपने मन को साधनारत करके उस क्या कुछ मिथ्या दृष्टि के रचाये, बनने बनाने वाले संसार सागर से पार हो जाते हैं। यह सब सम्यक् व्यायाम रूप है। मन के क्रोध आदि की मिथ्या कृति को जड़ से उखाड़ कर वीर्य बल का प्रयोग करके समाधि द्वारा सत्य ज्ञान (प्रज्ञा) उपजाकर अपने आपको, अपने मन को शान्त कर लिया। अब उसकी मिथ्या स्मृति भी नहीं बनेगी और न उसके बारे में उसको बुरा भला कहने के ध्यान ही मिथ्या रूप से संकट बढ़ायेंगे। इन्हीं सम्यक् (शुभ), मन को दुःख की उलझन से बचाने वाले ध्यान में लगे उद्योगी साधक को क्या खबर कि संसार में बाहर क्या हो रहा है? न उस का कान बाहर की सुने, न आँख बाहर की देखे। वह तो अपने आप में, अपने शोधन में लगा हुआ सुने हुए शास्त्र पर श्रद्धा रखकर, वीर्य बल द्वारा, स्मृति पूर्वक, ध्यान में जुड़ा हुआ सत्य की खोज करता हुआ शान्त सुन्दर आनन्द रूप शिव, आत्मा में ही पाता है और उससे उसके मन में कम खाये के विषाद के स्थान पर प्रसाद (प्रसन्नता) और द्वेष के स्थान पर और क्रोध को छोड़ कर प्रीति बस जाती है और थोड़ा खाये के विचार से जो विक्षेप (उथल-पुथल) मन में मची थी, उससे

उपेक्षा हो जाती है। इस प्रकार अपने मन को अपने शान्त करने से शंकर और अपने में ही शान्त होने से शंभु की समाधि का सुख प्राप्त होता है। मन से भी मिथ्या वचन उस भक्त के लिये नहीं निकलते, प्रकट में सामने मुख पर तो क्या ही बुरा भला कहना ? कुछ कहने का मिथ्या संकल्प भी नहीं रहता जो कि पहले मन में अग्नि के समान जलता था। और क्रोध, द्वेष, द्रोह का चिन्तन रूप मिथ्या कृति भी वीर्य बल द्वारा तिरस्कृत हो (अनादर) न जाने कहाँ उड़ जाती है ? और कोई मिथ्या कर्म की तो सम्भावना दूर से ही टल जाती है। आसन पर ध्यान में दृढ़ जब उन मिथ्या अंगों के परिवार के थोड़ा निवृत्त होने पर जो निद्रा ने भी मिथ्या जीवन प्रकार में बाँधकर लेटे-लेटे समय व्यतीत करवाना था, वह सर्व भी समाप्त हो गया। मिथ्या झूठी निद्रा भी जीती गई। यही है सत्य की असत्य पर विजय। परन्तु जब साधक मन की सफाई के उद्योग में लग रहा था, तब यह नहीं कि मिथ्या अंगों वाला परिवार एक दम टल गया हो। वह भी बीच-बीच में अपनी मिथ्या दृष्टि आदि करता करवाता ही जाता था। परन्तु उद्योगी साधक के श्रद्धादि पञ्च बलों ने समुन्नत होकर विपरीत पक्ष की सब युक्तियाँ काट डाली। उन आठों मिथ्यों को बड़ी सावधानी से टाल दिया। उत्तम आठों का सहारा लिया, यही है कौरव पाण्डवों का महाभारत का युद्ध। सारी आयु यदि कोई संसार में सब में रहता हुआ इस प्रकार अपने को साधता जाये, तो कहीं भी उसके लिये कोई समस्या नहीं रहती। महान्

पुरुषों का सहारा रखे। उनके जीवन का अध्ययन करे। वैसे ही चलने की इच्छा करे। कहाँ तो भक्त के सुख में द्वेष होता, कहाँ अब शुद्धि होने पर १. उसके सुख में ही महात्मा सुखी ही होंगे ! २. उसके दुःख में दयावान् भी, ३. उसका गुण ही पहचानेंगे, ४. और कल्पित दोष की उपेक्षा भी, ५. अपना बर्ताव सही, यही शील को रखना है, ६. अपनी वाली 'मैं' को तिलांजलि दे देंगे, यही दान है। और ७. उस भक्त के बारे में क्षमावान् भी होंगे। इस प्रकार वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा इन दश बलों वाले सामर्थ्य युक्त हो भवबन्धन से निकल गये। नहीं तो न जाने आठ मिथ्या (थोड़े) अल्प दुःख मिलने पर, या अल्प (थोड़ा) सुख बिगड़ने पर क्या-क्या बनाते और क्या-क्या होते हैं। और बाहर जगत् में दूसरों को भी क्या-क्या बनाते। यदि आप दूसरों के सामने भी इस ऊपर कहे गए प्रकार से अच्छे नहीं सिद्ध होते तो अपने मन में पुनः चाहे कैसे भी बनते रहो, बन्धनों से छुटकारा तो मिलेगा नहीं। ऊपर कहे गये दृष्टान्त में महात्मा को भी बाँधने वाले बन्धन ही थे। कम खाने की दृष्टि, पुनः दुर्बल क्षीण होने का संशय और भक्त के बारे में कई प्रकार का संशय, और उचितानुचित शील व्रत परामर्श, अपने सुख का राग, सुख भंग करने वाले भक्त और उसके व्यवहार से द्वेष और ऐसे ही हुए दुःख का मोह और अपने अपमान होने से मान का बन्धन, उसे क्लेश के चक्र में डाल कर पुनः सत्य को छिपा कर अविद्या के राज में ही ये सब रख रहे थे। यहाँ न बाहर सब में शान्ति और न एकान्त में ही

शान्ति। प्रत्युत (वरन्) कि इसके विपरीत दुःख, राग, द्वेष, शोक की ही अग्नि में ही मन जलने को था। इसी प्रकार बाह्य स्वार्थ वाले को यह सब बन्धन दुःख रूप से बांधते हैं। इन से ऊपर कहे गये उपाय द्वारा, मिथ्या सब कुछ त्याग कर ठीक सब कुछ अपनाया जाता है। तब बन्धन क्षीण होते हैं और आत्मा की मुक्त अवस्था की शान्ति सुख मिलता है।

सारे जीवन को आध्यात्मिक बनाने के लिये जैसे आसन और ध्यान में बैठकर बल किया, तो मिथ्या सब को भगा कर शुद्धों की सहायता से मुक्त हो गये, सब दुःख की अग्नि शान्त हुई। इसी प्रकार जब ध्यान से उठकर अन्य चलने फिरने में, दातुन, कुरला करने में; खाने, पीने में व दूसरों से वार्तालाप करने में भी मन होगा, तो वहाँ भी वह पुराना पापी मन उसी प्रकार मिथ्या दृष्टि आदि आठों मिथ्या अंगों को प्रकट करके आप में वही दुःख पुनः दिखाकर आपको बाँधे रख सकता है। आप आसन ध्यान पर भले मुक्त हो जाओ, परन्तु सब में रहते, विचरते मुक्त नहीं होने देगा। यदि आप ने स्मृति और वीर्य के बलों को अच्छी प्रकार से समझकर ठीक प्रकार से आराधा है, तो उन सब कर्मों में भी आप पाप की लीला पहचान कर, इधर उधर इन्द्रियों को न भटका कर, इन्द्रियों के रखने वाले गोविन्द की भक्ति करेंगे। गो नाम इन्द्रियों का भी है; इन को विषयों से हटाकर अपने आप में रखना, यही इन्द्रियों का लाभ, इन्द्रियों को जगत् में भटकाने से बचाना रूप गोविन्द शब्द का अर्थ है। यह

भगवान् कृष्ण का नाम है। इससे अन्तरात्मा में उसी का साक्षात्कार होता है। अर्थात् जब-जब उन कर्मों में मिथ्या दृष्टि आदि खड़े होंगे, तो आप कर्म में ही स्मृति रखते हुए उनको ध्यान की स्मृति से टालते जायेंगे। इस प्रकार दशों इन्द्रियाँ और मन की चेष्टाओं में कहीं भी उस पाप को बसने नहीं देंगे तो आप पुनः काया के पाँचों भूत, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश में भी शुद्धि को बसा लेंगे। खायेंगे स्मृति से, पीयेंगे स्मृति से, श्वास, प्रश्वास अकेले में स्मृति से ही लेते हुए सब स्थानों से पाप को भगाते रहने से आप को पाप और उस की उलझन का दुःख सदा के लिये छोड़ जायेगा। यदि हर समय स्मृति से बाह्य कर्म नहीं करेंगे या न करने का अभ्यास ही करेंगे, तो वह पाप आप को केवल ध्यान में ही छोड़ेगा, शेष सब स्थानों पर बाँधेगा। यदि आप बन्धन छोड़कर, मुक्त होकर उस महात्मा के समान सब व्यक्तियों से बाहर भी वैसा ही बर्ताव कर गये, जैसे कि बन्धन की गाँठ पड़ने से पहले करते थे, उसमें रत्ती मात्र भी अन्तर (फर्क) न पड़ने दिया। कुछ भी कृत्रिम, सफाई से न करना पड़ेगा। मिथ्या दृष्टि आदि मिथ्या उपहास (मजाक) आदि भी न हो। जैसे उस भक्त को खबर भी न लगी कि महात्मा के मन में क्या-क्या जाल आया था और वह अपने ही संसार में वैसा ही रहा, जैसा पहले था। इसी प्रकार आप भी यदि कर सकें, तब जानो कि आप ने बन्धनों वाली राग, द्वेषादि से युक्त अपनी 'मैं' या ''अहंकार'' सर्व व्यापक के अर्पण कर दिया। अब

आपको बाहर जगत् में ही प्रमाण पत्र मुक्ति का मिल ज़ायेगा। यदि थोड़ी भी मन में आना-कानी है, तो जानो अशुद्धि शेष रह रही है। उद्योग करना भी पड़ेगा। यह सब निर्वाण का ही प्रकरण और प्रसंग है। दृष्टान्त में दर्शित महात्मा के स्थान पर आप अपने आप को बैठा कर उसी के समान साधना का माप निश्चित करो। जैसे वह अपने आप को पूर्ण रीति से बाहर मिटा कर उस कम भोजन देने वाले भक्त में कोई भी मिथ्या दृष्टि का (प्राणी) सत्त्व (हस्ती) उसने नहीं बैठाया। केवल जैसी उस समय की तरंग उस में आई व आकर निकल गई। बस उस को वहीं तक सीमित रखकर आप पूर्णतया बाहर से निवृत्त हो गया । उसने अपना आपा बाहर से हर लिया (हटा लिया), उसकी हरि हर की भक्ति पूर्ण हुई। जब बाहर से पूर्ण रीति से बुझ गया, तो ही निर्वाण मिला। 'निर्वाण' नाम बुझने का है। आत्मा में पूर्ण स्थिरता (टिकाव) और आनन्दमय निर्विकल्प समाधि मिली जिसमें मन बाहर कुछ होने हवाने के लिये नहीं उछलता। जैसी एक घटना में साधना द्वारा बन्धनों को त्याग कर मुक्ति पाई, इसी प्रकार कुटुम्ब, परिवार, समाज की प्रत्येक घटना भी यदि अणु मात्र भी न बाँध सकी, तो ऐसा प्राणी जीवन मुक्त कहा जायेगा। केवल ज्ञान, त्याग, तप आदि की आवश्यकता है। ज्ञान पूर्वक जितना आवश्यक, उतना ही साधन का दुःख स्वीकार करना। बहुत लम्बा चौड़ा देखने की आवश्यकता नहीं। केवल सुख दुःख के कारण मिथ्या दृष्टि ही बाहर देहों में कुछ

का कुछ सत्त्व या आत्मा में बैठा कर राग, द्वेष, संशय, मान आदि द्वारा चलाय मान करती है। बस इन सब से पीछा छुड़ा ले रोग कट जायेगा। करना था सो कर लिया। अन्यथा बाह्य होने हवाने की प्रीति कभी भी समाप्त नहीं होती। इसी का नाम भव (होने का) सागर है। इसी से ही मुक्त (छूटना) होना है।

जब किसी का सुख विघ्न में पड़े, वह भी किसी दूसरे के कारण, या फिर किसी दूसरे के व्यवहार से दुःख अनुभव में आये, तो मन एक दम ही भड़क जाता है। द्वेष, क्रोध आदि का प्रवाह चालू हो जाता है। यह भड़कावे या उत्तेजनायें किसी का आत्मा स्वरूप नहीं है। यह सब देहों में व जीवों में समान रूप से ही होते हैं। इनका 'मैं' मिथ्या ही ''मैं'' रूप है। जो इनकी जनाई ''मैं'' को अपना आपा या आत्मा समझ बैठता है, वह भी इन्हीं द्वारा प्रेरित हो सब मिथ्याओं के चक्कर में पड़ता है। इसलिये इनकी उपजाई ''मैं'' को त्याग कर विवेक विचार वाला सत्त्व (प्राणी) होकर बन्धनों से मुक्ति चाहे और अपना भला साधे। यही निर्वाण का मार्ग है। देहों में कोई दूसरों की दृष्टि न बने। एक ही सर्वत्र दीखे। जब करने कराने के जगत् से निकल गया, तो दूसरा कौन है, जो समझ में पड़ेगा ?

श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि प्रज्ञा रूप मोक्षोपाय द्वारा अपनी साधना को प्रशस्त (श्रेष्ठ) बनाये।

यदि एक दूसरे से होने वाले मन के भड़काव या उत्तेजनायें जीत लिये जायें, और उन उत्तेजनाओं या

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

भड़कावों वाली 'मैं' को त्याग दिया जाये; जोकि सब में ही बनती है, वैसा आने पर सब ही समान रूप से जीवन के मिथ्या अंगो में उलझा देती है। वह किसी की अपनी या पराई क्या हुई। सबमें समान रीति से ही मिथ्या कर्मों में उलझाने के हेतु ही बनती है। यदि कोई इसे न अपनाये तो ही जैसे प्रकृति समान रूप से सब में लीला करती है, ऐसे ही पुरुष भी चेतन या ब्रह्म रूप से सब में समान ही दीखेगा। तभी अद्वैत का राज अनुभव में आयेगा। बन्धन (बाँधने की शक्तियाँ) झड़ने चाहियें। एक दूसरे के साथ सादे व्यवहारों वाली "मैं" तो तत्काल के लिये ही होती है। इसे व्यावहारिक "मैं" कहते हैं। यह बाँधने वाली नहीं। बाँधने वाली तो बनी रहने वाली, एक दूसरे में स्वार्थ के कारण वाली है। इससे ही व्यावहारिक रीति से मुक्ति पाने के हेतु यत्न की आवश्यकता है। सो विस्तार से पीछे बतला दिया गया है। व्यवस्थित प्रकार का यत्न दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट कर दिया गया। निर्वाण के मार्ग पर चलते हुए मनुष्य को बाह्य सुखों के जीवन वाली बहुत सी बातें त्यागनी पड़ती हैं। पहले तो हिंसा, चोरी, जारी (दुराचार), झूठ और व्यर्थ की वस्तुओं का या भोगों की सामग्री का संचय (इकट्ठा) करना त्यागना पड़ता है। मादक (नशा वाले) द्रव्यों का सेवन भी छोड़ना होता है। पुनः खाने पीने आदि में देह धारण उपयोगी ही इच्छा का रखना और अधिक इच्छा या कामों का त्याग भी करना होता है। भोगों को वर्जन करने पर उनके मन में आये विचारों को भी निवृत्त (हटाना) करने के लिये भी

सयत्न रहना होता है। शुद्धि, अन्दर और बाहर की रखनी होती है। संतोष का अपनाना, भोगों के लोभ को छोड़कर होता है। तब अपने आप का अध्ययन अर्थात् अपने मन की अवस्थाओं का निरीक्षण तथा पढ़ाई भली प्रकार से जाँच भी करनी होती है और कुछ शिक्षा प्राप्ति के हेतु बाह्य व्यापक जीवन का भी अध्ययन करने के लिये मन को लगाना होता है। इससे बाह्य जगत् में स्वाभाविक रीति से चला जाने वाला जीवन समझ में या ज्ञान में आता है और बहुत सी बातें शिक्षा के लिए प्राप्त होती हैं। लोगों को दुःखी देखकर, उनके दुःख के कारण स्वरूप बाह्य भोगों की अधिक भक्ति को पहचान कर अपने आप को भोगों से भय प्रतीत होने लगेगा। और उनसे वैराग्य की प्राप्ति होगी। इसी प्रकार थोड़ा धन और अधिकार आदि में खोये प्राणियों के जीवन को ध्यान में परीक्षा की कसौटी पर कसने से ज्ञात होगा कि किस प्रकार परस्पर संघर्ष में लगे हुए ऐसे कर्मों के जाल में बंधे बैठे हैं या पड़े हैं कि जिनमें कोई भी स्वस्थ ज्ञान वाला जन बंधना न चाहेगा। इससे पुनः वैराग्य और भी दृढ़ होगा और निर्वाण का मार्ग शुद्ध होगा। पुनः इसी प्रकार संसार में सुख जब सब दुःखों से ही भरे हैं, दुःख छोड़ने के लिए सब सुख ही छोड़ने की शिक्षा मिलेगी। पुनः सुख तो दीखेगा नहीं तो पुनः संसार का जीवन भी दुःख पूर्ण ही दीखेगा। तभी इससे मन बुझकर निर्वाण प्राप्त करेगा। केवल प्राकृतिक विषयों का सुख, जोकि अति अल्प मात्र है, यही मनुष्य को मोहित करके दुःख

卐卐

पूर्ण संसार में भी बने रहने के लिए प्रेरित करता है और तत्पर रखता है। यदि विषय सुख, विवेक, बुद्धि द्वारा दुःख पूर्ण ही जानने में आ गया, तो समझ लो निर्वाण का मार्ग खुल गया। अब तो केवल अविरोध जीवन मैत्री आदि बलों के द्वारा ही रखने का है जिससे, अशुद्धि के नाश हेतु साधना बन सके।

सांसारिक भोगों को त्यागने पर एकान्त में अधिक समय व्यतीत करते हुए साधक को कभी त्यागे हुए सुखों का राग व मोह चक्र में डाल देता है और उसे अपने आध्यात्मिक जीवन व चर्या में दुःख प्रतीत होने लगता है। पुराने संस्कार वाला मन दूसरों को सुखी दिखा कर इस साधक मुमुक्षु को हतोत्साह-सा करता हुआ प्रतीत होता है। तब ऐसी अवस्था में साधक 'बोध' रूप भगवान् की भक्ति करके इस उलझन से निकलने का यत्न करे। बोध नाम है, जैसा कुछ मन में झलक रहा है उससे थोड़ा टल कर सत्य को समझना। विचार द्वारा वस्तु स्थिति को मन में प्रकट कर लेना। अंधकार में कुछ न कुछ समझने वाले मन में ज्ञान का प्रकाश लाकर उस की भ्रान्ति या मिथ्या ज्ञान को दूर कर देना। इस बोध के साथ सात अंगों का वास रहता है। मोक्ष का उपाय रूप से कहे गये श्रद्धा आदि पाँच यहाँ भी कार्य करने वाले हैं। उनमें से बोध के साथ तो वीर्य, स्मृति, ध्यान का यहाँ विशेष सम्बन्ध है। पुनः सत्य की खोज (मीमांसा) की भी आवश्यकता है। इससे सत्य प्रकाश में आकर मिथ्या भ्रान्ति को दूर करता है। जब सत्य प्रज्ञा रूप से प्रकट

हुआ, तो यहाँ प्रथम मन में भ्रान्ति से विषाद (अप्रसन्नता के साथ नीचे की ओर मन का दबाव, छाया होता है। वहाँ जैसे ही बोध का प्रकाश हुआ कि उस के साथ-साथ वह विषाद टलकर मन में प्रसाद (प्रसन्नता) छा जाती है। ये भी बोध के सात अंगों में से एक अंग है। पुनः जब मन हतोत्साह हुआ था तो उसकी वह साधन में प्रीति व अपने आप की वैसे लगे हुए की प्रीति (लग्न) भी खो जाती है। क्योंकि उसे उसमें दुःख और निराशा दीखने लगती है। परन्तु बोध आने पर भ्रान्ति नष्ट होने पर पुनः प्रीति भी पूर्ववत उपस्थित हो जाती है। और उपेक्षा ७वां अंग भी बोध के साथ रहता है। जैसे ही भ्रान्ति छाई थी कि दुःख के साथ मन व्यर्थ की चिन्ता में पड़ गया था और न जाने किन बातों को मन में ला कर दुःखी होता था। जैसे ही बोध हो जाता है तो पुनः दूसरों के सुख को देखकर और अपनी दुःखमयी दशा को अनुभव करके जो-जो व्यर्थ की चिन्ता का जाल मन में आया था उस सब की एक साथ ही उपेक्षा हो जाती है। क्योंकि बोध ने बतला दिया कि चिन्ता का कोई कारण नहीं है। अभी दूसरों का सुख जो दीखा है; वह सहसा की दृष्टि में ही दीखा है। अभी उसकी परीक्षा नहीं की। क्योंकि तब स्मृति रूप बोध का अंग उपस्थित नहीं था। एक दम किसी की हंसी, खुशी बिना विचार वाली मस्तक से चिपक गई। और ध्यान का बल, जो कि बोध का अंग है, वह भी झट पट कार्यरत न हो सका कि ध्यान में थोड़ा दूसरों के सुख की चेष्टाओं की परीक्षा तो करे। सत्य की

खोज या मीमांसा भी बोध का अंग उस समय अनुपस्थित था, जब कि भ्रान्ति हुई कि मैं दुःखी, धर्म चर्या के दुःखों को सहन करता हुआ और दूसरे एक दूसरे के साथ हंसी, उपहास (मजाक) आदि से आनन्द प्रसन्न रह रहे हैं। जब ध्यान और ध्यान में मीमांसा (खोज) ने बोध को प्रकट किया, तो क्या स्वरूप से यह बोध मिला कि जो यह हंसते हुए एक दूसरे के संग तृप्ति अनुभव कर रहे हैं, इनके दिन गिनती के हैं। अभी ही इनका समय है। संसार में प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। इनकी अवस्था का परिवर्तन भी आवश्यक है। अवस्था बदलते ही यह सुख तो रहेंगे नहीं। पुनः इनकी परस्पर की प्रीति भी समाप्त हो जाएगी। तब यह अपना-अपना आराम चाहते हुए एक दूसरे से द्वेष ही करेंगे। सब अपने अनुकूल दूसरे को चलाना चाहेंगे। दूसरा दूसरे के अनुकूल बिना स्वार्थ कैसे चल सकेगा ? इसलिये एक दूसरे के सहारे बिना तो रहना इन्होंने सीखा नहीं परन्तु अपने मन का संयम भी किया नहीं। जैसा अच्छा लगा वैसा चला। अब यह रोग आदि की अवस्था में पहुँचने पर उसके दुःख के कारण दुःखी, क्रोधी, चिड़ा मन अपनी आत्मा में तो क्या ठिकाना पायेगा, बाहर दूसरों में भी रहने योग्य नहीं रहेगा। यह सब ध्यान में खोज का अंग बोध प्रकट करेगा। इस प्रकार जब-जब संसार में कुछ अच्छाई झलके, थोड़ा ध्यान में खोजने की आवश्यकता है। स्मृति की इससे भी पहले आवश्यकता है। ताकि मन झटपट अटपटी बात ही न निश्चय कर बैठे। और वीर्य बल द्वारा

मिथ्या दृष्टि, संशय और काम क्रोध को टाल कर ध्यान में मन जोड़ सके। और सत्य जानने पर अर्थात् बोध प्रकट होने पर पुनः वीर्य बल से युक्त हो। सब विपरीत चिन्ता को मन से मिटा दे। सब बन्धनों को एक-एक करके समाप्त कर दे। यही बोध ही हतोत्साह व निराश होते हुए साधक को शरण देकर बचाता है; नहीं तो संसार की वायु उसे उड़ाकर ले जाने में हर समय ही तैयार रहती है। बोध में आते ही मन प्रसन्न, प्रीति युक्त, उन सब मिथ्या बातों की उपेक्षा वाला, बड़ी सरलता से अपने आप में स्थिर हो जाता है। इस प्रकार ऐश्वर्य, भोग, कीर्ति, यश, मान, पूजा, धन का आदर आदि के जगत् में इस उस में प्रकट होने वाले सुख और स्त्री, पुत्र, परिवार के सुख की दृष्टि कभी-कभी साधक मुमुक्षु को अपने चक्र में डाल जाती है और कभी-कभी साधक को उद्योग करते हुए दुःख का अनुभव भी हतोत्साह कर जाता है। परन्तु वह सब बिना बोध के ही उसे आक्रान्त करता है। यदि बोध जाग जाए तो साधक सुरक्षित रहता है।

बोध के सात अंग

१. स्मृति और मन की उपस्थिति बनी रहे, जिससे मन की अवस्था का ज्ञान बना रहे और उसमें कर्तव्य की स्मृति (याद) भी बन पड़े।

२. वीर्य बल भी बन सके जिससे मन की अवान्छनीय (न चाहने योग्य) अवस्था थोड़ी टाल कर, आसन आदि में मन लग सके।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

३. ध्यान में भी साधक प्रविष्ट हो सके, शब्द द्वारा विचार जगा कर मन को एकाग्र अवस्था में लाये जिससे कि,

४. सत्य की शोध खोज (मीमांसा) पूर्ण रीति से बन पाये। प्रथम मन के सामने वह पक्ष रखे, जो कि अच्छा लगता है अच्छा जचता है। पुनः उसकी परीक्षा युक्ति द्वारा करे कि उसकी अच्छाई कहाँ तक है। क्या सदा बनी रहने वाली निर्दोष या कहीं दुःख में या विनाश में ही तो नहीं पहुँचाती ? पुनः सब शोध करके उत्तर पक्ष अर्थात् सिद्धान्त का निश्चय करे कि अन्त में सिद्ध क्या हुआ ? यही सब मीमांसा शब्द से कहा जाता है। इससे जब सत्य प्रकाश में आयेगा, तो मनकी सब भ्रान्ति दूर होकर,

५. प्रसाद मन में छा जायेगा। विषाद जो पहले बना था, वह नष्ट होकर मुख प्रसन्न दीखेगा। विषाद की दशा में मुख क्षीण और मलिन हो जाता है। इसी प्रकार,

६. प्रीति मन में अपने आप में साधना में वही प्रीति आ जाएगी। जब साधक जान लेगा कि जो मार्ग मैंने लिया है इसके बिना तो कोई दूसरा मार्ग ही नहीं, जिससे मनुष्य दुःखों से बच सके तो पुनः उसकी प्रीति कैसे उसे छोड़ेगी। यदि यह उत्तम मार्ग छोड़ा तो उस दूसरों का उलझा हुआ परवशता (दूसरे के सहारे या वशीभूत) वाला असहाय मिथ्या कर्मों में डालने वाला खोटी संगत का ही मार्ग मिलेगा। इसलिए उसकी प्रीति सदा बनी रहेगी। पुनः विपरीत पक्ष की,

७. उपेक्षा भी सहज स्वभाव में होकर साधक के मन

को अनावश्यक सोचों, विचारों के चक्र में नहीं पड़ने देगी। यही सात अंगों वाला बोध है। इसकी भक्ति से साधक सदा सुरक्षित अपने मार्ग में व अपने आध्यात्मिक जीवन चर्या में सफल उतरता है। और अन्त तक सफल निर्वाण की शान्ति पाता है। साधना में रत उद्योगी मुमुक्षु यदि सम्यक् (ठीक) प्रकार से सतत् (लगातार) यत्न करता रहा, तो वह एक दिन अवश्य अपने कामना के लोक से मुक्ति पायेगा। कामलोक वह है जहाँ कि उस का लौकिक स्वार्थ का सम्बन्ध है। देह के लिए या और कामना पूर्ति करने के लिये और कामनाओं का ही सुख लेने के लिये दूसरों से भी सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। कोई प्रिय तो दूसरा अप्रिय बस उतने ही वृत्त (दायरे में) में संसार का प्राणी सक्रिय रहता है। वहीं तक कर्मों के क्षेत्र में उस का मन बन्धा रहता है। जब वह एकाकी (अकेला) भी होता है तो भी उसी की दृष्टियाँ, संशय, काम, क्रोध उसे बाँधे रहते हैं और जब वे सब थोड़ा रुकते हैं तो निद्रा या आलस्यादि घेर लेते हैं। प्रायः सांसारिक प्राणी इस अपने छोटे वृत्त (दायरे)में ही जकड़ा रहता है। यही कामलोक है। इस से बाहर के संसार में उस की कोई पहुँच ही नहीं यहाँ कि व्यापक जीवन अनुभव में आता है।

यदि कोई साधक अपने कामों को सीमित करके (कम करके) ध्यान को दृढ़ आसन पर स्थिर होकर करने का अभ्यासी हो, तो वह इन कामों से शनैः-शनैः छूट कर, और जब आलस्य निद्रा का आवेश भी सताये, तो उसे भी टाल कर इस काम लोक को लाँघता है। जब सहज में

आलस्य निद्रा की अवस्था अपना सुख दिखाकर छलती है, तो उसमें भी कामनाओं वाला मन ही छिपा बैठा होता है। निद्रा खुलते ही वह पुनः अपनी वही दृष्टियाँ (नज़र) उत्पन्न करके इस उस प्राणी या पदार्थ में सुख दुःख के हेतु बाँधेगा। चाहे काम की पूर्ति हो या न हो वह काम लोक वाला मन छोटे काम पूर्ति के वृत्त (दायरे) को, अर्थात् काम लोक को छोड़ता या भूलता नहीं। यदि कोई उद्योगी साधक इसकी उलझन से जागते रह कर निकल सका, तो वह इससे परे व्यापक जीवन (रूपलोक) को वृत्त (दायरे) रूप लोक का अनुभव करेगा। इस लोक में सामान्यतः श्रोत्र खुलकर आवश्यक नहीं कि अपने कामना के लोक की बातों को सुनने के लिये लपके। परन्तु जैसा छोटा बालक जगत् में आकर केवल शब्द मात्र को ही सुनता है, आँख से रूपों को देखता है, नाक से गन्धों को लेता है, त्वचा से सब प्रकार के शीतल, उष्ण, कोमल, कड़े स्पर्शों को जानता है, जिह्वा से रसों को; जिह्वा का तात्पर्य है रसना इन्द्रियों से रसों को लेता है।

परन्तु उसका किसी में भी अभी राग द्वेष आदि नहीं। प्रीति द्रोह भी अभी नहीं समझ में पड़े। ऐसे ही रूप लोक में विचरने वाला ध्यान सब इन्द्रियों के शुद्ध विषयों को तो ग्रहण करता है परन्तु किसी में भी उसका काम कुछ नहीं है। केवल बने, बसे रहने के लिये बालक के समान उसका सहारा है। इस लोक में काम से तो मुक्ति है परन्तु रूपों का या इन्द्रियों के ग्रहण करने योग्य वस्तुओं का राग अवश्य है। इनसे परे अरूप लोक, यदि उद्योगी

साधक पुनः बढ़े तो यह अरूपलोक में ध्यान को ले जाता है, यहाँ कोई इन्द्रियों के पदार्थ सुनने, देखने आदि के लिए नहीं रहता; केवल अनन्त आकाश, गगन ही दीख पड़े। वह आकाश बिना किसी इन्द्रिय के विषय के होने से अनन्त खुला क्षेत्र शान्त सा प्रतीत तो पड़ता है, क्योंकि वैराग्यवान के लिए किसी विषय को देखने सुनने की आवश्यकता नहीं। यह मन अपने ज्ञान में ही अन्तरहित विशाल आकाश में सुख प्रतीत करता है। इसी लोक में जब मन में संस्कार स्फुरित हो अन्य वस्तुओं के बारे में ज्ञान को उत्पन्न करने लगते हैं तो साधक उन सब को ज्ञान रूप से ही अनुभव करता हुआ अनन्त ज्ञान रूप से ही उन सब को समझता है। अर्थात् केवल जैसे स्वप्न में ज्ञान ही सब कुछ बना हुआ प्रतीत होता है, ऐसे ही वह जो कुछ भी नाम रूप उसे भासता है वह सब ज्ञान रूप से ही समझता है। इच्छा या काम से दूर होने के कारण उसे ज्ञान मात्र ही सब कुछ समझने में अधिक कठिनाई का अनुभव नहीं होता। कोई शब्द आया तो वह भी अन्दर की सुनने की शक्ति जो कि ज्ञान रूप ही है उसके कारण सुना। इसलिए शब्द पृथक् कुछ नहीं केवल ज्ञान का ही रूप हुआ। जब अन्दर का आत्मा जागे, ज्ञान प्रकट करे, तो सब वस्तु है; नहीं तो कुछ भी प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार निद्रावस्था में जहाँ आत्मा इन्द्रियों को समेटे जो आनन्द घन में है वहाँ आँख आदि से भी जानने योग्य कोई वस्तु नहीं। जब जगा और नेत्रादि इन्द्रियाँ

प्रकट की तो सब संसार, नहीं तो कुछ नहीं। ज्ञान रूप आत्मा ही सब यही भाव से यदि ध्यान अवस्था में कोई प्रतीत करे तो यह अनन्त ज्ञान विज्ञान का लोक भी अरूप ही है। इस लोक में साधक यह प्रतीत करता है कि जब कोई बोल रहा है तो यह शब्द ज्ञान रूप से प्रकट हुआ एक ज्ञान का रूप ही था। जब बोलना शान्त हुआ तो ज्ञान विज्ञान रूप से तब भी प्राणी तो विद्यमान है, परन्तु उसमें शब्द नहीं रहा। तो वह ज्ञान व, विज्ञान बिना कुछ भी के अकिञ्चन रूप से है और शान्त है। यह अकिञ्चन विज्ञान को भी सर्वत्र अनुभव करना अरूप लोक का वृत्त (दायरा) है। जैसे इंजन से जब चीख निकली तो एक प्रकार का इंजन। जब चीख बंद हुई तो शान्त, इंजन तो विद्यमान है। ऐसे ही अनन्त विज्ञान का क्षेत्र और अनन्त शान्त शिव लोक भी ज्ञान विज्ञान रूप ही है। जब कुछ व्यक्त (प्रकट) हुआ तो व्यक्त भगवान् और जब व्यक्त नहीं तो अव्यक्त रूप परमेश्वर है तो सब चेतन ज्ञान विज्ञान रूप ही। इसी प्रकार परिपक्व साधन (खूब पक्की हुई) या पूर्ण साधन की ओर बढ़ती हुई अवस्था की ओर बढ़ता हुआ मन पुनः ध्यान में कभी कुछ चेत अवस्था में आया, तो यह संज्ञा की अवस्था है। संज्ञा नाम है इन्द्रियों व मन इन, छः ज्ञान के साधनों से कोई भी ज्ञान उत्पन्न होना, जिससे मन को जागती हुई अवस्था का अनुभव होता है। और यदि शान्त सुख वाली चेत शून्य अवस्था में पहुँचा तो असंज्ञा की दशा, परन्तु संज्ञा में कोई जागता

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

विज्ञान विक्षेप की ओर ले जाये, परन्तु दूसरी असंज्ञा की अवस्था में ज्ञान विज्ञान शून्य होने से विनाश का भय प्रतीत हो, इसलिये साधक इन दोनों को टालता हुआ न 'चेत' न 'अचेत' अर्थात् न संज्ञा न असंज्ञा नाम वाले ध्यान में विहार करता है। यह भी अरूप लोक का ही वृत्त है। यदि मन कुछ समझने को बढ़े तो उधर से भी निवृत्त होना। उधर से निवृत्त होकर भय या निद्रा जैसा सुख दिखाकर बिल्कुल अचेत जैसा होने लगे, तो उधर से लौटाना। इस प्रकार पहले का नाम संज्ञा का न होना और दूसरा असंज्ञा का न होना, दोनों के मध्यवर्ती अवस्था में सुख अनुभव करना। इस प्रकार ऊपर अरूप लोक का निरूपण हुआ। परन्तु अभी तक निर्वाण पद का अनुभव इन लोकों में नहीं है, आंशिक (कुछ अंश में) मुक्ति अवश्य है।

जब सुख दुःख सम करके सब प्रकार की सत्ता से छुटकारा पाये, तो सत्त्व मात्र से विमुक्ति रूप निर्वाण का स्वरूप यह है अर्थात् ध्यान में ज्ञान मात्र ही व विज्ञान मात्र ही अपनी महिमा में समृद्ध है! दुःख का भी ज्ञान ही है! दुःख टलने पर सुख भी ज्ञान रूप, शब्द भी ज्ञान रूप इत्यादि सब एक अपने ही ढंग का ज्ञान विज्ञान रूप है। यदि वस्तु कोई "है" करके दीखी, तो समझो संसार बना है। यदि केवल ज्ञान ही ज्ञान, चेतन ही चेतन चाहे क्षण-क्षण किसी भी स्वरूप से दीखे परन्तु वह चेतन या ज्ञान विज्ञान रूप से ही दीखे, उसमें कोई वस्तु 'है'!

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

''सत् है'' करके न भासे तो जानो सत्ता मात्र से छुट्टि या मुक्ति मिल गई। है तो सब ज्ञान का, चेतन का ही फैलाव, परन्तु जब जगत् भासने लगा, तो ज्ञान रूप ब्रह्म ढक गया! जब ब्रह्म ही ब्रह्म, ज्ञान विज्ञान, चेतन स्वरूप से ही दीखने लगा, तो जगत् की सत्ता उड़ गई ! जब कोई दूसरा रहा ही नहीं, तो ही सत्त्व से छुटकारा मिला! यही परम विमुक्ति है ! अब सत्त्व कुछ करने कराने के लिए संसार में जन्म नहीं लेगा! जब संसार में मुमुक्षु ने अपनी सत्ता (सत्त्व) किसी निमित्त के लिए भी न रखनी चाही तो ऐसी अवस्था में उस मुमुक्षु का मन पूर्ण रीति से जगत् में बुझ गया ही माना जायेगा ! न विषय भोगों के लिए, न किसी से बदला चुकाने के लिए, न मान के लिए, न अधिकार, व अन्य किसी निमित्त के लिए ही वह जगत् में होना चाहे तो समझो उसका सत्त्व संसार से मुक्त हो गया। पुनः ऊपर कहे अनुसार, इन्द्रियों के विषय ग्रहण करने वाला रूप से भी वह नहीं रहना चाहेगा! मन द्वारा भी कुछ समझने योग्य लोकों में नहीं रमेगा ! वह तो कभी भी नष्ट न होने वाले केवल उस ज्ञान विज्ञान स्वरूप, सर्वात्मा स्वरूप में ही अपनी सब कुछ जगत् में होने वाली तृष्णा को हवन कर देगा। तब वह ही वह जैसा है व नहीं! परन्तु उसका विनाश तो नहीं, बस उस का प्रकट प्रकाश स्वरूप उस निर्वाण प्राप्त व्यक्ति को मिल गया। परम पद पा लिया। उसमें कोई दुःख न रहने के कारण, उस दुःख से छूटने के लिए सत्ता, कोई भी, अब न लेनी पड़ेगी।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

यही परम विमुक्ति है।

इस परम पद के लिए परम आवश्यक है बिना प्रमाद के धर्म के मार्ग पर दृढ़ता पूर्वक चलते रहना !

प्रमाद क्या है ?

प्रमाद (Heedlessness/Non-vigilance)

प्रमाद नाम है एक प्रकार की शिथिलता (ढिलाई) का! थोड़े मन के हर्ष के कारण उत्तम मार्ग पर चलने से बढ़-चढ़ कर ग्लानि करना। ध्यान के समय थोड़े हर्ष के कारण आलस्यादि में समय खोना। परन्तु थोड़े दुःख के कारण आसन लगाने में ग्लानि मानना। छोटे मोटे सुख व हर्ष के कारण खाने, पीने, सोने, जागने व त्यागने योग्य के त्यागने में, प्राप्त करने योग्य के प्राप्त करने में विलम्ब करते जाना, यह सब प्रमाद के ही अन्तर्गत है। प्रमाद में और बहुत कल्याण विरोधी मिथ्या कर्म आ जाते हैं; जो केवल थोड़े सुख व हर्ष के कारण से किये जाते हैं। इन सब में होने वाला प्रमाद त्याग कर जन, धर्म मार्ग को प्रशस्त (चमकीला) बनाये।

शील (Noble and right conduct in all events)

बाहर संसार से व्यवहार भले ही खोटा मिले, परन्तु अपना वचन और व्यवहार भद्दा न होने पाये; इसी को शील कहते हैं। लोगों के साथ सही बर्ताव रखना चाहिए, जो कि दूसरों को कटु या दुःखदाई प्रतीत न हो। ऐसे गुण को धारण करने वाला व्यक्ति समाज में बहुत सफलता पूर्वक रहता है। ऐसे विनम्र व्यक्ति का कोई

卐卐

विरोध नहीं करता, बल्कि समाज में उसे यश अधिक मिलता है। धर्म मार्ग पर लगे हुए साधक के लिये शील रूप बल का धारण करना बहुत उपयोगी है।

दान (Spirit of renunciation/Self sacrifice/Charity)

देश, काल और पात्र देख कर धन, अन्न, वस्त्र, स्वर्ण, भूमि, औषधि आदि वस्तुओं का दान देना तो ठीक ही है; परन्तु यह दान देते समय अपने ''मैं-भाव'' अथवा ''अहं-भाव'' को मन में न आने दे अर्थात् किसी प्रकार का भी मन में ''मैं-भाव'' नहीं आना चाहिए। यदि कोई जन अपने ''मैं-पने'' को किसी भी धर्म क्रिया में न आने दे, तो समझना चाहिए कि उस व्यक्ति ने ''मैं-भाव'' का उत्तम दान कर दिया है। कोई भी क्रिया करते समय या वचन बोलते समय अपने ''मैं अर्थात् अहंकार'' भाव को न प्रकट होने दे बल्कि सब ईश-प्रेरणा से ही हो रहा है ऐसा ही भाव रखे, ''मैं'' करने कराने वाला न बने। ऐसा करने से और भी अच्छे-अच्छे गुण उस मनुष्य में प्रवेश कर जाएंगे। जो ''मैं'' का बलिदान कर देता है, भगवान् की दृष्टि में वह बहुत प्रिय समझा जाता है।

卐卐

卐 लोक चर्चा 卐

(Explanation of the worlds beyond this life)

लोकों के विषय में इस प्रकार से भी समझा जा सकता है; कि जैसे गत लेख में सूचित किया कि जहाँ तक संसार में परस्पर के काम इच्छादि में मन बंधा हुआ है तहाँ तक काम का ही वृत्त (दायरा) है। यही काम लोक या भू-लोक है।

यहाँ इसके विषयों में तुच्छता प्रतीत करके मन वैराग्य प्राप्त करके पवित्रता के साथ रहता है और अपनी इच्छा को काया या शरीर को धारण करने तक ही सीमित रखता है, तो वह काम लोक से निकल कर अपने उद्योग से इन्द्रियों के क्षेत्र में ही विचरता है। यही इन्द्रियाँ अपने अपने विषय को ग्रहण करती हैं। परन्तु देह सम्बन्धी कोई काम नहीं रहा। केवल इन्द्रियों द्वारा जगत् को समझते हुए पवित्र भाव से इसमें विचरना और विषय त्यागने के क्लेश को भी सहन करते हुए पवित्र बने रहना स्वर्ग लोक में ऐसे ही मनुष्य अपने तप और पवित्रता से पहुँचते हैं। यहाँ धरती पर भी वे स्वर्ग में जैसे ही विचरते हैं। केवल देह के धारण निमित्त ही कर्म करते हैं; जोकि मृत्यु उपरान्त वे भी न रहने पर उन्हें वहाँ देह के दुःख से छुटकारा मिलने पर अधिक सुख की प्राप्ति होती है।

यदि ऐसे तप और पवित्रता के साथ-साथ दूसरों के देहों में भी वे एक ही ज्ञान देव रूप (चेतन) भगवान् की भावना रखते हैं और उसको सब में समान रूप से देखते

हैं और उसके प्रति दास, सखादि के समान भाव रख कर किसी से भी विक्षुब्ध, विक्षप्त न होकर दुःख देने वाले में भी उसी परमेश्वर को ही समझते हैं; उसी का सत्त्व अनुभव करते हैं और लोगों के देहों में उसे विविध प्रकार से भाव के अनुसार प्रकट अनुभव करते हुए उससे क्रीड़ा आदि का भाव रखते हैं; और एकान्त में उस के रूप ज्योतिमय कृष्णादि नामों से ग्रन्थों में सुने हुए को सदा निकट से अनुभव करते हैं और व्यर्थ की विषयों के उलझन और राग द्वेष से परे रहते हैं; तो वे अपने भाव के अनुसार गोलोक में उत्पन्न होते हैं। यहाँ धरती पर भी वे वैसा ही अनुभव करते हैं कि जैसे वे अपने भगवान् से खेलते हैं ! वे स्त्री पुरुष सब में विचरते हुए गोलोक वासी अपने आप को अनुभव करते हैं और वे काम लोक की उलझन में नहीं उलझते। गो नाम है इन्द्रियों का, और लोक नाम है उन के क्षेत्र व वृत्त का। अर्थात् वे अपने सब में बसे वासुदेव के साथ गोलोक में विहार करते हैं, हंसते हैं, गाते हैं, नाचते हैं परन्तु सब के अन्दर कई एक भावों में बसे वासुदेव को ही देखते हैं। कहीं सखी भाव से कहीं मित्रादि भावों में यह भगवान् के साथ ही अपने आपको क्रीड़ा या लीलारत अनुभव करके अपनी समझ में मस्त रहते हैं। यह सब गोलोक का वृत्तान्त है। परन्तु जो गम्भीर ज्ञान के धनी और भाव भी सबके प्रति समानता का ही रखते हैं, दूसरों के सुख में सुखी; दूसरों के दुःख में दयावान, सब के गुणों में प्रशंसा भाव और पाप अवगुण, दुर्गुणों को मन में ही न लाना रूप उपेक्षा के

साथ रहते हैं और सब के सुख में सुखी और सब के दुःख में दयावान और सबके पुण्य कर्मों में प्रशंसा और पाप चाहे किसी का भी हो तो उपेक्षा भाव रखते हैं। ऐसा तो सब प्रजा को उत्पन्न करने वाला ब्रह्मा ही कर सकता है। इसी प्रकार ब्रह्मा के समान ही वे भी इन्हीं व्यापक भावना के कारण ब्रह्म लोक में ही वास करते हैं और अपने ध्यानों में अनन्त ब्रह्माण्ड के सुख समृद्धि का सुख अनुभव करते हैं। यही ब्रह्म लोक पीछे अरूप लोकों से वर्णन किया गया है।

ऊपर कहे लोक वासी जनों से पुनः और भी अधिक वैराग्यवान, जन, भावना के धनी और ध्यान में प्रीति रखने वाले, इन्द्रियों के लोकों में न रमन करते हुए ध्यान में परमेश्वर की भावना करते हुए भी उसको ज्ञान रूप से उसका साक्षात्कार करते हैं। अपनी एक देह में कामों को त्याग कर काम के कारण से बनने वाली 'मैं', 'मेरी' के जाल से निकलकर सब देहों में केवल एक ही चेतन या ज्ञान विज्ञान रूपी व्यापक परमात्मा अपनी क्रिया शक्ति, रूप माया द्वारा सब में जगत् रूप से लीला करता हुआ अनुभव करते हैं। वही ईश्वर बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक भिन्न-भिन्न प्रकार से एक दूसरे के समक्ष; सामने पड़ने पर समझता हुआ अपनी क्रिया शक्ति माया द्वारा विचित्र खेल खेलता हुआ अनुभव करते हैं; और एक के सामने दूसरा व्यक्ति आने पर जैसा कुछ व्यक्त होता है, क्षण भर की झांकी में व उसके पीछे रहने वाली माया द्वारा किसी को प्रसन्न करता है, कहीं झगड़े में डाल

जाता है। पुण्य पाप आदि भी सब यही माया द्वारा करवा जाता है। भक्तों के हेतु अपना ज्ञान दान करता हुआ जग जाल से मुक्त भी कर जाता है। यह सब उसकी ही लीला है। किस क्षण में, वह किस देह में क्या कुछ प्रतीत करके, अग्नि जैसी ज्वलित (जलाता) करता है, कि जल जैसी शीतलता देता है। यही प्रभु अपना सत्त्व रूप से सर्व व्यापक है, ऐसे वे ज्ञानी अनुभव करते हुए विष्णुलोक वासी होते हैं।

सब देहों में व्यक्त प्रभु की लीला को देखने वाले जैसे विष्णुलोक वासी होते हैं, ऐसे ही सब देहों में व्यक्त भाव तो क्षणों तक का ही सीमित है। इसके पश्चात् तो शान्त अव्यक्त ही रहता है। जब तक बोला, सुना, देखा इत्यादि कुछ भी हुआ तब तक व्यक्त, जब यह सब शान्त हुआ तो बीच-बीच अव्यक्त ही अन्त में स्थित रहेगा। निद्रा में तो उसका प्रगाढ़ राज है ही। इस प्रकार अव्यक्त की शान्ति को ही सब में देखने वाले तमोगुण के प्रभु शिवलोक के वासी होते हैं। वे भक्त सदा ज्ञान विज्ञान स्वरूप एक ही चेतन के उस अव्यक्त स्वरूप में ही ध्यान द्वारा, और स्मृति द्वारा अपना मन लगाते हैं। उसके व्यक्त भाव की लीलाओं का ध्यान नहीं करते। उसे माया का चलता फिरता खेल समझ कर उपेक्षित कर देते हैं। ऐसा ध्यान समाधि में रत उत्तम ज्ञानी भक्त शिवलोक की शान्ति पाते हैं।

यह सब गोलोक से पीछे कहे जाने वाले लोक अरूप लोक ही हैं। उनको अरूप लोक कह के ही निरूपण

किया गया।

इन सब लोकों से मुक्त केवल वे ही उद्योगी मुमुक्षु आगे बढ़कर सत्त्व (हस्ती) मात्र का ही त्याग कर देते हैं। जैसे पीछे वर्णित भक्त जन चेतन को कुछ 'है' करके उपासना ही करते थे। सर्व रूप से वही है या शिवलोक वासी शान्त रूप से वही है करके मानते थे। परन्तु मुक्ति में चेतन क्या है करके समझना, मानना नहीं होता। परन्तु जैसा भी फिर है, वैसा ही रहे। समझने जानने वाला की भी 'मैं' उत्पन्न नहीं होने देना है। केवल शुद्धि का मार्ग चलते-चलते सब बन्धनों को क्षीण करना है। तत्पश्चात् बन्धन न रहने पर बाहर का मन शान्त शून्य अवस्था में ही शान्त रूप से न जाने कहाँ चला जाएगा? उसकी चिन्ता की आवश्यकता ही नहीं। केवल काम, राग, द्वेष मानादि की अग्नि का दुःख देखते-देखते साक्षी भाव से धैर्य द्वारा शान्त करता है। यह दुःख बाहर जगत् में उत्पन्न करने के लिए उछलेगा, इसके उछाल को, इसके दुःख को देखते-देखते; टल जाने पर दुःख शान्ति के सुख में स्थिरता या टिकाव नित्य ही मिलेगा। जब मन बाहर की सारी तृष्णा के दुःख को सह गया, तो दुःख तो टलेगा ही, एक जैसा सदा तो कुछ रहता नहीं। परिवर्तन होते-होते दुःख के टलने पर शान्त सुख रूप विज्ञान भी शून्य में भासित होगा। यही अनन्त मुक्ति की शान्ति है, निर्वाण पद है।

इस ऊपर कहे का तात्पर्य यह है कि दुःखों के अनुभव या ज्ञान में आने पर उन दुःखों द्वारा कहीं संसार

में कुछ भी होने या बनने के लिए नहीं तैयार हुआ; तो वह दुःख अपने आप में ही क्षण-क्षण अपने आप में ही टालता हुआ अत्यन्त ही टल जाएगा और टलने पर नित्य सदा बने रहने वाला आत्मा का सुख प्रकट हो जाएगा। जिस को पाकर कुछ भी पुनः पाने को नहीं सूझेगा।

बाहर जन्मने का निमित्त न रहने से नित्य परम पद है। एक न संज्ञा न असंज्ञा नाम का भी अरूपलोक पीछे कथन किया गया है। जो न जाग्रत, न स्वप्न और न सुषुप्ति इन अवस्थाओं से परे सम अवस्था में स्थित हुआ-हुआ अन्तःकरण अनुभव करता है अर्थात् न जाग्रत अवस्था और न निद्रा की अवस्था, तो मध्य में सम-अवस्था का अनुभव भी आनन्दपूर्ण बैकुण्ठधाम का स्थान है। यहाँ की शान्ति कभी भी कुण्ठित (खुण्डी) नहीं होती। परन्तु यदि यह सब प्रकार के तृष्णा के दुःख को परिहृत किये (टाले) बिना केवल योग की ही एक अवस्था रूप से प्राप्त की गई तो यह निर्विकल्पक अवस्था भी मुक्ति रूप नहीं है। केवल संज्ञा का नाम चेत (होश) की अवस्था उससे भिन्न और वैसे ही असंज्ञा नाम अचेत (यहाँ ज्ञान नहीं रहता) उस अवस्था से भी भिन्न कोई जीव की अवस्था का ही लोक है। हाँ ! यदि सुख और उसकी तृष्णा को टालकर, उसके टालने के दुःख के जीवन को देख लिया और दुःख के टलने पर शून्य में भी मन की शान्त अवस्था रूप निर्विकल्प समाधि का लाभ प्राप्त हुआ; तो ही सब अवस्थाओं से अतीत शान्त पद निर्वाण की प्राप्ति

समझी जाएगी। जैसे कि पीछे महात्मा और भक्त के निमन्त्रण के दृष्टान्त में सूचित किया गया है।

तृष्णा भड़की हुई हो, और मन बाहर का सहारा चाहे, सहारा दिया न जाए, तो दुःख होगा। इस दुःख को साक्षी रह कर देखते-देखते जो कोई टाल सकेगा; उसको दुःख टलते ही शून्य में ही शान्ति अनुभव होगी। ऐसे सारी तृष्णा के दुःख को टाले, तो पूर्ण निर्वाण प्राप्त होगा। इसके पश्चात् कुछ करने को शेष नहीं रहेगा।

卐卐

卐 प्राणापान स्मृति 卐

(Mindful Respiration/Mindful Breathing)

प्राणापान स्मृति का अर्थ है कि प्राण और अपान की स्मृति अर्थात् श्वास और प्रश्वास कर्म को स्मृति से (याद रख कर) करना। जो श्वास अन्दर से बाहर जाता है उसे 'प्राण' कहते हैं; और जब बाहर से अन्दर लिया जाता है, तो यह अपान के नाम से ग्रन्थों में कहा गया है। साधारण जन के देह में श्वास बिना समझे, बूझे भी चलता रहता है। जैसे निद्रा में भी श्वास तो चलता ही रहता है। ऐसे मनुष्य का मन तो सांसारिक उलझन में पड़ा हुआ अपने धन्धों में ही भूला रहता है और कार्य में व्यस्त (लगा हुआ) रहता है। उसका श्वास चलने की खबर या पता भी नहीं पड़ता। हाँ ! तेज गति से चलने पर, या रोग की अवस्था में जब कठिनता व तेजी से श्वास चलता है, तो भले इसकी खबर पड़े, नहीं तो अन्दर बैठा ज्ञान देव ही देह के कार्य को चलाने के लिए श्वास, प्रश्वास की क्रिया को सब जीवों में समान रूप से करता रहता है। यह तो जीवन यात्रा ऱखने के लिये ही पर्याप्त (काफी) है। परन्तु साधना करने वाले उद्योगी मुमुक्षु (मोक्ष चाहने वाले) को तो इसे भोजन के उपरान्त, अपने रिक्त (खाली) समय में, अवकाश मिलने पर समझ रखते हुए, स्मृति के साथ ही करना चाहिए। इससे प्राण और अपान को सम करने से हित सुख रूप फल भी मिलेगा। जब प्राण और अपान सम होते हैं तभी देह में सुख होता है। श्वास (सांस)

खींचा तो लम्बा, अन्दर घुटा रहा, चिन्ता, संशय आदि में बंधा मन अपने स्वार्थ में बन्धा, सोचों में डूबा हुआ, छोड़ने का भी अवकाश नहीं पाता। घुटा, रुका श्वास दुःख देता है, और देह को रोगी बनाकर अहित भी करता है। इसी प्रकार चिन्ता आदि में, स्वार्थ, शंका (संशय) भय से भी खींचा श्वास तो अल्प (थोड़ा) परन्तु सोच में पड़ा-पड़ा प्राणी लम्बे समय तक छोड़ता गया तो भी अंगों को कष्ट (तकलीफ) होता है, और देह की स्वस्थता का बिगड़ना रूप अहित होता है। श्वास बिना देह के अंग उपांग पूर्ण रीति से कार्य करने की शक्ति नहीं पा सकते। रक्त संचार उन में सुचारु (भली प्रकार से) रीति से नहीं होता। खाना खाए हुए का रस आदि भी भली प्रकार देह में नहीं पहुँचता। क्योंकि यह सब कार्य करने वाली शक्ति तो प्राण ही है और दूसरी अपान। यह ठीक ढंग से होती नहीं। क्योंकि मन नाना प्रकार से सुख-दुःख के चक्करों में पड़ा हुआ; न जाने किस-किस दृश्य (दृष्टि बन्धन) को मन में बसा लेता है, और पुनः संशय, व करने कराने के विचारों में बुरी तरह (प्रकार) उलझा रहता है और श्वास प्रश्वास क्रिया भली प्रकार से करने के लिए भी अवकाश नहीं पाता। इसी प्रकार राग, द्वेष, मान, मोह आदि बन्धनों में बंधा न जाने कहाँ-कहाँ की सोचों में उलझा हुआ खोया रहता है और श्वास तो अन्दर छिप कर बैठे ज्ञान देव ही केवल जीवन को रखने के लिए चलाते हैं। परन्तु ऐसा बन्धा हुआ श्वास का संचार भी एक पाप कर्म ही है। जिस का दण्ड व्याधि, शोक आदि के रूप में

卐卐

मनुष्य को मिलता है। इस सत्य को किस प्रकार चिन्ता, संशय, भयादि में श्वास रुक-रुक या घुट-घुट कर कष्ट पूर्वक चलता है, इसे स्वयं साधक परीक्षा में भी लाकर देखे। उसे स्वयं इसकी खबर पड़ेगी और पता चलेगा। जब कभी चिन्ता आदि में, व मिथ्या इच्छाओं में बन्धा हो, तो अकस्मात् (अचानक) परीक्षा करके देखे कि श्वास कैसे चल रहा है, तो उसे पता पड़ेगा कि यह हितकारक और सुखी ढंग से नहीं प्रवाहित होता, कहीं चींटी जितना थोड़ा और कहीं दुःख शोक का अतीव लम्बा, इस प्रकार अंगों को तोड़ता फोड़ता हुआ चलता है। इससे पुनः खाये पीये का पाचन व रक्त संचार भली भांति नहीं हो पा सकता, तो प्राणापान क्रिया द्वारा इसी दोष को दूर करने का उपाय करना है कि जिस से सब देह के अंग उपांग पूर्ण रूप से श्वास को या प्राण की शक्ति को पायें और देह का कार्य ठीक प्रकार से सम्पन्न करें। परन्तु यह तब होगा जब मन भी स्वस्थ हो। मन की स्वस्थता का तात्पर्य है कि मन बन्धनों में न बन्धा हो, और श्वास प्रश्वास कर्म को करे। बन्धा यह मन तब ही नहीं होगा जब कि सुख-दुःख द्वारा रची दृष्टि, संशय, काम, क्रोध आदि से रहित हो और सुख सम्बन्धी चिन्तन और वैसे ही दुःख सम्बन्धी चिन्तन से भी रहित हो, और कहीं सुख दुःख के बारे में और हो चुके या आगे होने वाले के विचारों में खोया हुआ न रहे। यहाँ तक कि कोई बन्धन में भी न हो और तो और सुख होने पर और दुःख पाने पर भी बिना अवधान (बिना ख्याल या तवज्जों दिये) दिए श्वास

प्रश्वास कर्म में लगा रहे। इससे सब अंग समान रीति से प्राणी की शक्ति को पाकर तन को स्वस्थ और मन को सुखी बनाएंगे। इस क्रिया का व्यवस्थित रूप से करने का ढंग इस प्रकार से है कि :-

प्रथम पद्म आसन पर बैठकर सिर, गर्दन और रीढ़ की हड्डी और तन सीधा रखकर निश्चल भाव से श्वास को समझता-समझता अन्दर ले। यदि प्रथम पद्मासन में अधिक कष्ट प्रतीत करे तो स्वस्तिकासन (जिस आसन पर सुख में बैठ सकता है) पर बैठ कर ही, परन्तु सब अंगों को ऊपर कहे के अनुसार सीधा रख कर ही बैठे। यदि जोड़ों में, घुटनों में पीड़ा या दर्द का दुःख है, तो कुर्सी पर भी टांगे नीचे लटका कर, परन्तु शरीर सीधा करके बैठ सकता है, परन्तु पद्मासन पर बैठने का समय-समय पर उद्योग बनाये रखे और कुर्सी पर बैठने वाला सन्मुख कोई मेज (टेबल) जैसा सहारा भी रखे, जिससे निद्रा के वेग करने पर नीचे गिरने से बच सके। अन्य स्वस्थ मनुष्य को भी बहुत ऊँचे आसन पर बैठकर इस क्रिया को करना ठीक नहीं है क्योंकि निद्रा के झोक से नीचे गिरने का भय (खतरा) है।

इस प्रकार आसन पर बैठकर प्रत्येक श्वास जब अन्दर आये, तो उस समय उसकी अन्दर आने की खबर रहे। जितना समय अन्दर आने में लगे या जितना समय तक अन्दर खिंचता रहे, साधक को पता पड़ता रहे कि श्वास अन्दर आ रहा है। जब बाहर छूटे, तो भी छूटते की खबर रहे। जब तक छूटता रहे, तब तक की खबर रहे

कोई क्षण भी पता पड़ने से छूटे नहीं। जब श्वास की खबर नहीं पड़ेगी, तो समझो कि मन अनुपस्थित (गैर हाजिर) हो गया और वह कहीं उलझने के लिये सरक गया। झटपट पुनः मन को चेता कर, स्मरण करके, श्वास प्रश्वास क्रिया में ही लग जाये। इसी के आने जाने की खबर रहे। स्वयं आप समझता हुआ श्वास ले, समझता हुआ छोड़े। समझ को क्षण भर भी चूकने का अवसर न दे। यही शक्ति द्वारा मन को रोकने का अचूक साधन है। इसी प्रकार इच्छा से श्वास को न तो लम्बा खींचने का यत्न करे, न छोटा ही, और न रोके ही। जैसा श्वास आना व जाना चाहे वैसा ही ले। अपने आप श्वास लम्बा, छोटा कैसा भी आये व जाये, परन्तु मनुष्य अपने यत्न से उसे विक्षिप्त न करे। परन्तु इतना अवश्य होना चाहिये कि लेने और छोड़ने को स्मृति पूर्वक (याद को रखकर) करे। करने में भूले नहीं अर्थात् श्वास स्मृति या याद के साथ लिया जाए और याद रखते-रखते या उसका पता पड़ते-पड़ते ही छोड़ा जाये। आलस्य, निद्रा का सुख देखने में न पड़ जाये। याद या स्मृति लेने व छोड़ने की अक्षुण्ण (बिना टूटे) बनी रहे।

अब शनैः-शनैः मन को श्वास प्रश्वास कर्म करते हुए देह में उतारे। देह के एक-एक अन्दर के अंगों को स्मरण करता हुआ श्वास ले और छोड़े। जैसे अन्न से भरे पेट को प्रतीत (महसूस) करे और श्वास ले और पुनः भरा पेट प्रतीत करते-करते श्वास को छोड़ दे। इसी प्रकार पेट को प्रतीत करते हुए उसी में मन को जागता रख कर

कुछ एक समय के विभाग को देखता हुआ, श्वास ले और छोड़े इसी प्रकार क्रम से (एक के बाद दूसरा) जिगर, तिल्ली, बड़ी आंत, छोटी आंत, गुर्दे, मूत्राशय, फुसफुस (फेफड़े), हृदय (दिल) और मस्तक में मस्तिष्क (दिमाग) आदि सब को प्रतीत करता या स्मरण करता हुआ ही श्वासों को ले और छोड़े। ऐसे इस काम में उलझे रहे कि उसे संसार की या सांसारिक धन्धों की कोई खबर तक भी न रहे। तब वह देह को पूर्ण शक्ति देने के कार्य में लगा रहेगा। सारे देह के अन्य भागों को भी स्मृति या याद में रखता हुआ श्वास प्रश्वास कर्म को करता रहे। प्रत्येक देह के पेट या कोई भी अंग को स्मरण करता हुआ दो या तीन या कम ज्यादा जैसे कुछ समय हो याद रखता हुआ श्वास लेना और छोड़ना करता रहे। इस प्रकार बैठने के आधा समय तक देह के अन्दर ही स्मृति या ध्यान को रख कर श्वास लेने और छोड़ने के कर्म को करता रहे। इसका तात्पर्य यह है कि जितना समय कोई व्यक्ति इस क्रिया के करने में लगा सकता है या जितना समय दे सकता है, उस सारे समय का लगभग आधा समय देह के अंगों को या उप-अंगों को याद में रखता हुआ ही श्वास ले और छोड़े।

यहाँ यह बात स्मरण रखने की है कि अंगों का स्मरण (याद) करने में श्वास क्रिया में विलम्ब न होने दिया जाये; अर्थात् इतना अंगों के ध्यान या याद में भी न जुड़ा रहे कि श्वास भी लेने में विलम्ब (देर) होने लगे।

अब यदि आसन पर बैठने का आधा समय व्यतीत हो चुका, तो अब देह को भूलना आरम्भ करे। अर्थात् देह की याद न रखता हुआ केवल श्वास को ले और छोड़े। परन्तु श्वास को समझता-समझता ही ले और छोड़े। परन्तु देह की या देह के अंगों की स्मृति न रख कर देह को भूलने दे, मन से उतरने दे। इस प्रकार श्वास लेते और छोड़ते हुए कुछ समय व्यतीत होने पर मन स्फुरित (फुरने को) होने लगेगा। कहीं बच्चे की याद से बच्चे की दृष्टि बनने लगेगी, कहीं किसी दूसरे तीसरे की। मन उसमें उलझ सकता है। उलझने पर श्वास तो पुनः या तो रुक-रुक कर चलेगा या पुनः भूल में ही प्रवाहित होगा। आप ऐसे अवसर पर स्वयं सावधान होकर अपने कर्म की याद करके कि "मैं समझ पूर्वक श्वास लेने और छोड़ने के कर्म को करने के लिये बैठा था, और कुछ सोचने समझने के लिये नहीं।" अब इन सब सांसारिक चिन्ताओं का समय नहीं है। झटपट श्वास प्रश्वास को समझते हुए करे और बच्चे आदि को भूल जाये। यदि श्वास में, लेने छोड़ने में समझ जाग गई तो बच्चा आदि सब स्वयं ही भूल जायेंगे। यदि बच्चे में समझ या मन उलझा रहा, उसी की याद में रहा, तो श्वास भूल में चलेगा अर्थात् श्वास की खबर नहीं रहेगी। क्योंकि मन एक काम एक समय में कर सकता है। आप श्वास का भूलना, बिछुड़ना न सहे और सब को इस अवसर पर तिलाञ्जलि देते जायें। खाली मन नहीं रह सकता।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

श्वास प्रश्वास में समझ पूर्वक लगा रहा, तो और कुछ भी यह अपने में नहीं आने देगा। इसी प्रकार जैसे बच्चे की दृष्टि श्वास में, लेने छोड़ने में स्मृति रखकर, छोड़ी, इसी प्रकार संशय, इच्छा (काम), क्रोध, आलस्यादि जो भी मन पर सवार होकर आपके श्वास प्रश्वास की क्रिया को बिगाड़ने वाला विकार आये, उस सब को श्वास के साथ जुड़े रह कर टालने का अभ्यास करते जाओ। इस प्रकार श्वास शुद्ध चलने का अभ्यासी (आदी) हो जायेगा। इसके पश्चात् जब सुख की वस्तु की याद मन में आये, तो ऐसे राग चित्त में भी मन उलझ जाता है। सुख की वस्तु को याद रखता हुआ श्वास लेना छोड़ना भूल जायेगा। झटपट, स्वयं होश में आकर याद को ठिकाने करके श्वास लेने और छोड़ने में ऐसे विलीन रहे कि सुख की वस्तु मन में अपने आप भूल जाये। इसी प्रकार दुःख की वस्तु भी द्वेष भाव से मन में हटाने के लिए बसी हुई, हटाने के विचार से मनुष्य के चित्त को उलझाये रखती है। वैसी अवस्था में ऊपर कही नीति अपनाये। अर्थात् श्वास प्रश्वास में मन को प्रीति से लगाते-लगाते उस द्वेष चित्त को भी विदा कर दे। इसी प्रकार मोह चित्त में भी मनुष्य खो जाता है। शोक आदि में खोया हुआ बन जाता है। ऐसे मोह चित्त की अवस्था में भी प्राण का सहारा न त्यागे और श्वास प्रश्वास के कर्म को करता हुआ मोह के कीचड़ से भी निकल कर श्वास ले। इसी प्रकार कोई भी मन को उलझाने वाली वस्तु या

भाव मन में आने पर श्वास प्रश्वास क्रिया बिगड़ने लगेगी। यदि आप इसे बिगड़ने न दें, तो वह मिथ्या सब भाव और बन्धन विकार अपने आप ही टलते जायेंगे। इस का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक श्वास समझ से लेना और समझ पड़ते-पड़ते ही छोड़ना; यदि इस प्रकार केवल सांस लेने और छोड़ने में एकाग्रता से लगे रहे, तो जितने भी राग, द्वेष, मोह आदि आदि बन्धन या विकार हैं उन को मन में प्रकट होने का अवसर ही नहीं मिलेगा। इसी प्रकार सुख प्रतीत होने पर मन यदि सुख लेने लग गया, तो श्वास खोया जायेगा अर्थात् श्वास लेने और छोड़ने का पता भी नहीं लगेगा। यदि श्वास स्मृति से चलाया जा सका तो सुख भी भूल जायेगा और श्वास सुख से चलेगा। ऐसे ही दुःख का भी समझना। यदि दुःख में चिन्तित हो गये, तो श्वास लुट गया और यदि श्वास लेने छोड़ने की स्मृति बनी रही, तो दुःख भी भूल जायेगा। इस प्रकार जैसे तैसे भी इस अभ्यास में मनुष्य जितना समय दे सके, दे। एक घण्टे से लेकर तीन या इससे भी अधिक तो हानि के बजाय लाभ ही अधिक होगा। शक्ति अनुसार अभ्यास बढ़ाता जाये। पीछे तो जितना भी समय देह का कर्त्तव्य करने के पश्चात् शेष रहे, उस समय को भी अभ्यास करने में ही सफल बनाए। खाली रहने से तो मन मिथ्या व्यायाम ही करेगा। हाँ ! यदि अन्न जीर्ण (पच) हो गया है, शरीर हल्का हो गया है तो पुनः इससे अच्छा है कि समय होने पर मनुष्य ध्यान

में बैठ जाये। बस ! मन को ज्ञान पूर्वक बन्धनों से हटाना है, जो कि परम आवश्यक है। ज्ञान पूर्वक यदि मन बन्धनों को टाल गया तो पुनः वह दूसरे अवसरों पर भी शुद्ध ही श्वास लेगा। जब कोई स्वार्थ दिखा कर मन बुद्धि को उलझन में डालता है, तभी बन्धन दृढ़ हैं। यदि स्वार्थ की तुच्छता समझ कर बन्धन झड़ जायें, तो यह मुक्ति सहज स्वाभाविक है। प्राणापान क्रिया से तो बलपूर्वक मन को बन्धनों से छुड़ाना है। श्वास का सहारा लेकर, या श्वास की शक्ति का सहारा लेकर। परन्तु जब ज्ञानपूर्वक समझ से बन्धनों वाला मन उनसे मुख फेर ले, तो भले श्वास भी भूल में चले व न ही चलता प्रतीत हो, तो इसकी कोई चिन्ता नहीं। परन्तु खाने के ५, ६ घण्टे बाद तक जब तक खाना जीर्ण (पच, हजम) नहीं हुआ, तब तक ध्यान में श्वास को भूल कर कभी न बैठे। वह हितकर नहीं है। हाँ, प्राणापान स्मृति में भले खाना खाकर तुरन्त भी बैठ जाये या भले कुछ आराम करने के पश्चात् भी बैठ जाये। इसमें अपनी युक्ति युक्त सुविधा देखे।

यही प्राणापान स्मृति का विस्तार से उल्लेख किया गया। इस प्रकार इसे साधक करने के ढंग से समझ कर करने में बिना शंका के व बिना किसी भय के लग सकता है। यदि शंका हो भी तो उसकी चिन्ता (परवा) न करता हुआ जैसा कुछ इस लेख के पढ़ने से समझा है, वैसा ही प्रारम्भ अवश्य कर दे या पुनः किसी करते हुए व्यक्ति के संग से कुछ करने के योग्य शंका समाधान कर ले।

समय के अनुसार लगे हुए को अपने बिना भ्रान्ति के यह क्रिया करने योग्य ढंग से समझ में आ जायेगी। एकान्त में अपने आप में रहने के लिये यह क्रिया एक वरदान स्वरूप है। परन्तु इस लेख को बार-बार सावधानी से पढ़ता रहे। इससे सब कुछ करने योग्य समझ में पड़ जायेगा।

हरि ॐ तत्-सत्

卐卐卐

卐 आरती श्री सत्गुरू प्यारे जी की 卐

आरती सत्गुरू प्यारे की, कि जग के तारण हारे की

गगन से फूल बहुत बरसे,
देवता दर्शन को तरसें।
केसर का तिलक, चाँद सी झलक,
छवि है मेरे सत्गुरू प्यारे की।
कि जग के तारण हारे की। आरती....

प्रीत मेरे मन में बसे ऐसी,
कि मिश्री बीच मिठत जैसी।
दया जब होय, पाप सब धोय,
लाज रखो दास विचारे की।
कि जग के तारण हारे की। आरती....

प्रभु जी तुम ईशन के ईशा,
अनाथों के हो जगदीशा।
हम भूलनहार, तुम बखशन हार,
खड़े हैं तेरे द्वारे जी।
कि जग के तारण हारे की। आरती....

चद्दर पई कान्धे पर सोहे,
छवि पई मन मेरा मोहे।
चिप्पी है हाथ, तूँ मेरे नाथ,
जावां चरणां तो वारे जी।
कि जग के तारण हारे की। आरती....

हो भक्तों के तुम हितकारी,
कि वर्षा हो रही सी भारी।
सिंहासन छोड़, आ पहुँचे तोड़,
भीग गये वस्त्र सारे जी।

कि जग के तारण हारे की। आरती....

"......जिस आदि पुरुष ने यह धर्म या कल्याण के मार्ग को चलाया; साधारण मनुष्य की समझ में बैठाया, ऐसा पूर्ण प्रज्ञा (सत्य ज्ञान) वाला जो सर्वज्ञ भगवान् इस धरती पर कभी हुआ तो वे कैसे इन सब मेरी समस्याओं के साथ संसार में रहते होंगे ? ऐसी उनकी श्रद्धा रख कर उन पर विश्वास करके उन्हीं की जीवनचर्या (जीवन में चलने का प्रकार) पर श्रद्धा और प्रीति रखे और उन्हीं के पद चिन्हों का अनुसरण या अनुगमन (पीछे चलना) करे अर्थात् जैसे वे चले वैसे आप भी उन्हीं के धर्म के आदेशों (आज्ञाओं) के अनुसार चलने का यत्न करे। उनकी रीति को न छोड़े। जैसे उन्होंने सही समझा वैसे ही स्वयं भी चले। भले अभी वह सब अपनी समझ में लाभकारी जैसा न भी प्रतीत हो। कभी समय आने पर उनका सब सत्य हमें व्यापक सत्य के रूप में अनुभव में आ ही जायेगा। तब हमारा सब अज्ञान टल जायेगा। सत्य के मार्ग पर बने रहने की प्रेरणा भी सदा बनी रहेगी; उत्साह भी नहीं टूटेगा। दुःख सहन करने में आनाकानी भी नहीं होगी; इत्यादि-इत्यादि सब उस प्रभु का या उनके मार्ग पर चलने वाले सही उद्योग में लगे पुरुषों की जीवनचर्या को ध्यान विचार में खोजने से लाभ होगा।"

–आध्यात्मिक जीवन पद्यावली